VBSP-06540-T8717

संन्यास परम्परा में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का दार्शनिक अध्ययन
(वर्तमान युग के विशेष सन्दर्भ में)

वीर बहादुर सिंह पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर की
दर्शनशास्त्र विषय में पी-एच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
वर्ष- 2012

-: शोध निर्देशिका -:
डॉ. सविता भारद्वाज
रीडर- दर्शनशास्त्र विभाग
काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
ज्ञानपुर, भदोही (सन्त रविदास नगर)

-: शोधार्थी -:
दिनेश कुमार राय
इन्टरनेशनल ब्रह्मर्षि मिशन
सैक्टर-19-ए, चण्डीगढ़

काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
ज्ञानपुर, भदोही (सन्त रविदास नगर)

परमाराध्य गुरुदेव ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज के आशीर्वाद से
परम पूज्या दीदी ब्रह्मवादिनी स्वामी कृष्णकान्ता जी महाराज के चरणों में समर्पित

H.H. BRAHMRISHI VISHVATMA BAWRA JI MAHARAJ

मेरे जीवन के प्रेरणा स्रोत परम पूज्या स्वामी डॉ. मनीषा जी महाराज

पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर

शोध केन्द्र – काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
ज्ञानपुर, सन्त रविदास नगर, भदोही (उ० प्र०)

सन्दर्भ संख्या– **दिनांक .....**

प्रमाण पत्र

मैं प्रमाणित करती हूँ कि **दिनेश कुमार राय** ने काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही (सन्त रविदास नगर) से शोध विषय **"संन्यास परम्परा में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का दार्शनिक अध्ययन (वर्तमान युग के विशेष सन्दर्भ में)"** निर्धारित समय सीमा में सम्पन्न किया। यह शोध प्रबन्ध इनके शोध काल में किए गए विशिष्ट अध्ययन एवं अन्वेषण का परिणाम है। जहाँ तक मुझे ज्ञान है किसी अन्य उपाधि के लिए इसका उपयोग नहीं हुआ है।

6.11.12
प्रवक्ता
काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
ज्ञानपुर, सं०र०न०, भदोही

अग्रसारित

6.11.12

6.11.12
-: शोध निर्देशिका :-
डॉ. सविता भारद्वाज
रीडर दर्शनशास्त्र विभाग
काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
ज्ञानपुर, भदोही-Gyanpur, Bhadohi
Saint Ravidas Nagar

प्राचार्य काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
ज्ञानपुर, सन्त रविदास नगर, भदोही

आभार प्रकाश

आह्लाद की इस घड़ी में जिन महान विभूतियों के प्रेरणा, आशीर्वाद, सहयोग एवं महत्त्वपूर्ण सुझाव से शोध प्रबन्ध पूर्ण करने में मैं सक्षम हो सका हूँ, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना नैतिक कर्त्तव्य मानता हूँ। कर्त्तव्य एवं निष्ठा की भावना से अभिभूत होकर सर्वप्रथम अपनी शोध निर्देशिका एवं गुरु डॉ. सविता भारद्वाज, रीडर- दर्शनशास्त्र विभाग, काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर सन्त रविदास नगर, भदोही का विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस महत्त्वपूर्ण विषय पर शोध प्रबन्ध लिखने की प्रेरणा दी। मैं शोध प्रबन्ध की सफलता एवं सम्पूर्ति के लिए शोध निर्देशिका महोदया का अत्यन्त ऋणी हूँ जिनके उपयोगी सुझाव एवं मूल्यपरक समीक्षा द्वारा यह विषयवस्तु सुस्पष्ट और सुज्ञेय हो सका।

परमपूज्या गुरु दीदी ब्रह्मवादिनी स्वामी कृष्णकान्ता जी महाराज का अत्यन्त ऋणी हूँ, जिनके स्नेहमय संरक्षण में बैठकर यह शोध प्रबन्ध पूर्ण किया। पूज्या डॉ. स्वामी मनीषा जी महाराज द्वारा प्रदत्त शोध सुविधाएं अविस्मरणीय रहेंगी। अन्य ब्रह्मर्षि मिशन के विद्वान् संन्यासियों से मुझे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग एवं प्रेरणा प्राप्त हुई है उनमें है- स्वामी योगानन्द जी महाराज- ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर, स्वामी विश्व भारती जी महाराज- ब्रह्मर्षि मिशन (इंग्लैण्ड), स्वामी चैतन्य ज्योति जी महाराज- ब्रह्मर्षि मिशन (कनाडा), स्वामी भक्तिमणि जी- ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर, स्वामी डॉ. अमृता जी- ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर, स्वामी श्रेया भारती जी- ब्रह्मर्षि प्राकृतिक चिकित्सालय, यमुना नगर, डॉ. सुरेन्द्र कुमार शास्त्री, प्रवक्ता- संस्कृत, ब्रह्मर्षि योग ट्रेनिंग कॉलेज, चण्डीगढ़, डॉ. उपेन्द्र शर्मा, प्रवक्ता- साहित्य दर्शन, ब्रह्मर्षि योग ट्रेनिंग कॉलेज, चण्डीगढ़, डॉ. अरुण मित्तल- प्रवक्ता, दर्शनशास्त्र ब्रह्मर्षि योग ट्रेनिंग कॉलेज, चण्डीगढ़, डॉ. विक्रम विवेकी- रीडर संस्कृत विभाग, पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़ इन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। आप सभी ने सद्प्रेरणा प्रदान की है। आप सब की प्रेरणा मेरा सम्बल बना। ऐसे शुभ चिन्तकों के प्रति मैं अन्तःकरण से आभार व्यक्त करता हूँ।

परम पूज्य गुरुदेव ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज संस्थापक इन्टरनेशनल ब्रह्मर्षि मिशन, विराट् नगर, पिंजौर (हरियाणा) का परोक्ष आशीर्वाद सतत साथ रहा, जिससे सनातन तथ्यों के उद्घाटन का सुयोग मिला। धर्म में व्याप्त संन्यास परम्परा की वैदिकता सम्बन्धी विचारों में नवीन एवं मौलिक हैं।

इस अवसर पर मैं अपने मित्र स्वरूप भाईयों को कैसे विस्मृत कर सकता हूँ, जिन्होंने मुझे शोध कार्य के समय विभिन्न प्रकार का सहयोग प्रदान किया है। मैं अपने मित्र श्री महेन्द्र जी, योग शिक्षक- गवर्नमेंट कॉलेज, सैक्टर-23, चण्डीगढ़, श्री नन्दलाल राय जी, श्रीकान्त राय शास्त्री जी, रविकान्त राय जी, श्री ओम प्रकाश राय जी, श्री चन्द्रकान्त

राय जी, श्री आदित्य राय (प्रधान) जी, श्री मुकेश राय जी, श्री योगेश राय जी, श्री सर्वेश राय जी के प्रति सदा आभारी रहूँगा। मैं अपने विशिष्ट मित्र श्री संदीप शर्मा, श्री अनुराग अरोड़ा, श्री विवेकानन्द जी का भी विशेष आभारी हूँ।

आज मैं जो कुछ भी हूँ अपने स्नेहिल ब्रह्मर्षि मिशन परिवार के आशीर्वाद एवं वात्सल्य का फल हूँ। उनके ऋण से मैं जन्मजन्मान्तर तक उऋण नहीं हो सकूँगा। मैं अपने विदेश में रह रहे गुरु भाई श्री सूरज बालादीन (हॉलैण्ड), श्री गणेश खेदू (हॉलैण्ड), श्री चन्द्रिका प्रसाद बालादीन (हॉलैण्ड), अग्नि बालादीन (हॉलैण्ड), श्री विक्की जस्सल (हॉलैण्ड), श्री विजय रितू (मॉरीशस), श्री धर्मानन्द रामगती (मॉरीशस) का ऋणी हूँ जो मुझे समय-समय पर प्रेरणा प्रदान करते रहे हैं। मैं विशेष रूप से धन्यवाद करता हूँ ब्रह्मर्षि योग ट्रेनिंग कॉलेज के अध्यापक डॉ. श्री प्रमोद जोशी जी, डॉ. सविता कांसल जी, डॉ. संतोष जी, श्रीमती ज्योत्सना जी, श्रीमती सुमन जी, सुश्री निवेदिता जी, का भी विशेष आभारी हूँ। टंकण कार्य मेरे प्रिय भाई ब्रह्मचारी राम प्रताप एवं बहन श्रीमती सुनीता रानी जी ने किया है, जिनका मैं आभारी हूँ।

हृदय की गहराईयों से अपने भट्ट ब्राह्मण कुल के पूर्वजों एवं उनके वंशजों को कोटि-कोटि वन्दन करता हूँ। अपने पितामह साकेतवासी पं. श्री रामनरेश राय जी एवं पितामही ममता की मूर्ति, देवलोकवासी श्रीमती धनराजी देवी जी की सूक्ष्मतम उपस्थिति महसूस करता हुआ करुण हृदय से नमन करता हूँ। अपने देवस्वरूप बड़े पिता स्वर्गीय श्री अमरनाथ राय जी एवं बड़ी मैय्या प्रेम की साक्षात देवी, श्रीमती प्रेमा देवी जी को शत-शत प्रणाम करता हूँ। मैं जीवन के प्रथम गुरु एवं भगवान् स्वरूप, प्रातः स्मरणीय, अर्चनीय-वन्दनीय ब्रह्मलोकवासी पिता पं. श्री शिवनाथ राय एवं माता श्रीमती विद्या देवी जी को हृदय से नमन करता हूँ। अपने माता-पिता की एक विशेष प्रतिमूर्ति चाचा जी एवं चाची जी डॉ. उमाशंकर राय एवं श्रीमती सावित्री देवी जी को कैसे विस्मृत कर सकता हूँ जिन्होंने अपने मातृ-पितृ वत्सलता रूपी प्रेम जल से नित्यदिन इस वृक्ष को सिंचते आये हैं।

ऐसे शुभ अवसर पर पुनः मैं अपनी शोध निर्देशिका एवं श्रद्धेय गुरु डॉ. सविता भारद्वाज को नमन करता हूँ जिनके आशीर्वाद से यह दुर्लभ कार्य सम्पन्न हो सका, उनको मैं शत्-शत् नमन करता रहूँगा।

"त्वदीयं वस्तु गुरुदेव तुभ्यमेव समर्पये।"

दिनेश कुमार राय
दर्शन शास्त्र विभाग
काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
ज्ञानपुर, सन्त रविदास नगर, भदोही

विषय सूची

		पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन-		1-03
अध्याय-1	आश्रम व्यवस्था का स्वरूप एवं अवधारणा - (क) वर्गीकरण - - ब्रह्मचर्य - गृहस्थ - वानप्रस्थ - संन्यास (ख) कर्त्तव्य -	01-62
अध्याय-2	संन्यास की अवधारणा एवं स्वरूप-	63-97
अध्याय-3	संन्यास परम्परा में स्त्रियों की स्थिति - (क) वैदिक युग (ख) स्मृति युग (ग) आधुनिक युग (घ) उत्तर आधुनिक युग	98-166
अध्याय-4	वर्तमान युग के कतिपय मुख्य धर्म-संघ, साध्वियों की स्थिति, भूमिका, रहन-सहन, उपासना-पद्धति, कर्त्तव्य एवं अधिकार	167-224
अध्याय-5	सर्जनात्मक प्रतिभा -	225-243
अध्याय-6	वर्तमान युग में साध्वियों का सामाजिक अवदान : एक सर्वेक्षण	244-278
अध्याय-7	वर्तमान युग की चुनौतियाँ एवं समाधान -	279-298
अध्याय-8	उपसंहार -	299-307
	सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -	I-VIII

प्राक्कथन

विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के सृजन में नारी का अवदान महत्त्वपूर्ण रहा है। सभी युगों में किसी भी राष्ट्र की संस्कृति का मुख्य मापदण्ड भी स्त्री की स्थिति रही है। समाज के व्यवस्थाकार स्त्री की स्थिति में होने वाले परिवर्तन को हमेशा अपने चिन्तन की विषय वस्तु बनाते हैं। सामाजिक मान्यताअ ने परिवर्तन के साथ-साथ स्त्रियों की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ है। यदि हम धर्मशास्त्रों का अवलोकन करें तो यह तथ्य उभर कर आयेगा। स्त्री के सन्दर्भ में परस्पर विरोधी मत परिलक्षित होते हैं जिससे किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने में कठिनाई आती है। देश-काल और स्वभाव तथा परम्परा के अनुरूप स्त्रियाँ विभिन्न वृत्तियों में संलग्न रही हैं। कहीं वह गृहिणी के रूप में समादृत हैं तो कहीं कन्या के रूप में स्नेह की भाजन बनती है।

वैदिक काल में कन्या का वेदाध्ययन तथा उपनयन संस्कार होता था। सूत्र रूप में ऐसे निदर्शेन प्राप्त होते हैं जिनमें स्त्रियों ने वेदों का अध्ययन किया है तथा विधिवत् मन्त्रोच्चारण सम्पादित किया है। पूर्व वैदिक काल में लोपामुद्रा, विश्वावारा, सिकता तथा घोषा आदि विदुषी स्त्री कवियों ने वैदिक मन्त्रों की रचना भी की थी। इसीलिए वे वेद में ऋषि की उपाधि से विभूषित हुई थीं। सामवेद में भी सिकता, विभावरी, गोपायना आदि कुछ प्रमुख विदुषी नारियों का उल्लेख प्राप्त होता है। वेदाध्ययन में संलग्न स्त्रियों की दो श्रेणियाँ थीं। प्रथम ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं जो आजीवन अध्यात्म तथा दर्शनशास्त्र की छात्रा रहती थी। द्वितीय श्रेणी की छात्रायें सद्योवधू कहलाती थीं। विवाह के पूर्व तक वे अपना अध्ययन जारी रखती थी। इसी परम्परा में गार्गी और मैत्रेयी का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार प्राचीन भारत में स्त्रियों का विदुषी होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। बौद्ध युग में भी अनेक स्त्रियों ने ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में उल्लेखनीय योगदान किया है। इसी क्रम में कौशाम्बी के राजा सहस्रा की पुत्री जयन्ती ने तीर्थंकर महावीर के धर्म सम्बन्धी तर्कों से संतुष्ट होकर उनसे परिव्रज्या ग्रहण की तथा आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती रही। 'थेरीगाथा' में बहुत सी ऐसी थेरियों का उल्लेख है जो कवयित्रियाँ थीं और आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं। अध्ययन के पश्चात् कुछ स्त्रियाँ अध्यापन का कार्य करती थीं जिन्हें 'उपाध्याया' या 'आचार्या' की पदवी प्राप्त थी।

स्त्रियों ने अनेक बार उपदेशात्मक कार्यों से समाज का हित किया था। महाभारत से ज्ञात होता है कि स्वयं शंकर ने कहा था कि स्त्रियों पर स्त्रियों के वचनों का जैसा प्रभाव पड़ सकता है लेकिन वैसा पुरुष के वचनों का प्रभाव

नहीं पड़ सकता। अतः स्त्री स्त्री के लिए गति है। संन्यासिनी स्त्री तथा परिव्राजिकाओं का कार्य उपदेश देना था। ये संन्यासिनी स्त्रियाँ जीवन से निराश स्त्रियों के मन में पुनः जीवन के प्रति आशा का संचार करती थीं। अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जहाँ इन ब्रह्मवादिनी परिव्राजिकाओं का यशोगान किया गया है। अपने धर्मोपदेश के माध्यम से अन्य स्त्रियों को लोक कल्याण तथा निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती थीं।

इस प्रकार सन्नारियों में निहित अनुपक आदि शक्ति ने उन्हें दिव्यता की स्थिति में पहुँचा दिया था। उनका तपः पूत स्वरूप समाज को प्रभावित करता था। सर्वत्र सम्मान प्राप्त होता था। इन तपस्विनियों को वेदान्त विद्याध्ययन में विशेष रुचि होती थीं। ये आत्मा और परमात्मा के चिन्तन में रत रहती थीं। बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर कई स्त्रियाँ भिक्षुणी बनीं। इस प्रकार हिन्दू परिव्राजिकाओं के अनेक उद्धरण धर्मशास्त्रों में उपलब्ध होते हैं जिन्होंने संन्यास की परम्परा को शिरोधार्य किया और उसे अपने आचार-विचार से गौरवान्वित किया।

प्राचीन ब्राह्मणवादी कालों में स्त्रियों द्वारा संन्यास परम्परा को ग्रहण करने के अनेक दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं- मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य 3/58) ने बौधायन के एक सूत्र (स्त्रीणां चैके) का उदाहरण देते हुए लिखा है कि कुछ आचार्यों के मन में नारियाँ भी संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो सकती थीं। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य (2, पृष्ठ 100) में शंकरा नामक परिव्राजिका उल्लेख किया है। कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्र में पंडिता कौशिकी को संन्यासी के वेष में दर्शाया है। *(1/14)*

ऊपर वर्णित विवेचनों से यह बात स्पष्ट होती है कि स्त्रियों को संन्यास की परम्परा का अनुपालन करने की अनुमति तो थीं किन्तु पुरुषों की तुलना में उनकी संख्या कम थीं। संन्यास शब्द से दो भावनायें ध्वनित होती है।

1- किसी उद्देश्य की प्राप्ति की आकांक्षा से उत्पन्न सभी प्रकार के कार्यों का परित्याग।

2- किसी विशिष्ट जीवन ढंग (आश्रम) का अनुसरण जिसके बाह्य लक्ष्य है- दण्ड, काषाय आदि धारण करना।

इस परम्परा में सर्वाधिक उल्लेखनीय नाम याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी का है, जिसने ऋषि याज्ञवल्क्य से स्पष्ट शब्दों में कहा था- **'जो मुझे अमर नहीं बनायेगा मैं उसे लेकर क्या करूँगी।'**

(बृहदारण्यक उपनिषद् 4/5-3,4)

भारतीय संस्कृति की अपूर्व व्यवस्था वर्णाश्रम व्यवस्था थी। चार आश्रमों के द्वारा जीवन के विकास क्रम को चार भागों में बाँटकर परिनियमित करने का उद्देश्य था। यद्यपि चारों आश्रमों का समान रूप से महत्त्व एवं उपयोगिता

थी किन्तु संन्यास आश्रम अत्यन्त समादृत था क्योंकि इसके माध्यम से मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता था। संन्यास आश्रम के नियम अन्य आश्रमों की तुलना में कठिन और दुष्कर थे। इसके अन्तर्गत यह मान्यता थी कि संन्यासी को सभी प्राणियों के लिए समान भाव रखना चाहिए, शान्त भाव रखना चाहिए, तीन दण्ड धारण करना चाहिए, कमण्डल रखना चाहिए, भिक्षा के लिए गाँव में प्रवेश करना चाहिए। उसे मन, वाणी एवं कर्म का पूर्ण रूप से संयम रखना चाहिए। संन्यासी का समाज में बड़ा समादरणीय स्थान था। यदि धर्म सम्बन्धी कोई समस्या होती थी तो संन्यासी परिषद का कार्य करता था।

कालान्तर में युग परिवर्तित हुआ, सामाजिक प्रवृत्तियाँ बदली, जन-मानस की चिन्तनधारा बदली। इन परिवर्तनों के अनेक कारण हैं इनमें से एक महत्त्वपूर्ण कारण है कि मध्य युगीन सोच का बाह्य संस्कृतियों से प्रभावित होना। इससे भारतीय संस्कृति भी अछूती न रह सकी। समाज के एक विशेष वर्ग के सम्बन्ध में निन्दा और कटूक्तियाँ रूढ़ होने लगी। भारतीय समाज का एक वर्ग यथाविध स्त्रि और शूद्र को अध्ययन-अध्यापन से वंचित कराने का षड्यंत्र करने लगा जिसके परिणाम स्वरूप वे दोनों ही वर्ग शैक्षिक एवं आत्मिक विकास की दिशा में पिछड़ेपन का शिकार हुए। स्त्रियों के लिए उपनयन आदि संस्कारों की व्यवस्था को समाप्त करने का दुष्कृत्य भी किया गया किन्तु आधुनिक युग में पुनर्जागरण काल में कुछ महान् विद्वान् सन्तों ने स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन और उपनयन संस्कार की महत्ता को स्वीकार किया, जिसके परिणाम स्वरूप आधुनिक युग में स्त्रियों ने संन्यास परम्परा को ग्रहण किया और अपनी महत्त्वपूर्ण कारयित्री प्रतिभा के बल पर आज वे विविध आश्रमों, मिशनों एवं मठों के महत्त्वपूर्ण पदों पर शोभायमान है। समाज को अपने तपस्वी जीवन के माध्यम से सम्यक् दिशा निर्देशन प्रदान कर रही हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में संन्यास परम्परा में स्त्रियों की समाजिक स्थिति का दार्शनिक अध्ययन प्रस्तुत करना है। साथ ही साथ वर्तमान युग में विविध आश्रमों, धर्मसंघों एवं मठों में साध्वियों की स्थिति का समाकलन तथा उनके योगदान का एक दार्शनिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास है।

****

अध्याय- 1

पुरोवाक्-

1- आश्रम व्यवस्था का स्वरूप एवं अवधारणा

(क) वर्गीकरण -

- ब्रह्मचर्य
- गृहस्थ
- वानप्रस्थ
- संन्यास

(ख) कर्त्तव्य -

भूमिका-

विश्व की विभिन्न संस्कृतियों की सृजन में नारी का अवदान महत्त्वपूर्ण रहा है। सभी युगों में किसी भी राष्ट्र की संस्कृति का मुख्य मापदण्ड भी स्त्री की स्थिति रही है। समाज के व्यवस्थाकार स्त्री की स्थिति में होने वाले परिवर्तन को हमेशा अपने चिन्तन की विषय वस्तु बनाते हैं। सामाजिक मान्यताओं ने परिवर्तन के साथ-साथ स्त्रियों की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ है। यदि हम धर्मशास्त्रों का अवलोकन करें तो यह तथ्य उभर कर आयेगा। स्त्री के सन्दर्भ में परस्पर विरोधी मत परिलक्षित होते हैं जिससे किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने में कठिनाई आती है। देश-काल और स्वभाव तथा परम्परा के अनुरूप स्त्रियाँ विभिन्न प्रवृत्तियों में संलग्न रही हैं। कहीं वह गृहिणी के रूप में समादृत है तो कहीं कन्या के रूप में स्नेह की भाजन बनती है।

भारतीय संन्यास परम्परा में स्त्री की प्रस्थिति- विवेचन से पूर्व स्त्री- शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार प्रासंगिक हो जाता है।

शब्द-व्युत्पत्ति और नारी -

प्रत्येक शब्द का इतिहास है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। शब्द अपने वाच्य के स्वरूप का भी संकेत करता है। अवश्य ही शब्दों के अर्थ में समय-समय पर संकोच-विस्तार हुआ करता है और शब्द कभी-कभी अपने मूल अर्थ से बहुत दूर जा पड़ते हैं: पर इस परिवर्तन से मूलअर्थ की विशेषता नष्ट नहीं होती। नारी-अर्थ के बोधक शब्द भी नारी के स्वरूप पर बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं। कवियों की दृष्टि में नारी माया-सी दुर्बोध, प्रकृति-सी बहुरूपी साथ ही सहानुभूति-सी सरल रही है। इन विभिन्न रूपों के कारण ही उसे रहस्यमय कोटि मे डाल दिया गया है। पर यदि शब्दों के विकास के साथ मानव-सभ्यता के विकास का अध्ययन किया जाय तो जान पड़ेगा कि नारी उतने ही अंश में रहस्यमयी है, जितने अंश में संसार की कोई भी वस्तु। विषम समाज में विषम स्थिति होने के कारण नारी के विभिन्न स्वरूप होते गये। मानव का नारी के साथ शारीरिक, रागात्मक और धार्मिक सम्बन्ध होने के कारण भी नारी के स्वरूप-भेद हुए और उनके सूचक शब्दों की अलग-अलग सृष्टि हुई। ऊँ से संपूर्ण

सृष्टि ध्वनित हो जाय तो हो जाये, सच्चिदानन्द से ब्रह्म का स्वरूप झलक जाय तो झलक जाये; किंतु किसी एक शब्द से नारी के स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। फिर भी, जिस तरह एक छोटे से ओस-बिन्दु में संपूर्ण सूर्यमण्डल प्रतिबिम्बित हो जाता है, उसी तरह नारी-वाचक छोटे-से-छोटे शब्द में भी उसकी जाति, उसके गुण, उसकी क्रिया अथवा इच्छा झलक ही जाती है।

मेना- (वैदिक)- ऋग्वेद में 'मेना' शब्द नारी अर्थ का वाचक है। महर्षि यास्क के अनुसार इसकी व्युत्पति है - 'मानयन्ति एना : (पुरूषाः)' (निरूक्त)। पुरूष इनका आदर करते है; अतः स्त्रियों को मेना कहते है। लौकिक (सिकल) संस्कृत में मेना शब्द मान्या बन गया। पार्वती की माता का नाम मेना था।

पाः - (वैदिक)- शब्द भी ऋग्वेद में यह शब्द प्राय : देव- पत्नियों के लिये ही आया है; किंतु ब्राह्मण ग्रन्थों में सामान्य स्त्री के लिये प्रयुक्त है। यास्क ने इसका अर्थ किया है- गच्छन्ति एपाः' (निरूक्त)। दुर्गाचार्य ने इसका भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है कि स्त्री को पाः इसलिये कहते हैं कि पुरूष संसर्ग की कामना से इनके पास जाते हैं, गमन करते हैं।

स्त्री- नारी के लिये सबसे अधिक प्रचलित शब्द 'स्त्री' है। वैदिक साहित्य में यह प्रसिद्ध हो चुका था। 'स्त्री' शब्द 'स्त्यै' धातु से बना है। यास्क के मत में स्त्यै का अर्थ लज्जा से सिकुड़ना है स्त्री को स्त्री इसलिये कहते हैं कि वह लज्जाती है। नारी की स्त्री संज्ञा उसके लज्जाशील होने के कारण है। इस धातु पाठ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नारी का स्त्री नाम उसके बकवादी स्वरूप के कारण पड़ा। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक बातचीत करने वाली, गप्प लड़ाने वाली होती हैं, ऐसी जन-श्रुति है, किंतु किसी भी आचार्य ने स्त्री की उपर्युक्त व्याख्या नहीं की है। पतंजलि अष्टाध्यायी के 'स्त्रियाम्' सूत्र के भाष्य में स्त्री शब्द पर कई पहलुओं से विचार किया है। पतंजलि के मत से स्त्री का अर्थ है- 'स्त्यायति अस्यां गर्भ इति स्त्री'। नारी को स्त्री इसलिये कहते है कि गर्भ की स्थिति (पिण्ड) उसके भीतर होती है। क्षीर स्वामी ने भी यही अर्थ किया है। पतंजलि स्त्री शब्द की एक दूसरी व्युत्पत्ति दी हैं वह है- शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध- इन सबका समुच्च्य ही स्त्री

है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु में तीनों गुण हैं। वे विषम परिमाण में है। तीनों में से कोई एक प्रधान और शेष दो अप्रधान रहते हैं।

योषा- स्त्री के लिये यह भी प्राचीन शब्द है। यह युजुटाना धातु से बना है। दुर्गाचार्य के मत में स्त्री को योषा इसलिये कहते हैं कि वह अपने आपको पुरूष के साथा जुटाती है।

नारी- ऋग्वेद में नारी शब्द नहीं मिलता। पर यज्ञ के अर्थ में 'नार्यः' शब्द का प्रयोग हुआ है। काम करते समय मनुष्य हाथ-पैर नचाता है, हिलाता-डुलाता है; इसलिये उसे नर कहते हैं। इसी विशेषण के कारण स्त्री को नारी कह सकते हैं; किंतु ऋग्वेद में नृ का प्रयोग वीरता का काम करना, दान देना तथा नेतृत्व करने के अर्थ में हुआ है और नर शब्द का प्रयोग भी वीर, दाता तथा नेता के अर्थ में हुआ है। ब्राह्मणों में कहीं-कहीं 'नारिः' पाठ मिलता है। सायण के मत से नारी का भाव नरों का उपकारक अथवा शत्रु न होना है।

वामा- स्त्री वामा है; क्योंकि वह सौन्दर्य बिखेरती है- 'वयति सौन्दर्यम्।' स्त्री वामा है; क्योंकि प्रतिकूल बात कहती हैं।

अबला- इस शब्द की रचना नारी के शारीरिक बल को सामने रखकर की गयी है। स्त्री में पुरूष-सा बल नहीं होता। हाँ, नारी की मानसिक उड़ान का लोहा वैदिक ऋषि भी मानते थे और उसे वश में करना असाध्य मानते थे।

सुन्दरी- सु+उन्द=गीला करना+अर+डीष्=सुन्दरी। स्त्री को सुन्दरी कहते है; क्योंकि उसको देखने से पुरूष का हृदय गीला होता है, चित द्रवित होता है।

प्रमदा- हलके से हलके भाव से पुरूष को उत्तेजित कर देना रमणी की नैसर्गिक विशेषता है। वह प्रमदा है। प्रमद का भाव हर्ष भी है।

ललना- यह शब्द स्त्री के एक मानसिक भाव का द्योतक है। यह लल=इच्छा करना से बना है। स्त्री में लालसा, इच्छा, चाह प्रबल होती है। अतः उस ललना कहते हैं।

मानिनी- स्त्री के लिये मानिनी शब्द का व्यवहार भी उसके एक मनोवैज्ञानिक स्वरूप को व्यक्त करता है। स्त्री मानप्रिय होती है। स्त्री में अपने पन की मात्रा तीव्र होती है। उसके सौन्दर्य, गुण, कार्य आदि किसी की प्रतिकूल आलोचना उसे बाण-सी लगती है। वह सच्चे अर्थ में मानिनी है।

महिला- मह+इलच्+आ=महिला। मह का अर्थ पूजा है। पूज्या होने के कारण स्त्री का महिला नाम पड़ा। पर पीछे के कवियों ने इस शब्द का प्रयोग करते समय इसके मूल अर्थ पर ध्यान कम दिया है।

दुहिता- कन्या के लिये दुहिता शब्द अत्यन्त प्राचीन है।

जाया- स्त्री के पत्नी रूप के लिये जाया शब्द व्यवहृत होता है। वैदिक साहित्य में पुत्र के साधन रूप जाया की महिमा, गरिमा तथा शोभा स्थान-स्थान पर गायी गयी है। ऐतरेय ब्राह्मण में जाया को 'आभूतिरोष भूतिः'-यही शोभा है, यही ऐश्वर्य है, कहा गया है। ऋग्वेद में जाया के प्रति बड़े ही मधुर उद्‌गार मिलते हैं।

माता- शब्द व्युत्पत्ति द्वारा मातृ शब्द के भाव को जानने की चेष्टा वैसी ही है, जैसी कि किसी फूल की नसों को उधेड़-उधेड़ कर उसके सौन्दर्य को परखने की चेष्टा। ऋग्वेद में मातृ शब्द अन्तरिक्ष, नदी, जल तथा पृथ्वी के अर्थ में भी व्यवहृत हैं। वैयाकरण मातृ शब्द को मान्+तृच् से बनाते है। मान का अर्थ है आदर पर आदि युग से लेकर आजतक मानव जिसे असीम श्रद्धा भेंट करता रहा और जिससे अजस्र अक्षय स्नेह पाता रहा, वह केवल जन्मदात्री नहीं। वह इसमें बहुत बड़ी है। उसका स्थान स्वर्ग से भी ऊँचा और गुरु से भी अधिक पूज्य हैं। माता सदा माता ही हैं।

नारी (पाश्चात्य-समाज में और हिंदू-समाज में) -

आजकल सर्वत्र ही नारी जागरण की बात सुनी जाती है। उस पर सदा से ही अत्याचार होता आया है-अब वे शिक्षिता होकर अपना न्याय अधिकार चाहती हैं। पुरुषों की भाँति सभी काम करने का-विशेषतः धनोपार्जन के कार्य करने का उन्हें अधिकार होना चाहिये। वे धनोपार्जन का कार्य न कर

सकने के कारण ही पुरूषों की गुलाम बनने को मजबूर हो रही थीं। पुरुषों की गुलाम बनने को मजबूर हो रही थीं। पुरुष मनमाने ढंग से इन्द्रियों को चरितार्थ करता है, स्त्री वैसा करती है तो पूरा दोष समझा जाता है- वैसा करने पर स्त्रियों को इस लोक में कितने कष्ट सहने पड़ते हैं और उन्हें परलोक का भय दिखलाया जाता है। खुद पसंद करके विवाह करना चाहिये-और सुखकर न देखते ही तलाक कर देने का उन्हें अधिकार होना चाहिये। पारिवारिक जीवन में उन पर स्वामी का कोई अधिकार नहीं रहना चाहिये- राजनीतिक क्षेत्र में उनका अधिकार रहना चाहिये। इस तरह नाना प्रकार के अधिकारों के लिये दावा सुनने में आता है। कहा जाता है 'हिंदू-समाज सदा से ही स्त्रियों पर घोर अत्याचार करता है, उनका अपमान करता है, उन्हें उपर्युक्त अधिकार नहीं देना चाहता-विधवा विवाह को उचित नहीं बतलाता, लड़कियों का कम उम्र में विवाह करके उनकी शारीरिक और मानसिक शक्ति के विकास का मार्ग रोक दिया जाता है। अतएव हिंदू समाज में जड़ से परिवर्तन होने की अत्यन्त आवश्यकता है। परिर्वतन न होगा तो हमारी उन्नति की कुछ भी आशा नहीं है।' बहुत से युवक और युवतियाँ इन सब बातों को प्रमाणित सत्य मान बैठे हैं और मानो पाश्चात्य देशों की स्त्रियाँ ऐसे अधिकारों का प्रसार दिखलाकर वे हम लोगों के लिये गन्तव्य पथ निर्देश कर रहे हैं।

जो लोग पहले से ही यह निश्चय कर बैठे है कि हिंदू जाति पुरानी असभ्य जातियों की भाँति स्त्रियों पर जुल्म ही करती है, उनको मैं यह बतलाना चहाता हूँ कि हिंदुओं के सिवाय किसी भी सभ्य जाति ने आज तक भगवान को स्त्रीरूप मे नहीं देखा, किसी ने कल्पना भी नहीं की। यदि ऐसा नहीं होता तो देवासुर-संग्राम में देवताओं को बार-बार नारी देवता (दुर्गा) की शरण लेकर असुरों के हाथ से रक्षा होने की कथाएँ हमारे धर्मग्रन्थों में नहीं लिखी जाती, विपत्ति पड़ते ही घर-घर में चण्डीपाठ न होता। जीवन की प्रधान काम्यवस्तु की शक्ति, अर्थ और विद्या की अधिष्ठात्री देवता को हम स्त्री रूप में नहीं देखते।

हिंदू-शास्त्र के इन सब आदेशों की अवज्ञा की जाने के कारण ही स्त्रियों को इतना कष्ट हो रहा है, तो भी नवीन विचारों के लोग हिंदू-जाति को नारी निग्रही कहने में जरा भी कुण्ठित नहीं होते। हम सभी स्त्रियों को माता कहकर सम्बोधन करते हैं-

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'

हमारी एक प्रचलित लोकोक्ति है। इससे यह प्रमाणित होता है कि हिंदू-जाति की भाँति किसी भी जाति ने न तो स्त्रियों का इतना सम्मान किया और न उन्हें ऊँचा स्थान ही दिया है। अतएव सभी क्षेत्रों में स्त्रियों का पुरूषों के समान अधिकार न होने के कारण हिंदू-जाति को नारी-निग्रही न समझकर निरपेक्ष भाव से विचार करके देखना चाहिये कि समाज में स्त्री का स्थान और कार्य क्या होना चाहिये, हिंदू-आदर्श क्या हैं और वह स्त्रियों के लिये, समाज के लिये, चराचर जीवों के लिये कल्याण कारक हैं।

पुरूष और स्त्री के शरीर की रचना पर ध्यान देने से यह मालूम होता है कि साधारणतः स्त्री के शरीर का आयतन, देह की और पेशियों की शक्ति पुरुष की अपेक्षा कम है। उसकी अस्थि भी कुछ कमजोर है और शरीर भी अधिक कोमल है स्त्री के मस्तिष्क का वजन और जटिलता (Convolutions), मस्तिष्क के अगले भाग (Cerebrum) का, पिछले भाग (Cerebellum) का और स्नायुग्रन्थि (Nerve ganglia) का वजन भी पुरुष की अपेक्षा कम हैं परंतु थेलेमस (Thalemus) जो सम्प्रति भावप्रवणता (Emotions) का स्थान माना गया है- पुरुषों की अपेक्षा बड़ा है।

वैदिक काल से लेकर ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ तक कन्या का वेदाध्ययन तथा उपनयन संस्कार होता था। सूत्र रूप में ऐसे निर्देशन प्राप्त होते हैं जिनमें स्त्रियों ने वेदों का अध्ययन किया है तथा विधिवत् मन्त्रोच्चारण से प्रतिपादित किया है। पूर्व वैदिक काल में लोपामुद्रा, विश्वावारा, सिकता तथा घोषा आदि विदुषी स्त्री कवियों ने वैदिक मन्त्रों की रचना भी की थी। इसीलिए वे वेद में ऋषि की उपाधि से विभूषित हुई थीं। सामवेद में भी सिकता विभावरी, गोपायना आदि कुछ प्रमुख विदुषी नारियों का उल्लेख प्राप्त होता हैं।

वेदाध्ययन में संलग्न स्त्रियों की दो श्रेणियाँ थीं। प्रथम ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं जो आजीवन अध्यात्म तथा दर्शनशास्त्र की छात्रा रहती थी। द्वितीय श्रेणी की छात्रायें सद्योवधू कहलाती थी। विवाह के पूर्व तक वे अपना अध्ययन जारी रखती थी। इसी पर परा में गार्गी और मैत्रेयी का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार प्राचीन भारत में स्त्रियों का विदुषी होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। बौद्ध युग में भी अनेक स्त्रियों ने ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में उल्लेखनीय योगदान किया है। इसी क्रम में कौशाम्बी के राजा सहस्त्रा की पुत्री जयन्ती ने तीर्थंकर महातीर्थ के धर्म सम्बन्धी तर्कों से संतुष्ट होकर उनसे परिव्रज्या ग्रहण की तथा आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती रही। 'थेरीगाथा' में बहुत ऐसी थेरियों के उल्लेख है जो कवयित्रियाँ थीं और आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं। अध्ययन के पश्चात् कुछ स्त्रियाँ अध्यापन का कार्य करती थीं जिन्हें 'उपाध्याया' या 'आचार्या' की पदवी प्राप्त थीं। स्त्रियों ने अनेक बार उपदेशात्मक कार्यों से समाज का हित किया था। महाभारत से ज्ञात होता है कि स्वयं शंकर ने कहा था कि स्त्रियों पर स्त्रियों के वचनों का जैसा प्रभाव पड़ सकता है लेकिन वैसा पुरुष के वचनों का प्रभाव नहीं पड़ सकता। अत: स्त्री स्त्री के लिए गति है। संन्यासिनी स्त्री तथा परिव्राजिकाओं का कार्य उपदेश देना था। ये संन्यासिनी स्त्रियाँ जीवन से निराश स्त्रियों के मन में पुन: जीवन के प्रति आशा का संचार करती थीं। अनेक ऐसे उद्धरण उपलब्ध होते हैं जहाँ इन ब्रह्मवादिनी परिव्राजिकाओं का यशोगान किया गया है। अपने धर्मोपदेश के माध्यम से अन्य स्त्रियों को लोक कल्याण तथा नि:श्रेयस् की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती थीं। इस प्रकार नारियों में निहित आदि शक्ति ने उन्हें दिव्यता की स्थिति में पहुँचा दिया था। उनका तप:पूत स्वरूप समाज को प्रभावित करता था, सर्वत्र सम्मान प्राप्त होता था। इन तपस्विनियों को वेदान्त विद्याध्ययन में विशेष रूचि होती थीं। ये आत्मा और परमात्मा के चिन्तन में रत रहती थीं। बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर कई स्त्रियाँ भिक्षुणी बनी। इस प्रकार हिन्दू परिव्राजिकाओं के अनेक उदाहरण धर्मशास्त्रों में उपलब्ध होते हैं जिन्होंने संन्यास की परम्परा को शिरोधार्य किया और उसे अपने आचार-विचार से गौरवान्वित किया।

प्राचीन ब्राह्मणवादी कालों में स्त्रियों द्वारा संन्यास परम्परा को ग्रहण करने के अनेक दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं- मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य 3/58) ने बौधायन के एक सूत्र *(स्त्रीणां चैके)* का उदाहरण देते हुए लिखा है कि कुछ आचार्यों के मन में नारियाँ भी संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो सकती थीं। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य

(2, पृष्ठ 100) में शंकरा नामक परिव्राजिका उल्लेख किया है। कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्र में पंडिता कौशिकी को संन्यासी के वेश में दर्शाया है। *(1/14)*

ऊपर वर्णित विवेचनों से यह बात स्पष्ट होती है कि स्त्रियों को संन्यास की परंपरा का अनुपालन करने की अनुमति थीं किन्तु पुरुषों की तुलना में उनकी संख्या कम थीं। संन्यास शब्द से दो भावनायें ध्वनित होती हैं।

1- किसी उद्देश्य की प्राप्ति की आकांक्षा से उत्पन्न सभी प्रकार के कार्यों का परित्याग।

2- किसी विशिष्ट जीवन ढंग (आश्रम) का अनुसरण जिसके बाह्य लक्ष्य है- दण्ड, काषाय आदि धारण करना।

इस परम्परा में सर्वाधिक उल्लेखनीय नाम याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी का है जिसने ऋषि याज्ञवल्क्य से स्पष्ट शब्दों में कहा था- **"जो मुझे अमर नहीं बनायेगा मैं उसे लेकर क्या करूँगी"।**

(बृहदारण्यक उपनिषद् 4/5-3, 4)

भारतीय संस्कृति की अपूर्व व्यवस्था वर्णाश्रम व्यवस्था थी। चार आश्रमों के द्वारा जीवन के विकास क्रम को चार भागों में बाँटकर परिनियमित करने का उद्देश्य था। यद्यपि चारों आश्रमों का समान रूप से महत्त्व एवं उपयोगिता थी किन्तु संन्यास आश्रम अत्यन्त समादृत था क्योंकि इसके माध्यम से मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता था। संन्यास आश्रम के नियम अन्य आश्रमों की तुलना में कठिन और दुष्कर थे। इसके अन्तर्गत यह मान्यता थी कि संन्यासी को सभी प्राणियों के लिए समान भाव रखना चाहिए, शान्त भाव रखना चाहिए, तीन दण्ड धारण करना चाहिए , कमण्डल रखना चाहिए, भिक्षा के लिए गाँव में प्रवेश करना चाहिए। उसे मन, वाणी एवं कर्म का पूर्ण रूप से संयम रखना चाहिए। संन्यासी का समाज में बड़ा समादरणीय स्थान था। यदि धर्म सम्बन्धी कोई समस्या होती थी तो संन्यासी परिषद उस समस्या का समाधान करता था।

कालान्तर में युग परिवर्तन हुआ, सामाजिक प्रवृत्तियाँ बदली, जन-मानस की चिन्तनधारा बदली। इन परिवर्तनों के अनेक कारण है इनमें से एक महत्त्वपूर्ण कारण है कि मध्य युगीन सोच का बाह्य संस्कृतियों से प्रभावित होना। इससे भारतीय संस्कृति भी अछूती न रह सकी। समाज के एक विशेष वर्ग के सम्बन्ध में निन्दा और कटुक्तियाँ रूढ़ होने लगी। भारतीय समाज का एक वर्ग यथाविध स्त्री और शूद्र को अध्ययन-अध्यापन से

वंचित करने का षड्यंत्र किया गया जिसके परिणाम स्वरूप वे दोनों ही वर्ग शैक्षिक एवं आत्मिक विकास की दिशा में पिछड़ेपन का शिकार हुए। स्त्रियों के लिए उपनयन आदि संस्कारों की व्यवस्था को समाप्त करने का दुष्कृत्य भी किया गया किन्तु आधुनिक युग में पुनर्जागरण काल में कुछ महान् विद्वान् सन्तों ने स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन और उपनयन संस्कार की महत्ता को स्वीकार किया, जिसके परिणाम स्वरूप आधुनिक युग में स्त्रियों ने संन्यास परम्परा को ग्रहण किया और अपनी महत्वपूर्ण कारयित्री प्रतिभा के बल पर विविध आश्रमों, मिशनों एवं मठों के महत्त्वपूर्ण पदों पर शोभायमान है एवं समाज को अपने तपस्वी जीवन के माध्यम से सम्यक दिशा निर्देशन प्रदान कर रही हैं।

भारतीय संस्कृति में नारी-

विश्व की प्राचीनतम भारतीय संस्कृति में नारी जाति का श्रेष्ठतम आदरणीय स्थान रहा है। किसी भी अवतार व महापुरुष के लिये नारी सदैव आदरणीय संरक्षणीया ही नहीं बल्कि वन्दनीया, पूजनीया भी रही हैं, चाहे वे राम व कृष्ण ऐसे संग्रामरत शूरवीर हों या बुद्ध, महाबीर व शंकर जैसे–आत्मरत भिक्षु। नारी जाति अनन्त महिमामयी माँ की साकार मूर्ति है। वह ज्ञान, ऐश्वर्य तथा प्रेम की अधिष्ठात्री है, सभी की आराध्या रही है। हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों में मर्यादा पुरुषोत्तम राम की शक्ति पूजा, भगवान् श्रीकृष्ण की दुर्गापूजा, तथा सम्पूर्ण देवताओं द्वारा उस महामाया की आराधना सर्वप्रसिद्ध है।

विश्व में केवल हिन्दू जाति ही है, जो उस सृष्टि के आदि आधार परब्रह्म परमात्मा को मातृभाव से आराधती है। हमारे दैनिक जीवन के विधान में वेद भगवान् की शिक्षा है- "मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव"। इन सब में सर्वप्रथम स्थान मातृ शक्ति को ही दिया गया है। इतना ही नहीं "यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता:" अर्थात् जिस परिवार में, समाज में, राष्ट्र में नारी के प्रति सम्मान है वहीं दिव्य शक्तियों का निवास होता है, ऐसी मनु की घोषणा है।

वैदिक काल से ही नारी जाति के परम पुनीत पवित्र आदर्श तथा सामाजिक सुव्यवस्था युक्त सुविकास के प्रत्येक क्षेत्र में इसके महानतम कृत्यों का दर्शन होता है, किन्तु दुर्भाग्यवश मध्यकालीन साहित्य में नारी

जाति के साहस तथा विवेकपूर्ण आदर्शमय जीवन की उपेक्षा की गई तथा विवेक हीनता के प्रभाव में पुरुष वर्ग में निहित पैशाचिक वृत्ति को प्रबल बना दिया गया। परिणाम स्वरूप नारी जाति के जीवन को सुदृढ़, सुशिक्षित तथा सामर्थ्ययुक्त बनाने वाले सम्पूर्ण साधनों से उसे वंचित कर दिया गया। अनभिज्ञ, असमर्थ तथा अपमानित माता की सन्तान कभी भी अभिज्ञ, सामर्थ्ययुक्त हो, स्वाभिमान-सुरक्षा में सक्षम नहीं हो सकती। उसी का परिणाम हुआ महान् भारतीय संस्कृति का ह्रास एवं श्रेष्ठतम हिन्दू जाति का पतन।

विविध प्रकार से प्रताड़ित होने पर भी भारतीय नारी ने अपने मातृत्व के महान् कर्त्तव्य की कभी भी उपेक्षा नहीं की। मध्यकालीन इतिहास में भी हमें अनेक वन्दनीय माताओं के आदर्शमय जीवन का वर्णन मिलता है, यद्यपि तत्कालीन साहित्य ने नारी के मातृ व शक्ति रूप को विकृत कर उसके स्थान पर उसे कामिनी एवं अबला रूप में ही उपस्थित किया है तथापि मातृशक्ति सृष्टि का श्रेष्ठतम तत्त्व है, जो शक्ति के साथ विद्या की तथा भोग के साथ मोक्ष की भी अधिष्ठातृ देवी है। पुरुषों द्वारा अत्याचार एवं उपेक्षामय दृष्टि का शिकार होते हुये भी जो अपने मातृत्व एवं शक्ति स्वरूप से सर्वथा रहित नहीं हुई और भारतीय गौरव तथा धर्म की सुरक्षा में अपने सर्वस्व को होम करके भी वह निज कर्त्तव्य को निभाती रही।

शताब्दियों तक परतंत्रता की जंजीरों में जकड़े हुये राष्ट्र को स्वतंत्र कराने के लिये भी नारी जाति का बलिदान कम नहीं रहा। नवयुग के निर्माता स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, रवीन्द्र, अरविन्द तथा महात्मा गांधी आदि महापुरुषों ने राष्ट्र के मूल में निहित निर्बलता के इस कारण को समझा और मानव एवं मानवता की जननी नारी को पुनः उसके खोये हुये गौरवमय स्थान पर प्रतिष्ठित कराने के लिये विविध प्रकार के प्रयत्न प्रारम्भ किये, किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि किसी भी वर्ग को प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिये स्वयं में ही बोध युक्त प्रेम एवं सर्वजनहिताय सेवाभाव की धारणा और उसकी पूर्ति के लिये आसक्ति एवं राग रहित स्वाभिमान युक्त स्वयं के जीवन में दृढ़ विश्वास की आवश्यकता होती है।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के पश्चात् जो कुछ भी नारी जागरण के लिये शिक्षा-दीक्षा के साथ ही अनेक विधि-विधानों द्वारा प्रयत्न किया गया उससे वर्तमान तथा कथित सुशिक्षित नारी समाज को जिस दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा मिली वह भारतीय सांस्कृतिक मान्यताओं के सवर्थानुरुप नहीं थी। एतदर्थ यह कहा जा सकता है कि उसके माध्यम से भारतीय नारी अपने खोये हुये गौरवमय स्थान को प्राप्त नहीं कर सकेगी। भारतीय नारी को यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि वह महाविद्या, महामाया,

महाशक्ति की अधिष्ठातृ देवी उस महिमामयी माँ दुर्गा की ही अभिव्यक्ति है। उसकी जिम्मेदारियाँ मकान की चारदीवारी के अन्दर तक ही सीमित नहीं, उसके दायित्व केवल नन्हें परिवार के पालन पोषण तक ही सीमित नहीं, वह सम्पूर्ण विश्व के केवल मानव एवं मानवता की ही नहीं बल्कि प्राणी मात्र की जननी है। अत: उसे अपने स्वरूप को समझना होगा, इस महान् उत्तरदायित्व को निभाने के लिये कटिबद्ध होना होगा, किन्तु जब तक उसमें कामिनी की अपेक्षा भामिनी की भावना का उत्कर्ष नहीं होगा, तब तक वह निज कर्त्तव्य को कुशलता से निभाने में सक्षम नहीं हो सकती। वह सृष्टि के लिये भोगप्रदा ही नहीं, मोक्षप्रदा भी है जो उसका वास्तविक स्वरूप है।

इस तरह की पवित्र एवं दृढ़ भावनाओं को सम्पूर्ण नारी वर्ग में जागृत करने का दायित्व भी नारी जाति पर ही है। उसके लिये प्राचीनतम आदर्शों के अनुसार उनमें से अनेक गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी, अपाला तथा लोपामुद्रा जैसी अनेकों देवियों की समाज में अवतरित होने की आवश्यकता है जो स्वयं के सुख-सुविधामय जीवन को सम्पूर्ण प्राणियों के हित में समर्पित करती हुई उसकी जन्मदात्री नारी जाति में पुन: सुबोध एवं सामर्थ्ययुक्त स्वाभिमानमय जीवन को जागृत कर काल के गाल में जाती हुई वर्तमान की मानवताहीन मानव जाति की सुरक्षा कर सके। अपने खोए हुये गौरव को प्राप्त करने के लिये हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध अतीत के आदर्श को स्वीकार करना होगा और तदनुसार जीवन बना वैयक्तिक तथा सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय होना होगा।

मध्य कालीन साहित्य में जो नारी की धूमिल छवि उभर कर समाज के सामने आई, उसमें पुरुष ही नहीं नारी भी जि मेदार है। अपने आदर्शमय जीवन को च्युत हो शरीरसक्त होकर जब तक वह भोग को ही जीवन का सर्वस्व समझती रहेगी तब तक कल्याणमयी मानव तथा मानवता की जननी के गौरवमय स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। यह याद रखना होगा कि नारी का कामिनी रूप व्यक्तिनिष्ठ तथा मातृरूप समाजनिष्ठ होने पर ही वह लोक निर्माण तथा मानव कल्याण में सहायिका सिद्ध होती है।

भारतीय संन्यास परम्परा में नारी की स्थिति के विवेचना से पूर्व उसकी वैदिकता पर विमर्श आवश्यक हो जाता है।

संन्यास आश्रम की वैदिकता-

ऋग्वेद दशम् मण्डल का सूक्त 85 जिसमें 46 मन्त्र हैं, पूरा विवाह तथा गृहस्थ विषयक है। अथर्ववेद काण्ड 24, जिसमें दो बड़े सूक्त क्रमशः 64 तथा 75 मन्त्रों के हैं, विवाह तथा गृहस्थ आश्रम से ही सम्बद्ध हैं। अन्यत्र भी वेदों में गृहस्थाश्रम सम्बन्धी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। परिणामतः ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रमों के अवैदिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के विषय में अवश्य ही यह शङ्का उपस्थित है कि वेदों में एतद्विषयक कोई सङ्केत मिलते हैं या नहीं?

चार पड़ाव- ब्रह्मचर्य-सूक्त में ही ब्रह्मचर्याश्रम को एक पड़ाव मानकर अगले तीन पड़ावों या आश्रमों की चर्चा इस रूप में की गई है- **आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।**

प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी॥

गुरुकुल में आचार्य ब्रह्मचारी के साथ तादात्म्य स्थापित करता है, अर्थात् उसे अपने से अभिन्न मानकर उसके साथ पुत्रवत् व्यवहार करता है। ब्रह्मचारी स्नातक होने के पश्चात् प्रजापति बनता है, प्रजापति विराड् बनता हैं और विराड् वशी इन्द्र बनता है। यहाँ प्रजापति, विराड् और वशी इन्द्र क्रमशः गृहाश्रमी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के नाम हैं। सन्तानों का पालक होने से गृहस्थ प्रजापति है, विशेष तेजस्वी-तपस्वी होने से वानप्रस्थ विराट् हैं, इन्द्रिय-मन-आत्मा का वशकर्त्ता तथा आध्यात्मिक ऐश्वर्यों का अधिपति होने से संन्यासी 'वशी-इन्द्र' कहलाता हैं।

वानप्रस्थाश्रम पर विशेष विचार-

वेदों में मुनि, भृगु, वनी, वनसद् आदि शब्दों से भी वानप्रस्थाश्रम का उल्लेख हुआ हैं। मुनि- ऋ॰ 1.136 में मुनियों का वर्णन आता हैं। ये **'वातरशन'** मुनि है अर्थात् ऐसे मुनि जिन्होंने वायु या प्राण की रस्सी से स्वयं को नियन्त्रित किया हुआ हैं।

मुनयो वानरशनाः पिशङ्गा वसते मलाः।

वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद् देवासो अविक्षत ॥

(मन्त्र-2)

ये वातरशन वानप्रस्थ मुनि पिङ्गल वर्ण के मटमैले जटांजूट धारण करते हैं और ये प्राण की गति के साथ-साथ आत्मोकर्ष प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि दिव्य शक्तियाँ इनके अन्दर प्रविष्ट हो जाती हैं।

भृगु- 'प्रथिम्रदिभ्रस्जां स प्रसारणं सलोपश्च'

(उणादि 1.28)।'भृज्जति तपसा शरीरमिति भृगुः,

ऋषिः प्रतापी वा' (दयानन्दवृत्तिः)। तपस्वी वानप्रस्थ ऋषि भृगु कहलाते हैं।

'दधुष्टू भृगवो मानुषेष' (ऋ1 .58.6)

हे यज्ञाग्नि! वानप्रस्थ जन यज्ञ द्वारा तुझे मनुष्यों के मध्य स्थापित करते हैं।

वनी- क्वचिद् वेद में वानप्रस्थों का ग्रहण इस शब्द से भी होता है। यथा-

अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता।

(ऋ॰ 3.4०.7)

वानप्रस्थ जन अक्षयों द्युम्नों (तेजों) को पाने के लिए इन्द्र की शरण में जाते हैं। वनसद्- वनवासी वानप्रस्थ। **'वनसदे वेड्'** (यजुः॰ 17.12) वनस्थ वानप्रस्थ ऋषि को भोजन पहुँचाओ। अरण्यानी सूक्त- ऋग्वेद 1.146 अरण्यानी- सूक्त कहलाता है। अरण्यानी की व्याख्या में यास्काचार्य लिखते हैं- अरण्यानी अरण्यस्त पत्नी *(निरू॰ 9.8)* अर्थात् जंगल की पत्नी अरण्यानी कहलाती है। जंगल की पत्नी हो नहीं सकती, अतः लक्षणा प्रवृति होकर अरण्यस्थ (वानप्रस्थ) की पत्नी अर्थ निकलता है। उसमें पति सम्भवतः दिवङ्गत हो चुके हैं, अतःवह अकेली जंगल में निवास कर रही है। प्रथम मन्त्र में कोई नागरिक उसे प्रश्न करता है- "हे वनदेवी, तुम अकेली इस बीहड़ जंगल में लुकी-छिपी-सी क्यों रहती हो, नगर में क्यों नहीं चलती? क्या यहाँ तुम्हें भय नहीं लगता?" उसका उत्तर सुनने योग्य है। वह कहती है- "वन में तो बिना तानपूरे के ही संगीत सुनने को मिलता है। (वृषारव मोटी ध्वनि वाले जन्तु) के पास जब चिच्चिक (पतली ध्वनि वाला जन्तु) आकर बैठ जाता है और दोनों अपना आलाप आरम्भ करते है जब ऐसा लगता है, मानो यह जङ्गल वीणाओं पर सरगम के स्वर निकला रहा है। और देखो, इधर गौएं-सी चर रही हैं, इधर लताकुञ्ज घरों जैसे दिखाई दे रहे हैं। सायंकाल नगर की ओर जाती हुई लड़कियों से भरी हुई गाड़ियों की पुक्ति का दृश्य भी अनोखा होता है। सम्भवतः तुम सोचते होगे कि जंङ्गल में रहना तो शेर, चीते, हाथी आदि हिंसक जन्तुओं के कारण निरापद नहीं है, परन्तु अहिंसा की भावना हो जाने पर हिंसक जन्तु तो मित्र बन जाते हैं। यहाँ तो वन के स्वादु फल

खाकर मनुष्य आराम की नींद सोता है। देखो, यहाँ अञ्जन वृक्ष फूलों की सुगन्ध व्याप रही है, बिना किसानों के ही यहाँ आपार जंङ्गली धान उगे हुए हैं। भोले हरिण इधर-उधर फिरते हुए पुत्रवत् प्रतीत होते हैं। हे भाई, मैं तो इस वन-शोभा पर मुग्ध हूँ। यह सूक्त वानप्रस्थ आश्रम का जीता-जागता चित्र उपस्थित कर रहा है।

संन्यास आश्रम -

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के पञ्चम समुल्लास में लिखा है कि "वेदों में भी यतयः, ब्राह्मणस्य विजानतः इत्यादि पदों से संन्यास का विधान है।" उन्होंने संस्कारविधि के संन्यास प्रकरण में 'यतयः' की निम्न ऋचा उद्धृत की है। यतयः -

यद् देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।

अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यामाजभर्तन॥ *(ऋ॰ 1॰72.7)*

इसका यह अर्थ हो सकता है- "हे देवो, जैसे संन्यासीगण भुवनों को अपने उपदेशामृत से सींचते हैं, वैसे ही जब तुमने भुवनों को सींचा, तब तुम समुद्र में छिपे हुए सूर्य को बाहर निकाल लाये।" वेदों में क्वचित् यतियों का भृगुओं के साथ वर्णन मिलता है। भृगु वानप्रस्थ हैं, यति संन्यासी हैं।

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये।

येना यति यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्व माविथ ॥ *(ऋ॰ 8.3.9 ॥)*

"**हे इन्द्र,** मैं तुमसे वह सुवीर्य माँगता हूँ और पूर्ण जागरूकता के लिए वह ब्रह्मज्ञान माँगता हूँ जिससे तुम संन्यासियों और वानप्रस्थ के लिए (**यति यो भृगवे**) अध्यात्म- धन प्रदान करते हो और जिससे तुम अतिशय बुद्धिमान् **जन** की रक्षा करते हो।"

यहाँ सायण ने 'यति' का कर्मोपरत अयाज्ञिक जन अर्थ किया है, जो संन्यासी से मेल खाता है। वैकल्पिक दूसरा अर्थ 'कर्मनिरत अङ्गिरस' लिया है।

य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः।

ममेदुग्र श्रुधी हवम्॥ *(ऋ॰ 8.3.18)*

"**हे इन्द्र,** संन्यासी (**यतयः**) और वानप्रस्थ जन (**भृगवः**) आपकी स्तुति करते हैं, उनकी पुकार आप सुनते हो, वैसे ही मेरी पुकार भी आप सुनो।"

'**वैदिक इण्डैक्स**' के लेखक मैकडानल और कीथ यति के विषय में लिखते है कि यजुर्वेद संहिताओं में तथा क्वचिद् अन्यत्र भी यतिगण एक ऐसी जाति के लोग हैं, जिन्हें इन्द्र ने सालावृकों को दे दिया था। परन्तु सालावृकों को देने की बात शाखा-ग्रन्थों में मिलती हैं, मूल वेदों में नहीं। मूल चार वेदों में मुख्यत: यति संन्यासी का ही वाचक है। तै॰ संहिता *(2.4.9.2)* में लिखा है कि इन्द्र ने यतियों को सालावृकों की भेंट **कर** दिया। जब सालावृक उन्हें खा रहे थे, तब उनके सिर नीचे गिरे, उसने खजूर उत्पन्न हो गये। खजूरों का रस ऊपर उड़ा, तब वे करीर बन गये। करीर सौम्य होते हैं। सौम्य आहुति में ही यह सामर्थ्य होता है कि वह आकाश से वर्षा कराती है। इसलिए वृष्टियज्ञ में करीरों की आहुति दी जाती है। ऐसे प्रकरणों का आशय अन्वेषणीय है।

ब्राह्मण- अथर्ववेद के 5.28.29 सूक्त ब्रह्मगवी-सूक्त है, जिनमें ब्राह्मण की गौ को क्षत्रिय द्वारा खाने क़ा निषेध किया गया है। ब्राह्मण संन्यासी है, गौ उसकी वाणी है, और खाने का आशय उपेक्षा करना है। इस प्रकार इन सूक्तों में यह बताया गया है कि राजा संन्यासी की हितोपदेश वाणी का अनादर न करे-

नैतां ते देवा अददुस्तु यं नृपते अत्तेव ।

मा ब्राह्मणस्य रजन्य गां जिघत्यो अनाद्याम् ॥ *(अथर्व॰ 5.18.1)*

हे क्षत्रिय राजन्! तुझे विद्वानों ने ब्राह्मण की गौ (संन्यासी की वाणी) खाने (उपेक्षा करने) के लिए नहीं दी है वह खाने योग्य (उपेक्षायोग्य) नहीं है। अत: तू ब्राह्मण की गौ को खाने कि इच्छा मत कर।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ *(यजुः॰ 4०.7)*

यजुर्वेदभाष्य में दयानन्द स्वामी इस मन्त्र का भावार्थ इन शब्दों में लिखते हैं-"जो विद्वान संन्यासी लोग परमात्मा के सहचारी प्राणिमात्र को अपने आत्मा के तुल्य जानते हैं, अर्थात् जैसे अपना हित चाहते हैं, वैसे ही अन्यों में भी बर्तते हैं, एक अद्वितीय परमेश्वर के शरण को प्राप्त होते हैं, उनको मोह, शोक और लोभादि कभी प्राप्त नहीं होते।"

तुरीयः आदित्य- इसका अर्थ है चतुर्थाश्रमी संन्यासी-

कदाचन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी।

तुरीयादित्य हवनं त इन्द्रियमातस्थावमृतं दिवि॥

(ऋ॰ 8.52.7)

हे चतुर्थाश्रमी संन्यासिन्, आप कभी प्रमाद नहीं करते हो, मातृजन्म और विद्याजन्म दोनों जन्मों की लाज रखते हो। आपका हवन-यज्ञ आत्मारूप इन्द्र में स्थित है, क्योंकि आत्मा में यज्ञाग्नियों को समारोपित करके आप संन्यासी हुए हो। देखो, यह आदित्य संन्यासी अन्तः प्रकाश में स्थित है। ऋग्वेद 1०.85 के विवाह-सूक्त में एक ऋचा इस रूप में पठित है- **इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।**

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ *(ऋ॰ 1०.85.42)*

इस ऋचा का यह अर्थ किया जाता है- हे पति-पत्नी आप दोनों यहीं (गृहाश्रम में ही) रहो, इससे वियुक्त मत होवो। अपने घर में पुत्र-पौत्रों (तथा पुत्री- दौहित्रों) के साथ खेलते हुए, आनन्दित रहते हुए सम्पूर्ण आयु व्यतीत करो, परन्तु पूरे प्रकरण को देखते हुए इस ऋचा का यह आशय नहीं हो सकता। इसी सूक्त के 27 वें मन्त्र में कहा गया है कि हे पत्नी, तू इस पति से सन्तान उत्पन्न कर, परन्तु जब तुम दोनों पति-पत्नी वृद्ध हो जाओगे, तब ज्ञानोपदेश या यज्ञोपदेश किया करना-

'अधा जिन्वी विदथमा पदाथः'।

विदथ का अर्थ निरूकत में ज्ञान और यज्ञ किया गया है और निघण्टु में यह यज्ञवाचक शब्दों में पठित है। इसी सूक्त के 16वें मन्त्र में वधू को कहा गया है कि तू पतिग्रह को जी, जिससे गृहपत्नी बन कर रहे, किन्तु जब तू वशिनी हो जाये, तब (वानप्रस्थ या संन्यास ग्रहण करके) ज्ञानोपदेश या यज्ञोपदेश किया करना।

इस प्रकार वेदोक्त मर्यादा यह सिद्ध होती है कि बूढ़े होने के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम या संन्यासाश्रम में जाकर ज्ञानोपदेश और यज्ञोपदेश करना हैं, इससे पूर्व गृहस्थ भोग करना हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में **'इहैव स्तम्'** आदि मन्त्र का अर्थ करना अभीष्ट हैं। यथा-

हे पति-पत्नी, आप दोनों इह एव स्तम्- इसी पूर्वोक्त मर्यादा में रहो, मा वियौष्टम्= इससे च्युत मत होवो। स्वे गृहे= अपने घर में पुत्रैः नप्तृभिः= पुत्र- पौत्रों, पुत्री-दौहित्रों के साथ क्रीडन्तौ= खेलते हुए,

मौदमानो= आनन्दित होते हुए विश्वम् आयुः= (गृहस्थ की मर्यादा में नियत) सम्पूर्ण आयु व्यश्नुतम्= व्यतीत करो। विश्व शब्द सापेक्ष होता है। प्रकरणानुसार उसका आशय समझना होता है। जैसे, किसी के लिए कहा जाये कि **'विश्व भक्तं भुक्तम् अनेन'** उसने सारा भात खा लिया, तो प्रकरणानुकूल यहीं आशय लिया जाएगा कि बटलोई में जितना भात था वह सब इसने खा लिया। यह तात्पर्य नहीं समझा जाएगा कि संसार भर में जितना भात था वह सब इसने खा लिया। यहीं स्थिति इस मन्त्र में **'विश्व'** शब्द की है। प्रकरणानुकूल **'विश्वम् आयुः'** का यही अर्थ बनता है कि गृहाश्रम की मर्यादा में जितनी आयु है सब पुत्र-पौत्रों के साथ हंसते- खेलते हुए व्यतीत करो। गृहस्थाश्रम मर्यादा की नियत आयु क्या है, इस विषय में मनु ने लिखा है कि गृहस्थ जब देखे कि मेरे शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई हैं, मैं बूढ़ा हो गया हूँ और मेरी सन्तानों के सन्तानें भी हो गयी हैं, तब वह वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर लें।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रसेत्॥

सन्तानों की सन्तानें हो जाने के पश्चात् कुछ समय उनके साथ हंसे- खेलेंगे भी। वेदोक्त मर्यादा भी यही है कि पति-पत्नी जब बूढ़े हो जाए तथा पुत्र- पौत्रों के साथ हंस खेल लें तब वानप्रस्थ हो जाना चाहिए। इस दृष्टि से देखें तो यदि 25 वर्ष की आयु में यदि अपना विवाह हो जाता है, तो वानप्रस्थ या सीधे संन्यास ग्रहण करने का समय लगभग 60 वर्ष की आयु ठहरती है। वैसे विवाह किस आयु में हुआ है, इस पर निर्भर करता है। स्वामी जी ने भी 25, 45 और 48 वर्ष का ब्रह्मचर्याश्रम माना है। अतः सबके लिए गृहत्याग करने की कोई एक निश्चित आयु नहीं है।

गृहत्याग की अन्तिम अवधि की प्रतीक्षा करना भी आवश्यक नहीं है। यदि किसी को विवाह के दस वर्ष बाद ही विरक्ति हो जाती है तो वह उसी समय वानप्रस्थ या संन्यास की दीक्षा ले सकता है। दीक्षा लेने वाले को इसकी प्रतीक्षा करनी होगी कि सच्ची विरक्ति है, या नहीं। संन्यास सब के लिए नहीं है। जो गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण हो तथा संन्यास के कर्त्तव्य पालन करने में जिसकी रूचि हो, उसे ही संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिए, अन्यथा आजीवन वानप्रस्थ रहते हुए आत्मोन्नति भी करे। लोकहित के कार्य भी करे। वानप्रस्थ की दीक्षा लेने के बाद वन में ही चले जाना अनिवार्य नहीं है। पुत्रों के साथ रहने का विकल्प भी है। किन्तु

सब गृहभार पुत्रों पर छोड़कर स्वयं वानप्रस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करना होगा, अर्थात् आत्मोन्नति और परोपकार। **उभे नभसी उभयांश्च लोकन्, ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः।**

तेषा ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे, तस्मिन् पुत्रैर्जरसि संश्रयेथाम् ॥

वर्तमान काल में आश्रम व्यवस्था की प्रासङ्गिकता -

किसी भी कार्य को सम्यक् रूप से सुसम्पादित करने की विधा पर कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व ही यदि उस कार्य के सम्पन्न कराने वाले कारणों पर विचार किया जाये और उसके निमित्त-उपादान- सहयोगी कारणों पर विचार कर उनके विविध पक्षों की समीक्षा कर प्रारम्भ से कार्य के पूर्ण होने तक कार्य के फलाफल का समीक्षण कर लिया जाये, तो कार्य निर्विघ्न रूप से सम्पन्न होता है। जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति यदि किसी भवन का निर्माण कराना चाहता है तो वह वास्तुविशारद के पास जाकर अपनी इच्छा व्यक्त करता है और वास्तुविशारद उसकी इच्छानुसार भवन-निर्माण का एक चित्र निर्मित करता है, जिसमें भवन-निर्माण में प्रयुक्त होने वाली सभी प्रकार की आवश्यक सामग्रियों का तथा उसके कर्मकरों का यहाँ तक कि वह कितने समय में पूर्ण होगा, इसका भी सम्यक् आकलन करता है। भवन- निर्माता के समक्ष भवन की सारी रूप-रेखा प्रस्तुत कर देता है। वह यहाँ तक भी बता देता है कि इस-इस प्रकार इन-इन साधनों से निर्मित भवन की आयु कितनी है? प्रारम्भ से अन्त तक की कालावधि तथा उसकी आयु का परिज्ञान भवन-निर्माता को बता देना, यह किसी विशेषज्ञ वास्तुविशारद की विशेषता है और उसकी इस विशेषता का निर्देश पाकर ही निर्मित-भवन निर्माता की अभिकांक्षा को पूर्ण करता हैं या उसका मनोवाञ्छित् भवन निर्मित हो जाता हैं।

मनुष्य जीवन रूपी भवन के निर्माण के विषय में भी हमारे प्राचीन वैदिक मनीषियों ने प्रारम्भ में ही इस प्रकार का गहन चिन्तन किया और वे यह मानकर चले कि मनुष्य जीवन की आयु सौ वर्ष है- **'शतायुर्वै पुरूषः शतेन्द्रियः**'(श॰ ब्रा॰ 12.3.13) तथा वेद प्रार्थना के अनुसार-'पश्येम शरदः शतम्' (यजु- 36.24) को उन्होंने ने अपने चिन्तन का आधार बनाया। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य की पूर्ण आयु सौ वर्ष है तथा सुविधार्थ कार्य की दृष्टि से उन्होंने उसको चार भागों में विभक्त किया- **शैशव, यौवन, प्रौढता, वार्द्धक्य**। महाकवि कालिदास ने रघुवंशी राजाओं के जीवन-चरित्र का वर्णन करते हुए इसके कार्य का भी स्पष्ट निर्देष कर दिया हैं- **शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।**

वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीयां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

अर्थात् शैशव काल में जीवन क्षेत्र में आने वाली विद्याओं का अभ्यास ज्ञान-विज्ञान, यौवनावस्था में गृहस्थ धर्म का पालन, प्रौढावस्था में अर्थात् वार्द्धक्य में राज्य का परित्याग कर योगारूढ होकर नश्वर शरीर का परित्याग करना। नीतिकारों ने इसी बात को दूसरी प्रकार से कहा है-

प्रथमे नार्जितं विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।

तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति॥

वास्तव में यह सृष्टि की स्वाभाविक प्रक्रिया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि एवं यास्यकराचार्य ने पदार्थों के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसा ही कहा है कि यदि अस्ति और विपरिणमते का समावेश क्रमशः जायते और वर्द्धते में कर दिया जाये तो ये भी चार ही होंगे। इस प्रकार से यह निसर्गसिद्ध अवस्था है। इस अवस्था में व्यवस्था लाने का प्रयास (उपक्रम) हमारे वैदिक मनीषियों के द्वारा किया गया है, जिसे उन्होंने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम की व्यवस्था के नाम से उद्घोषित किया। इस व्यवस्था का स्वरूप काल्पनिक नहीं है, किन्तु निसर्ग के तुल्य है। तत्त्वदर्शी महर्षियों के द्वारा निर्मित आगमों तथा ईश्वर की शाश्वत वाणी नियमों में भी इसका स्पष्ट समुल्लेख किया गया हैं। ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थ होवे, गृहस्थ समाप्त कर वानप्रस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रम समाप्त कर संन्यासी होवे।

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद् वा गृहाद् वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ।

(अथर्ववेदीय जाबालोपनिषद् खण्ड- 4)

जिस दिन वैराग्य होवे उसी दिन घर या वन अर्थात् गृहस्थ से या वानप्रस्थ से अथवा इन दोनों को न करके सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले लेवे। वेदों में ब्रह्मचर्येण शब्दों के प्रयोग के द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम, गृहपते, गृहपत्नी शब्दों के प्रयोग के द्वारा गृहस्थाश्रम तथा यतयः एवं विजानतः शब्दों के द्वारा वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रम का संकेत प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में तो एक स्थान लोकैषणा, वित्तैषणा एवं पुत्रैषणा का परित्याग कर संन्यास आश्रम का आश्रय लेते हैं।

मनुष्य की जीवन यात्रा सौ वर्ष की मानकर ऋषियों ने इसको चार भागों में विभक्त किया, जिसको हम पड़ाव कह सकते हैं अर्थात् यहाँ रूककर (ठहरकर) वा विश्रामकर अगली यात्रा की पूरी साजसज्जा (तैयारी) करते हैं। **आ+श्रम्+घञ्= आङ्** उपसर्गपूर्वक **'श्रमु तपसि खेदे च'** धातु **' घञ् '** प्रत्यय करके आश्रम शब्द

निष्पन्न होता है। आश्रम शब्द का शाब्दिक अर्थ है- "आश्र यन्ति स्वं स्वं तपश्चरन्ति यत्र"- जहाँ रूककर मनुष्य अपने भावी जीवन के अभ्युदय के लिए पुरूषार्थ करता है। मेरे विचार से इस आश्रम- व्यवस्था की धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, सामाजिक दृष्टि से, राष्ट्रिय दृष्टि से या यों कहें कि मानवीय (वैश्विक) दृष्टि से अर्थात् विश्व की समस्त मानव जाति के उत्थान की दृष्टि से रचना की गई है। यह आश्रम- व्यवस्था एक सोपान है, जिस पर आरूढ़ होकर मनुष्य अपने अन्तिम लक्ष्य स्वात्मानन्द में अवस्थित हो जाता है, उसको सहजता से प्राप्त कर लेता है। इस आश्रम- व्यवस्था रूपी सोपान पर परा के द्वारा वह सांसारिक, ऐहिक कार्यों को सम्पन्न करता हुआ राग-द्वेष, मोह-ममता कर परित्याग कर अशेष प्रपञ्च का उपशमन करता हुआ द्वन्द्वातीत निर्द्वन्द्व होकर अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

सृष्टि में स्वाभाविक रूप से सभी प्राणियों में या सभी स्थलों पर यह प्रक्रिया दिखाई देती है, यद्यपि अरण्य में वृक्ष, वनस्पति, औषधि तथा उसके अनुकूल- प्रतिकूल सभी जीव- जन्तु अवस्थित रहते हैं, किन्तु वहाँ सब कुछ होने पर भी कोई जन्तु निश्चिन्त एवं निर्भय नहीं है। यहाँ तक कि वृक्ष, वनस्पति, औषधियाँ वहाँ है किन्तु उनका विकास भी उस प्रकार नहीं हो पाता, जिस प्रकार उद्यान में होता है। कारण स्पष्ट है- अरण्य में सभी वस्तुएँ उपस्थित हैं, व्यवस्थित नहीं। जैसे- वृक्षों का अत्यधिक पार्श्व-पार्श्व एवं अव्यस्थित रूप में होना उनके सर्वांगीण विकास में साधक न होकर बाधक ही होता हैं। यथासमय उन वृक्षों को जल तथा उर्वरक भी प्राप्त नहीं होता इसीलिए उनके विकास में विलम्ब के साथ अपूर्ण विकास की भी सम्भावना बनी रहती है। दूसरी ओर यदि हम उद्यान की ओर दृष्टिपात करते है तो उद्यान के स्वामी के द्वारा विविध वृक्ष, वनस्पति, औषधियों का यथास्थान आरोपण, प्रत्यारोपण एवं यथाकाल जल-सिञ्चन, उर्वरक एवं उनके विरोधी-तत्त्वों से उनको सुरक्षा प्रदान की जाती है तथा उसमें रहने वाले सभी प्राणी निर्भय होकर सुख-पूर्वक विचरते हैं।

जिस वृक्षादि के विकास के लिए अरण्य में अधिक समय लगता हैं, उद्यानों में उससे कम समय में ही उन वृक्षों का विकास हो जाता है। इसमें मुख्य कारण है कि जङ्गलों तथा अरण्यों में यह सभी चीजें अवस्थित है, व्यवस्थित नहीं। दूसरे शब्दों में इसे हम इस प्रकार कह सकते है कि जङ्गलों में अवस्था है, व्यवस्था नहीं। इस आरण्य व्यवस्था से मुक्त कराकर उद्यान की सुखद, सुरम्य अवस्था प्रदान करना ही आश्रम-व्यवस्था का

मुख्य ध्येय है। अब प्रश्न होता है कि क्या यह आश्रम-व्यवस्था वर्त्तमान काल में भी उतनी ही उपयोगी है, जितनी अपने उद्भव काल में थी?

हमारा कहना यह है कि वर्त्तमान समय में मानव जाति की सर्वथा आरण्यकी अवस्था से भिन्न नहीं है। इसका प्रत्यक्ष ज्ञान वर्त्तमान काल की सामाजिक अवस्था को देखने से होता है। नवयुवकों का अनियन्त्रित जीवन,वृद्धों के लिए वृद्धाश्रम तथा शिशुओं के लिए पृथक् स्थान का निर्माण करना आदि हमें यह बता रहे हैं कि वर्त्तमान अवस्था को व्यवस्था कहना ही अनुचित है। नित्य नये असन्तोष, अशान्ति, विद्रोह इस बात को साक्ष्य प्रदान करते हैं कि इस समय पूर्ववत् या पूर्वकाल की भांति आश्रम-व्यवस्था का पुनः शुभारम्भ होना चाहिए। जब रोग अधिक बढ़ता है तो उस रोग के उपशमनार्थ रोगी को उचित औषधि देने का वही उचित काल होता है। रोगी के लिए कल्याणकारी उचित औषधि को यह कहकर नहीं प्रदान करना कि यह औषधि तो पुराने युग की है, बुद्धिमत्ता का कोई लक्षण नहीं है। प्राचीन आश्रम-व्यवस्था के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में अर्थात् पच्चीस वर्ष तक बालक को अपनी विद्या तथा भावी जीवन के उत्थान में आने वाली प्रत्येक वस्तु के विकास का पूर्ण सुनियोजित, सुव्यवस्थित, सुरक्षित, सुअवसर प्रदान किया जाता है। उसके चतुर्दिक् विकास के लिए उसको इस प्रकार के परिसर- वातावरण में रखा जाता था, जिससे उसको उस अवस्था की विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़े और ऐसी ही सुव्यवस्था वैदिक मनीषियों की भाषा में ब्रह्मचर्य आश्रम-व्यवस्था कही जाती थी।

इस प्रकार के गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम की व्यवस्था भी थी। इस प्रकार की व्यवस्था के कारण सभी उद्यान की भांति एक-दूसरे के सहयोगी बने रहते थे। वर्तमान अवस्था में इस आश्रम-व्यवस्था की महती आवश्यकता है। यदि आलस्य, प्रमाद, अज्ञान के कारण पूर्व की कहे जाने वाली आश्रम-व्यवस्था में कोई दोष आ गया तो इस दोष का परिमार्जन कर उसके उदात्त रूप में उसको पुनः सञ्चालित करना चाहिए।

आक्रान्ता जब आक्रमण करता है तो उसके आक्रमण के प्रभाव को रोकने के लिए उचित उपाय करना ही बुद्धिमानी है। वर्तमान समय सामाजिक, राष्ट्रिय, वैश्विक अवस्था विरोधी वृत्तियों से आक्रान्त है, उसकी सुरक्षा का साधन एकमात्र वैदिक मनीषियों द्वारा सुचिन्तित आश्रम-व्यवस्था ही है, दूसरी व्यवस्था नहीं। वृक्ष-संवर्द्धन के लिए उसके मूल में ही उर्वरक, पानी देना उसके विकास में सहयोगी हो सकता है, पत्तों पर जल-सिञ्चन करना तो क्षणिक लाभदायक प्रतीत होता है।

आज हमें विश्व के पुनरूद्धार के लिए इस आश्रम-व्यवस्था के मूल को जल से सिञ्चित करने के प्रयास में जुट जाना चाहिए।

वैदिक चतुराश्रमव्यवस्था-

सनातक वैदिक धर्म की वर्णाश्रमव्यवस्था बड़ी प्रसिद्ध है। जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण व्यवसायानुसार विशाल मनुष्य- समाज के अङ्ग हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम भी सतत उन्नतिशील मानव जीवन के अङ्ग हैं।

वर्णव्यवस्था तथा आश्रमव्यवस्था में कुछ मौलिक अन्तर है। वर्णव्यवस्था जहाँ समाज का अनिवार्य अङ्ग है और चारों वर्णों की समाज की उन्नति के लिए ही नहीं, राष्ट्र की उन्नति के लिए भी, एक समय में विभिन्न प्रकार के कार्यों को शरीर के चारों प्रधान अङ्गों के समान सञ्चालित करने के लिए जैसे आवश्यकता हुआ करती हैं, वैसा आश्रमव्यवस्था में नहीं है। क्योंकि आश्रम का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से अधिक है, समाज से कम। सामान्यत: मनुष्य की सौ वर्ष की आयु को दृष्टिगत करते हुए आरम्भ के 25 वर्ष ब्रह्मचर्यश्रम नाम से, अनन्तर के 25 वर्ष गृहस्थाश्रम नाम से, तदनन्तर के 25 वर्ष वानप्रस्थाश्रम नाम से और अन्तिम 25 वर्ष संन्यासाश्रम नाम से विभाजित किये गये हैं। ये चार आश्रम जीवन की चार अवस्थायें हैं।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसने विद्या, धन और पुण्य का उपार्जन क्रमश: ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में रहकर नहीं किया तो वह चौथी जीवन की अवस्था में सब शरीरेन्द्रिय जीर्ण होने पर संन्यासाश्रम का पालन तो दूर, कुछ भी नहीं कर सकेगा।

शास्त्र- परम्परा बताती है कि जो विद्वान्, तपस्वी और विरक्त नहीं है, उसे संन्यास ग्रहण करने का अधिकार ही नहीं है। युवावस्था में 25 वर्ष के अनन्तर गृहस्थ आश्रम हेतु विवाह करना किसी पुरुष के लिए अनिवार्य नहीं है, भले ही अधिकांश लोग इस अवस्था में विवाह कर गृहस्थ जीवन जीते है। उसी प्रकार किसी कन्या के लिए भी 16 या 18 वर्ष के अनन्तर विवाह संस्कार द्वारा गृहस्थाश्रम में जाना अनिवार्य न होकर उसकी स्वेच्छा पर अधिक निर्भर है कि वह आजीवन कौमार्यव्रत धारण करे अथवा गृहस्थ में रहे। इसी प्रकार गृहास्थाश्रम पूर्ण कर वानप्रस्थ में जाना, न जाना अथवा गृहस्थ से ही सीधे संन्यासश्रम में प्रवेश करने का विकल्प विद्यमान है। बस, अनिवार्य है तो केवल ब्रह्मचर्यश्रम, जिसका परिपालन और अनुष्ठान स्त्री- पुरूष

मनुष्यमात्र के लिए अपरिहार्य बताया गया हैं। इसका कारण और प्रयोजन मनुष्य के शरीर और बुद्धि के सम्यक् विकास और आने वाले जीवन संग्राम में सबल और सुशिक्षित होकर विचरना और देश-जाति-धर्म की रक्षा करना है। इस प्रसङ्ग में ऋषि दयानन्द के निम्नाङ्कित वचन द्रष्टव्य हैं-

वेदसंहिताओं में आश्रमनिर्देश- वेदों में स्पष्टतः आश्रम शब्द का प्रयोग देखने में नहीं आता, यद्यपि श्रम शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है और अथर्ववेद में भी। ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचारी शब्दों का अनेक प्रयोग अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के पञ्चम सूक्त में तो है ही, ऋग्वेद में भी में ब्रह्मचारी शब्द प्रयुक्त है। इसी प्रकार गृह, गृहाः, गार्हपत्य, पति, पत्नी, दम्पती इत्यादि शब्दों के प्रयोग ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी मिलते हैं। इससे ब्रह्मचर्यश्रम और गृहाश्रम के प्रतिपादन की मन्त्रों से पुष्टि हो जाती है। परन्तु वानप्रस्थ और संन्यास जैसे बाद के दो आश्रमों के सम्बन्ध में स्पष्टोकित नहीं दिखाई देती। तथापि ऋग्वेद में ही मुनिः, मुनयः, मुनीमान्, यतिः, यतयः, यति यः, यतीमान्, यतये, इत्यादि शब्दों के प्रयोग इस बात के द्योतक है कि वेद की दृष्टि में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम भी वेदानुकूल हैं। मनुस्मृत्यादि, धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में तो इन चारों आश्रमों और उनके कर्त्तव्यों कर्मों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, और ये वेदसमर्थक तथा वेदानुकूल आर्ष ग्रन्थ प्रमाण माने जाते है। उपनिषदों, ब्राह्मण-आरण्यक ग्रन्थों तथा सूत्रग्रन्थों में भी चातुराश्रम्य के वर्णन मिलना उनके वैदिकत्व को दर्शाते है। ऋषि दयानन्द ने तो अपनी विमल मेधा से वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रमों के प्रतिपादक अनेक वेदमन्त्र संस्कारविधि आदि ग्रंन्थों में उद्धृत किए हैं। सत्यार्थ-प्रकाश में मुण्डकोपषिषद् के इस श्लोक को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं-

वेदान्तविज्ञानसु निश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे॥

(मु॰ उप॰ 3.2.6)

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर-प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यासयोग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं, वे परमेश्वर में मुक्तिसुख को प्राप्त हो, भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है, तब वहाँ से छूटकर संसार में आते हैं। मुक्ति के बिना दुःख का नाश नहीं होता। क्योंकि- **"न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः** जो देहधारी है, वह सुख-दुख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीररहित जीवात्मा

मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है, तब उसको सुख: दुख प्राप्त नहीं होता। इसलिए **'लोकैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च पुत्रैषणायाश्चोत्थाय भैक्षचर्यं चरन्ति।'** लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ, धन से भोग वा मान्य, पुत्रादि के मोह से अलग होकर संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात-दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं। (सत्यार्थ- प्रकाश, पञ्चम समुल्लास)

मुण्डकोपनिषद् के सन्दर्भित मन्त्र में एकसाथ **'संन्यासयोगसद् यतयः'** शब्द पढ़े गये हैं। इससे स्पष्ट हैं कि यतिशब्द का योगरूढ अर्थ संन्यासी हुआ करता हैं। तदनुसार ही ऋग्वेदभाष्य में ऋषि दयानन्द ने **'यतीनाम्= संन्यासिनाम्'** (ऋग्वेदभाष्य 1.158.6), **'यतये=यतमानाय संन्यासिने'** (ऋग्वेद भाष्य 7.13.1) इन वेदमन्त्रों में प्रयुक्त यतिशब्द का अर्थ संन्यासी किया है। इतने से, वेद में संन्यासाश्रम का वर्णन यतिशब्द के प्रयोग से हुआ है; यह सिद्ध होता है। ऋषि दयानन्द ने अन्य मु॰ उप॰ के श्लोक (1.2.11) को संस्कारविधि में वानप्रस्थ संस्कार के स बन्ध में भी प्रमाणत्वेन उद्धृत किया हैं-

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्ति अरण्ये शान्ता विद्वांसे भैक्षचर्यां चरन्तः।

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरूषो ह्यव्ययात्मा॥

और वानप्रस्थ तथा संन्यास दोनों की सम्पुष्टि में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में प्रमाणरूप में अर्थसहित दर्शाया है। इससे चारों आश्रमों का वेदप्रतिपादित होना सिद्ध होता है। ऋग्वेद 7.56.8 में आये **'मुनिः इव'** पदों का अर्थ **'मननशीलो विद्वान् इव'** भाष्य में दर्शाना यह ध्वनित करता है कि वेद में वानप्रस्थ और संन्यास दोनों आश्रम भी मान्य हैं।

मनुस्मृति तथा उपनिषदों के प्रमाण से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी को भिक्षाचरणपूर्वक अपने-अपने आश्रम के कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। वर्त्तमान युग में इन आश्रमों के यथाविधि परिपालन पर विशेष बल देते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने अपनी प्रस्थानत्रयी- ऋ॰ भा॰ भुमिका, सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि में भी भिक्षाचरणपूर्वक जीवननिर्वाह की बात गृहस्थों को छोड़कर अन्य तीनों आश्रमियों के लिए लिखी है। किन्तु आज के समय में क्या इस प्रकार का भिक्षाचरण सम्भव है? कदाचित् नहीं। देश-काल परिस्थितियाँ सब को स्वावलम्बी बनने की ओर प्रेरित कर रही हैं। इसलिए आज शिक्षा और भोजन का शुल्क देकर तथाकथित पूर्वाश्रमी ब्रह्मचारी या विद्यार्थी शिक्षा संस्थाओं में अध्ययन कर रहे हैं। अथवा, किन्हीं गुरुकुलों और संस्कृत पाठशालाओं में निर्धन बालक-बालिकायें दानियों से प्राप्त दान से यत्किञ्चित् शिक्षा

ग्रहण कर रहे हैं। परन्तु वे भी घर-घर भिक्षा हेतु नहीं जाया करते। भले ही वेदारम्भ संस्कार में **"भवती भिक्षां देहि"** इत्यादि वाक्य द्वारा वह माता आदि से भिक्षा आदि ग्रहण करने का उपक्रम किया करते हैं। उधर, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में प्रविष्ट होने वाले लोग अब अरण्यनिवास कदाचित् ही कोई करते होंगे। वे प्राय: अपने घरों में ही परिवर्त्तित आश्रमी बन कर रहते हैं, अथवा पेंशन या अन्य आय का निश्चित स्त्रोत बनाकर घर में, अथवा घर से दूर किसी मन्दिर, वानप्रस्थाश्रम या संन्यासाश्रम में रहते दिखाई देते हैं। इनमें वास्वतिक साधक, तपस्वी, योगी, विद्वान, धर्मात्मा, परोपकारव्रती कितने होंगे, कहा नहीं जा सकता। जो भी हो, कुछ तो उन आश्रमों में रहकर महान् कार्य कर रहे हैं। वर्तमान में विविध तपस्वी सिद्ध, साधक-साधिकाएँ इसके सुन्दर निर्देशन हैं।

आश्रमचतुष्टय की उपयोगिता-

चार वर्णों के समान चार आश्रमों की भारतीय परम्परा अतीव प्राचीन है। भारत के राजा-महाराजा तक प्राचीन काल में आश्रमव्यवस्था का पूर्ण पालन किया करते थे। महाकवि कालिदास, जोकि महाराजा विक्रमादित्य के समकालीन माने जाते हैं, ने अपने रघुवंश महाकाव्य के आरम्भ में इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं की जीवनपद्धति का एक महत्त्वपूर्ण चित्रण इस श्लोक में किया है-

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने गृहमेधिनाम् ।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीयां योगेनान्ते तनूत्यजाम् ॥

अर्थात् मर्यादा पुरूषोतम श्री रामचन्द्र के पूर्वज सब राजाओं की यह परम्परा रही है कि वे जीवन के प्रभातकाल कौमारवस्था में गुरूओं के आश्रमों में जाकर विद्याध्ययन किया करते थे। युवावस्था प्राप्त होने पर विद्योपार्जन के पश्चात् विधिवत् विवाह संस्कार कर गृहाश्रम में रहकर राजकाज किया करते थे। तीसरी अवस्था में वानप्रस्थ आरश्रम में प्रवेश कर अरण्यनिवास काल में मुनिवृति धारण करते थे और अन्तिम काल में योगाभ्यास द्वारा प्राणत्याग किया करते थे। उधर, अभिज्ञानशाकुन्तलम् नामक विश्वप्रसिद्ध अपने नाटक में भी कालिदास ने वृद्धावस्था में अर्थात् वानप्रस्थ हेतु पति राजा दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के महर्षि कण्व के आश्रम की ओर आने का वर्णन **"शान्तयै करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्"** इन शब्दों से किया है। कहने का आशय

यह हैं कि यह आश्रमव्यवस्था आर्यसंस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण पहलू थी। जिससे समाज और राष्ट्र में समरसता व सौमनस्य थे। अज्ञान, अन्याय और अभावों का निराकरण होकर सब लोग सुखी और स्वस्थ रहते थे। क्योंकि चारों आश्रम अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं, और एक दूसरे के पूरक हैं। जैसे कि प्रथम विद्याधययन का 25 वर्ष तक का समय मनुष्य के शारीरिक और बौद्धिक विकास और उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक तथा उपयोगी है, उसके पश्चात् सृष्टिक्रम को बनाये रखने के लिये, जैसा कि कहा गया है- **'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छैत्सीः"**। (तै॰ उप॰)। सन्तानोत्पत्ति हेतु और सांसारिक सुखोपभोग हेतु गृहाश्रम भी आवश्यक है और महत्त्वपूर्ण है। इस आश्रम को तो महर्षि मनु ने अन्य तीनों आश्रमों का धारण और पालन करने वाला श्रेष्ठ और ज्येष्ठाश्रम कहा है- तृतीय वानप्रस्थाश्रम संयमी और तपोमय जीवन जीते हुए स्वाध्याय और सत्सङ्ग द्वारा ज्ञानवर्धन के लिए भी उपयोगी है। इस काल में प्राचीन समय में ऋषि-मुनियों के द्वारा उपनिषदों और आरण्यकों जैसे अध्यात्मज्ञान के अमूल्य निधियों का प्रणयन किया गया। वे ही आगन्तुक जिज्ञासुओं को शिष्य बनाकर उन्हें अनेक विद्याओं का उपदेश देकर विद्वान् बनाया करते थे। इससे ध्वनित होता है कि वानप्रस्थ आश्रम का समय अनुभवी विद्वान गुरूओं के द्वारा योग्य और विनेय शिष्यों में अपना अनुभव और ज्ञान वितरित करने का भी उपयुक्त काल हुआ करता था। वर्त्तमान में भी यथासम्भव गुरुकुलों में इस परम्परा को पुनः प्रचालित किया जा सकता है।

अन्तिम संन्यास आश्रम तो सर्वोच्च है। कहा जाता है कि सबका गुरू वेदज्ञ ब्राह्मण और ब्राह्मण का भी गुरू संन्यासी हुआ करता है। इस आश्रम के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द ने कुछ उद्गारों का उल्लेख यहाँ पर करना अप्रासङ्गिक न होगा। वे लिखते हैं- संन्यास संस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़के विक्रत होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे- **'सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स संन्यासः। संन्यासो विद्यते यस्य स सन्न्यासी।'** संन्यास में दृढ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है। (संस्कार-विधि, संन्यासप्रकरण) सत्यार्थप्रकाश के पञ्चम समुल्लास में वानप्रस्थ के साथ संन्यास आश्रम के सम्बन्ध में बहुत विस्तार में मनुस्मृति आदि के आधार पर चर्चा की गई हैं। वहाँ पर के कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं- संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण का ही धर्म हैं या क्षत्रियादि का भी? क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान् धार्मिक परोपकारप्रिय मनुष्य है, उसी का ब्राह्मण नाम है। बिना पूर्णविद्या, धर्म, परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष

उपकार नहीं हो सकता। इसलिए लोकश्रुति हैं कि ब्राह्मण को संन्यास का अधिकार हैं, अन्य को नहीं। यह मनु का प्रमाण भी है-जैसे शरीर में सिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों संन्यासश्रम की आवश्यकता है। क्योंकि इसके बिना विद्या धर्म कभी नहीं बढ़ सकता और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़कर वर्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है। जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता। क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता, जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा तो आप डूबेगा, औरों को भी डुबोवेगा। इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिए ब्रह्मचर्य, सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के लिए गृहस्थ, विचार, ध्यान और विज्ञान बढ़ाने, तपश्चर्या करने के लिए वानप्रस्थ और वेदादि सत्य शास्त्रों का प्रचार, धर्मव्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सबको निःसन्देह करने आदि के लिए संन्यासाश्रम हैं। परन्तु जो इस संन्यास के मुख्यधर्म सत्योपदेशादि नहीं करते, वे पतित और नरकगामी हैं।" (सत्यार्थप्रकाश, पञ्चम समु॰) "ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं। क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिए, और पूर्ण विद्या को पढ़कर उससे संसार की उन्नति करने के लिए गृहाश्रम भी अवश्य करें। तथा विद्या और संसार के उपकार के लिए एकान्त में बैठकर जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है, उसका ज्ञान अच्छी प्रकार करें, और मनुष्यों को व्यवहारों का उपदेश करें। फिर उनके सब सन्देहों का छेंदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिए संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें। क्योंकि इसके बिना सम्पूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन हैं।"

वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की वैदिकता एवं प्राचीनता-

मानवजीवन एक यात्रा है। यह यात्रा है भवसागर से तरने की। यात्रा सदा ही अपने मूल निवास स्थान से प्रारम्भ होकर पुनः वहीं समाप्त हो जाती हैं। इस प्रवास काल में व्यक्ति को अनेक प्रकार की असुविधाएँ और कष्ट सहन करने पड़ते है तथा पर्याप्त परिश्रम भी करना पड़ता है। पुनरपि यह यात्रा व प्रवास कुछ ही दिनों का है, प्रवास को समाप्त कर पुनः अपने घर पहुँचना ही है, ऐसा समझकर व्यक्ति प्रवास-काल के कष्टों

को सहर्ष सह लेता है। यात्रा जितनी योजनाबद्ध होगी, उतनी ही सुख एवं शान्ति से युक्त होगी। मानव जीवन की यात्रा भी अनेक दु:खों, विघ्नों एवं कष्टों सें युक्त है और इसकी परिपूर्णता के लिए आ-समन्तात् अर्थात् सर्वविध श्रम-परिश्रम, पुरूषार्थ की आवश्यकता है। बस इसी यात्राविशेष की परिपूर्णता के लिए, सफलता के लिए योजनाबद्ध व्यवस्था ही आश्रमव्यवस्था है। व्यक्ति अपनी जीवन-यात्रा को पृथिवी-लोक से प्रारम्भ कर अन्तरिक्ष-लोक में पहुँचता है, अन्तरिक्ष-लोक से द्युलोक में पहुँचता है और वहाँ से स्वर्लोक में पहुँचकर वहाँ स्व-स्थान की नित्य एवं शाश्वत आनन्दानुभूति प्राप्त करता हुआ स्व-जीवन-यात्रा समाप्त कर लेता है-

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारूहमन्तरिक्षाछिवमारूहम्।

दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥

(यजु:० 17.67)

अत: मानवों की यह यात्रा चार पड़ावों से युक्त है। वे पड़ाव है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। यही आश्रम-व्यवस्था वैदिक काल में लोक-व्यवस्था के नाम से व्यवहृत होती थी। जो कि मन्वादि के काल से आश्रम-व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस आश्रम-व्यवस्था (लोक-व्यवस्था) का उल्लेख वेद में अन्यत्र कहाँ-कहाँ है। वेद कहता है-**'प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना'** (साम०- 51)। व्यक्ति को ब्रह्मचर्य जीवन में **दैवोदास** अर्थात् देवों= माता, पिता, आचार्य और विद्वानों का दास-सेवक बनना चाहिए। जिससे वह अपने ब्रह्मचर्यश्रम में आयु, विद्या, यश और सर्वविध बल प्राप्त कर सकें। आगे वेद भगवान् कहता है कि अग्नि= अग्रे-णी:अर्थात् गृहस्थाश्रम में शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक दृष्टि से अग्रसर हो, अधिक से अधिक विकसित हो और साथ में लौकिक जीवन-यात्रा की आनन्दानुभूति प्राप्त करे। मन्त्र का आगे का कथन है- **देव:**= व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में अपनी जीवन-यात्रा को एक क्रीड़ा समझे। क्रीड़ा में जैसे सभी कष्टों, चोटों को हँसते हुए सहन करते हैं, वैसे ही अपनी जीवन-यात्रा के तृतीय पड़ाव में सभी कष्टों को क्रीड़ाङ्ग समझ कर सहर्ष तपोमय जीवन बिताना चाहिए, साधना-स्वाध्याय करना चाहिए, जिससे दिव्यत्व प्राप्त हो। ऋचा का अन्तिम उपदेश हैं- **प्रमज्मना इन्द्रो न**- व्यक्ति को ब्रह्म में लीन होकर, ब्रह्माश्रमी, तुरीयाश्रमी बनकर इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् प्रभु के तुल्य आनन्दानुभूति, नित्यानन्द को प्राप्त करना चाहिए।

अबोध्यग्नि: समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।

यह्वाइव प्र वयामुज्जिहाना: प्रभ्भानव: सस्त्रते नाकमच्छ॥

(साम॰- 76)

समिधा= तीनों लोकों की प्रतिनिधि रूप समिधाओं से ब्रह्मचारी **अग्निः**- ज्ञानाग्नि के रूप में **अबोधि**= उद्‌बुद्ध किया गया है। गृहस्थी को **प्रति-आयतीत् उषाम्**= प्रत्येक आने वाले उष:काल में अर्थात् प्रतिदिन **जनानाम्**= अपनी सन्तानादि बन्धु-मित्रों और अन्य तीन आश्रमियों का **धेनुमिव**= धेनु की भांति नि:स्वार्थ भावना से एवं पूर्ण-युक्त होकर पालन-पोषण करना चाहिए। इस कर्त्तवय-पालन के पश्चात् उसी गृहस्थ की मोह-माया में नहीं रहना चाहिए, अपितु **यह्वाः इव**= पक्षियों के समान **वयाम्**= शाखा को, घर को **प्र उज्जिहानाः**-त्यागकर वनस्थ होना चाहिए। उस वानप्रस्था में तप से राक्षसी वृतियों का नाश कर, स्वाध्याय से ज्ञानाग्नि को विवेक प्रदीप्त करके संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होना चाहिए। उस उत्तराश्रम में **भानवः**= सूर्य के समान ज्ञान-ज्योतिष्मान् संन्यासी **नाकम् अच्छ प्र सस्त्रते**= मोक्ष की ओर अग्रसर होते हैं और तत्तुल्य ही निरन्तर परिभ्रमण करते हुए लोक- कल्याण के लिए अज्ञानान्धकार का नाश करते हैं।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।

प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्‌वशी ॥

(अथर्व॰ 11.5)

आचार्य : ब्रह्मचारी= आचार्य ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्याश्रम होता हैं। **प्रजापतिः ब्रह्मचारी**= प्रजापालक आदर्श गृहस्थ भी ब्रह्मचर्या व्रतों कर पालन करने वाला होता हैं। **प्रजापतिः विराजित**= वह आदर्श गृहस्थ तेजस्वी वानप्रस्थ बनता हैं और वह **विराट्**= तेजस्वी वानप्रस्थ **वशी इन्द्रः**- इन्द्रियों को सम्पूर्ण रूप से स्वाधीनकर चुका हुआ अर्थात् पापभावनाओं को नितान्त समाप्त कर चुका हुआ यति= संन्यासी अभवद् = होता हैं। यहाँ चारों आश्रमों के उल्लेख के साथ-साथ यह भी उपदिष्ट है कि चारों आश्रमों में भोग-विलासों को त्यागकर आदर्श ब्रह्मचर्या व्रतों का पालन करना चाहिए, जिससे अपनी और समाज की उन्नति होती हैं।

इन्द्र - परमैश्वर्यमान् परमात्मा **यतिःन**= संन्यासी के समान **वृत्रं जघान**= उपासकों में विद्यमान अज्ञानान्धकार एवं पाप वासनाओं को नष्ट करता है। यहाँ स्पष्ट रूप से संन्यासी का एवं उसके कर्त्तव्य-कर्मों का उल्लेख हैं कि वह स्वयं इन्द्रियों का दमन करने वाला यति बनें, लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणाओं का त्याग करना चाहिए और समाज में व्याप्त कदाचार, पाप-भावनाओं तथा अज्ञानान्धकार रूपी बादलों को सूर्य की

भांति छिन्न-भिन्न कर देना चाहिए अर्थात् संन्यासी को साधना से अपना आत्मोत्थान करते हुए नि:स्वार्थ भावना से लोकोपकार में अहर्निश संलग्न रहना चाहिए।

जो यति= संन्यासी हैं और जो भृगु= तेजस्वी, तपस्वी संन्यासी हैं। मुनि= वानप्रस्थी लोग सभी देवों के मित्र और सत्कर्म करने वाले होते हैं। अभी तक हमने इन दोनों आश्रमों की वैदिकता की पुष्टि में निदर्शनार्थ कुछ सार्थ मन्त्र उपस्थित किये हैं। उसे और भी अनेक मन्त्र हैं, जिनसे इनकी वैदिकता सिद्ध होती है। उद्धृत मन्त्रों से यह भी सिद्ध हो जाता हैं कि जब ये मन्त्र मानव-समाज को प्राप्त हुए थे, तभी से इन आश्रमों का अस्तित्व था। इतना ही नहीं जब ऋषि लोग मन्त्रों का दर्शन कर रहे थे, उस समय तक इन दो आश्रमों का भी अच्छा प्रचलन हो गया था। क्योंकि कुछ मन्त्रों का द्रष्टा वैखानस ऋषि है। वानप्रस्थिओं को ही प्राचीन (वैदिक) काल में वैखानस कहते थे। इन वैखानसों के नियम व्रतों का उल्लेख जिस ग्रंन्थ में हो, वह वैखानसशास्त्र कहलाता हैं। और इनकी स्वस्थता की कामना से गाय गया साम भी 'वैखानससाम' कहलाता हैं।

श्रम जीवन का यथार्थ हैं, परिश्रम जीवन की चुनौती है और आश्रम जीवन की कसौटी। पाणिनीय धातुपाठ में "श्रमु तपसि खेदे च धातु पठित" हैं। तप तथा खेद के क्रमश: पीड़ा, कष्ट, अग्नि, सूर्य, ग्रीष्मता, तपस्या आदि तथा दु:ख, यन्त्रणा, अवसाद, आलस्य, उदासी, थकान आदि वाच्यार्थ प्रसिद्ध हैं। तपस्या, थकान आदि वाच्यार्थक इसी श्रमु धातु से घञन्त श्रम शब्दोत्पत्ति हुई है तथा विभिन्न प्रत्ययान्त श्रमण, श्रमिक आदि शब्दों की भी। श्रमु के सोपसर्ग होने पर विश्रम (विश्राम) परिश्रम आश्रम शब्द विस्तार होते हैं। इन शब्दों का वही अधारभूत अर्थ है कठोर कार्य, कड़ी मेहनत, कठोरता, मेहनत चाहे शारीरिक, आत्मिक किसी भी प्रकार की हो।

आश्रम पदार्थ- श्रम व्यक्ति को जीवन्त रखता है, परिश्रम कार्य विशेष का पूरक बनता है एवं आश्रम लक्ष्य का प्रेरक योग-क्षेम का संयोजक, गौण-मुखय का द्योतक व अध्यात्म का आनन्द होता है।

आश्रायन्ति अस्मिन् इति आश्रम: - अर्थात् आश्रम वह जीवन का स्तर है जिसमें व्यक्ति कठोर और बहुत श्रम करता है, यानि आश्रम श्रम, परिश्रम का क्षेत्र है, स्थल है। आश्रा यन्ति स्वं स्वं तपश्चरन्त्यत्र इति आश्रम: अर्थात् आश्रम वह है जहाँ सभी अपने-अपने तप= तप: स्वकर्मवर्तित्वम्, कर्त्तव्य के पालन को सफ-लीभूत करते हैं तथा आश्रम वह है जहाँ अज्ञान, निपीडन, भोग- विलास, अध्यान से श्रान्त प्राण विश्राम लेते हैं। आश्रम की विद्यालय, शरण= विश्रामस्थान, साधना, साधु की कुटिया इन विधाओं में से कोई भी विधा को

आ समन्तात् श्रमः आश्रमः, तपस्या, साधना, मेहनत सर्वत्र है। श्रम जड़, चेतन सभी करते हैं, बिना श्रम के वृक्ष, लता, वल्लरी आदि नहीं बढ़ते। पशु-पक्षी भी अपना आहार श्रम से ही जुटाते हैं, पर मनुष्य का श्रम इनसे बहुत भिन्न है, अतः वह श्रम आश्रम है। आश्रम का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के वैयक्तिक जीवन से है। व्यक्ति के आयुकाल को ही आश्रम रूप चार भागों में बाँटा गया है।

आश्रम वर्ग - आश्रम का वर्गीकरण करते हुए मनु महाराज ने लिखा है-

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।

एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रम॥

(मनु॰ 6.87)

अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा यति ये गृहस्थ से उत्पन्न पृथक्-पृथक् चार आश्रम हैं। ये चारों आश्रम व्यक्ति को सन्तुलित बनाकर परिवार, समाज, राष्ट्र सभी को सुख, सौविध्य, आनन्द प्रदान करते हैं। इन आश्रमों का अपना-अपना महत्तव है। यथा-

ब्रह्मचर्याश्रम- ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा के विकास का प्रयत्न करता हुआ आचार्य के सान्निध्य में कठोर श्रम करते हुए ज्ञानार्जन करता है।

गृहस्थाश्रम- गृहस्थ में यौवनप्राप्त व्यक्ति श्रमपूर्वक पारिवारिक दायित्वों का वहन करते हुए, राष्ट्र की धरोहर सन्तानों कर पालन, पोषण एवं अन्य तीन आश्रमों को संरक्षण देता है।

वानप्रस्थाश्रम- वानप्रस्थ में व्यक्ति गृहस्थ में जोड़े गये नानाविधि साधनों के प्रति वैराग्य की भावना स्थिर करता है। जीवन के लक्ष्य अध्यात्म अग्नि को उद्दीप्त करता है।

संन्यासाश्रम- इस चतुर्थ संन्यासाश्रम में अनासक्ति की भूमि पर खड़े होकर व्यक्ति स्थितप्रज्ञ की साधना करते हुए ईश्वर के साक्षात्कार की धुन में संलग्न रहता है। प्राणिमात्र के हित को अपना तथा सबका हित समझता है।

आश्रम व शास्त्र-

सर्वहितकारी चारों आश्रमों का वर्णन नाम व अनुक्रम भेद से प्राचीन धर्मसूत्रों में पर्याप्त हुआ है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र, गौतम धर्मसूत्र, वसिष्ठ धर्मसूत्र व बौधायन धर्मसूत्र ने इन चार आश्रमों को मान्यता प्रदान

की है। जाबालोपनिषसद् में भी चार आश्रमों का प्रतिपादन है। इन धर्मसूत्र आदि ग्रंन्थों में तृतीय वानप्रस्थ को मुनि व वैखानस भी कहा है एवं चतुर्थ संन्यास को परिव्राट्, परिव्राजक, भिक्षु, जति, मुनि नाम दिया है। छान्दोग्य उपनिषत्कार वानप्रस्थ और संन्यास दोनों को एक ही मानते है।

वेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों में आश्रम शब्द का नामोच्चारण पूर्वक ग्रहण नहीं है तथापि इन वैदिक ग्रन्थों में ब्रह्मचारी, ब्रह्मचेंण, गृहपतिम्, गार्हपत्याय, मुनीनाम्, वने तस्थौ पलितः, यति आदि शब्द आये हैं, एवं इन आश्रमों का महत्त्व, उद्देश्य आदि का भली-भाँति प्रतिपादन हुआ है, अतः ये आश्रम निःसन्देह वेदोक्त हैं। आश्रमों की इसी वैदिकता के आधार पर इन चार आश्रमों का व्याख्यान धर्मसूत्रों, स्मृतियों एवं उपनिषद् आदि में किया है। संस्कारविधि, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, सत्यार्थ-प्रकाश आदि अपने ग्रन्थों में महर्षि दयानन्द ने भी चार आश्रमों की व्याख्या वेद तथा ब्राह्मण, स्मृति आदि ग्रन्थों के प्रमाणों को ही आधार मानकर की है। और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, की सिद्धि का आश्रमों को साधन बताया है।

<u>आश्रम प्रक्रम-</u>

इन चार आश्रमों का क्रम क्या होना चाहिए, इसका स्पष्टीकरण करते हुए बौधायन तथा जाबालोपनिषद् में कहा है- **ब्रह्मचर्या परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूतवा प्रव्रजेत्।**

(जाबालोप०- 4)

अर्थात् ब्रह्मचर्य को पूर्ण कर गृहस्थ होवे, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ होवे, वानप्रस्थ का पालन कर संन्यास लेवे। जाबालोपनिषद् के इस कथन के दक्षस्मृति, मनुस्मृति तथा वेदान्त दर्शन भी पोषक हैं। तात्पर्य हुआ प्रत्येक आश्रम का अनुक्रम से ग्रहण होना चाहिए, व्यक्तिक्रम से नहीं। बौधायन धर्मसूत्र तथा जाबालोपनिषद् में जहाँ अनुक्रम की बात कही है, वहीं विक्रम का पक्ष भी व्याख्यात किया है-

यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा।

यद् अहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ॥

(जाबालो० 4 ॥ बौधा० धर्म० 2.1.28)

अर्थात् ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही संन्यासी होवे, गृहस्थ के पश्चात् वानप्रस्थ होवे तथा वानप्रस्थ के पश्चात् संन्यासी होवे। जिस दिन ही विरक्त होवे, उस दिन ही संन्यासी होवे।

जाबालोपनिषद् के इस विक्रम पक्ष के, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य स्मृति, वसिष्ठ स्मृति एवं विष्णु स्मृति भी समर्थक हैं ।

वानप्रस्थ उच्छिन्नता –

गौतम एवं बौधायन धर्मसूत्रों ने समाज व वैयक्तिक जीवन को सन्तुलित, सुखद करने वाले इन चार आश्रमों में से केवल एक गृहस्थ आश्रम को ही महत्त्व दिया है, उसके पश्चात् संन्यास को। ब्रह्मचर्य एवं वानप्रस्थ को यत्किञ्चित् भी महत्त्व नहीं दिया। धर्मसूत्रों की इस पक्षवाद की व्याख्या ने ब्रह्मचर्य एवं वानप्रस्थ को नगण्य बना दिया, जिससे उनकी अनुपयोगिता के समर्थक वचन गढ़े गये। यथा–

कलियुगे तु ब्रह्मचर्यवानप्रस्थै न स्तः, केवलं गृहस्थभिक्षुकाश्रमावेव॥

(शब्दकल्पद्रुपकोष, पृ॰ 195)

अर्थात् कलियुग में ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ नहीं होते, केवल गृहस्थ और भिक्षुक आश्रम ही होते हैं।

इसी प्रकार महानिर्वाणतन्त्र में कहा गया–

गार्हस्थो भैक्षुकश्चैव आश्रमौ द्वौ कलौ युगे।

अर्थात् कलियुग में गृहस्थ और भिक्षुक दो ही आश्रम होते हैं। इन वचनों से स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ समाज में विस्तृत हो गये, इनको महत्त्व नहीं दिया गया। ब्रह्मचर्य पुनरपि उपनयन संस्कार के रूप में स्मृत रहा परन्तु वानप्रस्थ आश्रम तो वेद तथा प्राचीन धर्मसूत्रों में व्याख्यात होते हुए भी नितान्त विस्मृत हो गया। षोडश संख्या वाले संस्कारों में वानप्रस्थ का कोई स्थान नहीं रहा।

वैदिक आश्रम व्यवस्था–

वेदानुसार सृष्टि के आदि में जब मानव सृष्टि का सर्जन हुआ तो वे सभी पृथिवी के गर्भ से उत्पन्न तरूण शिशु थे। पृथिवी और द्यौ दोनों माता के तुल्य उनकी रक्षा कर रही थी। वैदिक आश्रम–व्यवस्था के सन्दर्भ में विचार करते हुए प्रश्न उत्पन्न होता है कि आदि सृष्टि के मानवों का क्या आश्रम था? क्या उनका वर्ण था? वैदिक प्रमाणों के आधार पर आदि सृष्टि के मानव ब्रह्मज्ञानी थे। अत एवं उन्हें ब्राह्मण कहा जा

सकता है। ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान को कर्मरूप देने के लिये श्रम करने को तत्पर हुए अत: आश्रमी कहलाने लगे। उनमें से अग्नि, वायु आदि कुछ ऋषि साक्षात्कृतधर्मा थे। उन्होंने अपने दूसरे भ्राताओं को जोकि साक्षात्कृतधर्मा नहीं थे, विद्या का उपदेश दिया। उनके इस उपदेश के साथ ही ब्रह्मचर्य आश्रम की परिकल्पना ने जन्म लिया। विद्या पढ़ने पर उनमें से कुछ आजीवन ब्रह्मचारी रहे और विद्या के पठन-पाठन को ही अपनी जीवनचर्या बनाया। उनके कुछ सहपाठियों ने गृहस्थाश्रम को अपनाकर मानव की नई पीढ़ी को उत्पन्न करने का व्रत लिया। इस प्रकार आरम्भ में ब्रह्मचर्य आश्रम का उदय हुआ। कुछ काल पश्चात् गृहस्थाश्रम का जन्म हुआ। मैथुनी सृष्टि में जो नये बालक जन्मे उनको सुसंस्कृत बनाने के लिये ऋषियों ने पृथक् से गुरूकुलों की स्थापना की। उन गुरूकुलों में प्रथम आचार्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी (जो प्रथम सृष्टि में उत्पन्न हुए थे) बने। कालान्तर में गृहस्थ भोगकर पराङ्मुख हुए लोग वानप्रस्थ की ओर प्रवृत्त हुए और वे गुरूकुलों में जाकर विद्या पढ़ाने का काम करने लगे। आगे चलकर वैराग्यवृत्ति बढ़ जाने पर कुछ मनीषियों ने संन्यास आश्रम को अपना लिया और विरक्त होकर भूतल पर विचरने लगे। इन्होंने धर्म प्रचार और मोक्षमार्ग का विशेष उपदेश किया। महाभारत के कथानानुसार सृष्टि के आदि में सभी ब्राह्मण पैदा हुए थे-

असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मप्रजापति

(महाभारत 12.18.1.1)

पश्चात् उन ब्राह्मणों से क्षत्रिय आदि तीन वर्णों की उत्पत्ति हुई-

संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषु वर्णेषु सृष्टय:।

यहाँ प्रश्न है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने ब्राह्मणों को ही क्यों उत्पन्न किया? याज्ञवल्क्य के समय में भी सम्भवत: यह प्रश्न उठा था। उन्होंने इसका समाधान किया। वे लिखते है-

तपस्तप्त्वाऽसृजद् ब्रह्मा ब्राह्मणान्वेदगुप्तये।
तृप्त्यर्थं पितृदेवानां धर्मरक्षणाय च ॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति 1.1.9)

अर्थात्- वेद की रक्षा, पितृ और देवों की तृप्ति तथा धर्ममर्यादा को जीवित रखने के लिये ब्राह्मणों को उत्पन्न किया। मैत्रायणी संहिता में कहा गया है-

यद् धैर्यं सोमो वै स: ततो ब्राह्मणमसृजत तस्माद् ब्राह्मण: सर्वेषां वर्णानां धीर: ॥

मनु के अनुसार धैर्य धर्म का प्रथम लक्षण है। उसी धैर्य के कारण ब्राह्मण धर्म की प्रतिमूर्ति है। ब्राह्मण से युद्ध में द्रोही की नहीं द्रोह की मृत्यु होती है। अपने उपकार से वह द्रोही को जीतता है।

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्।

ब्राह्मण मार खाकर भी मीठा ही बोलता है। यह उसकी युद्धकला है। ब्राह्मण वेद की निधि है। वह जो भी बोलता है वेद के अनुकूल बोलता है। उसकी वाणी ही नहीं उसका जीवन बोलता है। इसीलिये उसके शब्दों में बल होता है। ऋषियों ने एक व्यवस्था बनाई थी। जिसके अनुसार- ब्रह्मचर्याश्रम समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥ अर्थात्- ब्रह्मचर्य आश्रम को पूरा करके गृहस्थ बनकर व्यक्ति को पूरी तरह परोपकार के कार्यों में लग जाना चाहिए। वानप्रस्थ होकर व्यक्ति का जीवन तपोमय होना जरूरी है तभी वह स्वयं को परोपकार के कार्यों में लगा सकेगा।

संन्यास आश्रम एवं वानप्रस्थ आश्रम भी मानव जीवन को पूर्णता देने के लिए एक पड़ाव ही था। इसके बाद उसे अन्तिम अर्थात् संन्यास- आश्रम में प्रवेश करना होता था। इसका निर्देश महर्षि दयानन्द सरस्वती जी सत्यार्थ-प्रकाश के पाँचवें समुल्लास में इस प्रकार करते हैं-

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥

संन्यासी की इस श्रेष्ठता के पीछे उसकी योग्यता को ही आधार माना जा सकता है अन्यथा आज भी कई प्रकार के तथाकथित भगवे वस्त्रधारी गलियों में लोगों को मूर्ख बनाते हुए फिरते रहते हैं। अतः केवल वस्त्रों का बदल लेना भर ही संन्यासी हो जाना नहीं है बल्कि जैसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ के गुण-कर्म-स्वभाव बताए गए हैं वैसे ही संन्यासी के भीतर कुछ विशेष योग्यताओं का होना अपेक्षित है तभी वह सच्चा संन्यासी बन सकता है। पचहत्तर वर्ष की आयु पूर्ण हो जाने पर व्यक्ति को पूर्णतः परमात्मा के प्रति समर्पित हो जाना चाहिए। भगवे वस्त्र इसीलिए पहने जाते है क्योंकि वे ब्रह्माग्नि के प्रतीक हैं। संन्यासी बनने के बाद व्यक्ति किसी प्रकार की सीमाओं में न बन्धकर पूरे संसार का हो जाता था। वह पुत्रेषणा, वितैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठकर पूर्णरूप से पावन- पवित्र हो जाता था। इसीलिए योग्यता के आधार पर महर्षि दयानन्द जी ने केवल ब्राह्मण को ही संन्यासी होने का निर्देश दिया है।

व्यक्ति ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी केवल नाम से नहीं बन जाता है बल्कि उसके कोई विशेष कर्त्तव्य होते हैं जिनका निर्वहन करने से ही वह वैसा कहलाने का अधिकारी होता है।

आश्रम व्यवस्था का दार्शनिक दृष्टिकोण-

वैदिक काल में भारतीय दीर्घायु होते थे। वे दैनन्दिन सन्ध्योपासना में शतायु और स्वस्थ होने की प्रार्थना किया करते थे- ऐसा वैदिक आर्यों की नित्यकर्म पद्धति में सम्मिलित था। वैसे भी आश्रम शब्द का निरुक्त एवं धातुपरक अर्थ होता है **'श्रम सहित'**। नियमित एवं संयत श्रम द्वारा ही जीवन सुखी हो सकता है। वैदिक आश्रम-व्यवस्था ने सुखी एवं समृद्ध जीवन का मूलाधार वेदानुमोदित संयमित व तत्त्वज्ञान की प्राप्ति था, तथा आत्मपरिष्कार भी इसमें सम्मिलित था। वानप्रस्थी तपस्वी बन वर्षा, शीत, ग्रीष्म आदि ऋतुओं के द्वन्द्वों को सहन करने में सदैव उद्यत रहता था। वह दिन का अधिकांश भाग मौन में व्यतीत करता था और दिन में तीन बार स्नान किया करता था। **अ यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।**

व्रतञ्च श्रद्धाञ्चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽहम्॥

(यजुः० 2०.24)

इस मन्त्र के अनुसार वानप्रस्थी अग्नि में होम कर दीक्षित होकर व्रत सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होकर वानप्रस्थ हो विविध प्रकार की तपश्चर्या, सत्सङ्ग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता को प्राप्त किया करता था। इस प्रकार वानप्रस्थी का जीवनकाल स्वाध्याय और योगाभ्यास द्वारा सतत विकासोन्मुख होता हुआ संन्यास की ओर प्रस्थान करता था।

संन्यासाश्रम वैदिक आश्रम-व्यवस्था का चतुर्थ व अन्तिम सोपान है संन्यास। इस आश्रम का अवधिकाल पचहत्तर वर्ष से लेकर सौ वर्ष तक नियत था। मनुस्मृति के छठे अध्याय का तैंतीसवां श्लोक इस आश्रम में प्रवेश का वर्णन करते हुए कहता है-

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥

अर्थात् वनों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होकर आयु के चौथे भाग में सङ्ग त्यागकर परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जाए।

संन्यासाश्रम वैदिक जीवन व्यवस्था का अन्तिम लक्ष्य है जिसका उद्देश्य है परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति। संन्यासी अबाध एवं स्वच्छन्द ज्ञान का प्रचार-प्रसार हुआ भ्रमण करता था और इसी कारण उसे परिव्राजक कहा जाता था। बहुधा वानप्रस्थ आश्रम के पश्चात् संन्यास की प्रथा रही है तथापि ब्रह्मचर्याश्रम से ही युवावस्था में कई संन्यास ग्रहण कर लेते थे इस तथ्य की पुष्टि ब्राह्मणग्रन्थ अर्थवेदीय, जाबालोपनिषद् खण्ड-4 से होती है जिसमें कहा है-

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा, ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रतेत् ॥

लोकैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च पुत्रैषणायाश्च उत्थायाथ भैक्षचर्यं चरन्ति।

(श० प० 14.5.2)

संन्यासी लोक प्रतिष्ठा, धन-लाभ, पुत्र-कलत्र भोगादि का मोह छोड़कर भिक्षुक बन अहर्निश मोक्षसाधन में तत्पर रहते थे।

संन्यासी सबको समदृष्टि से देखता था वह एक बार कद्दू, काष्ठ अथवा मृत्तिका से बना पात्र लेकर भोजन के निमित्त गाँव में जाया करता था। वह पूजित भिक्षाग्रहण नहीं करता था और न ही वानप्रस्थिओं से भिक्षा लेता था। वह निष्काम भाव से केवल उपदेश देना और ब्रह्मचिन्तन करना ही अपना कर्त्तव्य समझता था। संस्कारों से पृथक् रहने के लिए वह सदैव मृत्यु को स्मरण रखता था। अनवधानता से की गयी हिंसा पर संन्यासी पश्चात्ताप करता था। सर्व कर्म-बन्धन से मुक्ति तथा ब्रह्मपद की प्राप्ति के लिए संन्यासी इन्द्रिय-संयम तथा कठिन तपश्चर्या को धारण करता था।

वैदिक संन्यास कोई पलायनवादी प्रवृति का पोषक संन्यास नहीं रहा है। यह तो ज्ञान और कर्म दोनों के समन्वय का पोषक व समर्थक संन्यास रहा है। इस तथ्य की पुष्टि ईशोपनिषद् (यजु:० 4०.2) में हुई है जिसमें कहा गया है। **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।**

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अत एवं सारांश रूप में एवं व्यावहारिक दृष्टि से वैदिक आश्रम-व्यवस्था का दिग्दर्शन इस प्रकार से कराया जा सकता है- ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी अपनी शक्तियों का अधिकाधिक सञ्चय करता है अतएव वह आश्रमं योग का पालन करता है अत: इस आश्रम पर गणित का योग-सिद्धान्त सम्यक्तया चरितार्थ होता है।

(1) गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचारी सञ्चित् शक्तियों का गृहीत दायित्वों के सुचारू रूप से निर्वहन के लिए सदुपयोग करता है क्योंकि व्यय के लिए सञ्चय अनिवार्य नियम है। अत: यह आश्रम गणितीय घटन का पालन करता है अर्थात् इस आश्रम में गणित का व्यवकलन सिद्धान्त चरितार्थ होता है।

(2) वानप्रस्थ आश्रम में वानप्रस्थी उपभोक्ता शक्तियों का पुन: चक्रण करता है अर्थात् जितनी सञ्चित शक्तियों का गृहस्थ-काल में दायित्व निवर्हन में व्यय हुआ उसका ही गुणित सञ्चय किया जाता है अत: यह आश्रम गुणन का पालन करता है अर्थात् इस आश्रम में गणित का गुणन-सिद्धान्त सटीक रूप से चरितार्थ होता है।

(3) संन्यासाश्रम में वानप्रस्थी पुन: चक्रित व सञ्चित द्विगुणित शक्तियों व उपलब्धियों को मानव समाज के कल्याण के लिए बांटता है तथा आत्मोत्थान के लिए व्यय करता है। अत: संन्यास के दोहरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोहरी प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है।

अतएव यह आश्रम भाग का पालन करता है क्योंकि बांट वही सकता है जिसके पास बांटने के लिए कुछ हो दरिद्र क्या खाक बांटेगा? और यदि बांटेगा भी तो मात्र दरिद्रता ही बांट सकता है अन्य कुछ नहीं। संन्यासी के पास बांटने के लिए समस्त जीवन का अनुभव, समस्त जीवन की समग्र सम्पदा होती है अत: संन्यासी वास्वतिक अर्थों में देवता होता है।

यति या संन्यास आश्रम- चतुर्थ आश्रम, जिस मनु ने यति कहा है, में उन्होंने सङ्ग के त्याग की बात कही है **'त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्'** जिसका तात्पर्य है सङ्ग अर्थात् लोभ-मोह को और उसकी सन्तति काम, क्रोध, राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि को छोड़कर आत्मभाव के विस्तार के हेतु साधनारत रहे।

वर्तमान काल में प्राचीन शैली के गुरुकुलों के न होने से, ब्रह्मचर्यकालीन के जीवन के विकृत होने से न केवल गृहस्थ आश्रम दु:खपूर्ण है अपितु वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में विद्यमान जनों का जीवन भी वैदिक आश्रम परम्परा मुख्यत: मनु द्वारा निर्दिष्ट आश्रम व्यवस्था से सर्वथा दूर होकर केवल नाममात्र के लिए रह गया है। संन्यासी जनों का जीवन तो पूर्व समय के गृह और सम्पत्ति का त्याग करके जिस किसी बहाने से

बड़े-बड़े मठों के रूप में अपार सम्पत्ति का स्वामी बनने के प्रयत्न से युक्त होने के कारण यह प्रवृत्ति वैदिक संस्कृति के अनुरूप नहीं मानी जा सकती।

आज की स्थिति भारतीय संन्यास परम्परा के आदर्श के अनुरुप न होकर विद्रूपता का वह आकार ग्रहण कर चुकी है जिसका स्पष्ट निर्देश हमें विविध समाचार माध्यमों से समय-समय पर मिलता है। शाहजहाँपुर का साध्वी चिदर्पिता काण्ड आज सुर्खियों में बना हुआ है। तथ्य चाहे जो कुछ भी हो किन्तु यह भारतीय संस्कृति पर आघात का संकेतक है।

ऐसी स्थिति में स्त्रियों के निमित्त संन्यास परम्परा में रहकर साधना का जीवन वर्तमान में निरापद नहीं रह गया है। ऐसी मेरी निजी मान्यता है। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है, कि अपवाद सर्वत्र घटित होते हैं। इसको सामान्यीकृत कर ग्रहण करना विवेक परक भी नहीं हैं।

आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य

आश्रम-व्यवस्था में प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। इसमें गुरू के सान्निध्य में रहकर ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्या का अध्ययन किया जाता है।

गृहस्थाश्रम-

प्राचीन आश्रम-व्यवस्था में ढला हुआ ब्रह्मचारी ही सद्गृहस्थ बन सकता है। वह शरीर से भी पूर्ण स्वस्थ होगा। अतः रोगमुक्त रहेगा। उसने ब्रह्मचर्यश्रम में नियन्त्रित एवं त्याग-तपस्यामय जीवन व्यतीत करना सीख लिया है, इसलिए वह भोगों की ओर अन्धा होकर नहीं भागेगा। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** के आदर्श को ऐसा गृहस्थ ही पूर्ण कर सकता है। ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में आने वाला व्यक्ति भोगों की नदी में डूब नहीं जाएगा, अपितु वह इस आश्रम का उपयोग **'जनता दैव्यं जनम्'** के रूप में करेगा। यहाँ यह भी अवधेय है कि गृहस्थाश्रम सबके लिए अनिवार्य नहीं है। यह आपद्धर्म है तथा उनके लिए है जो स पूर्ण आयु ब्रह्मचारी न रह सकें तो 25 वर्ष के बाद सद्गृहस्थ बन जाएँ। ब्रह्मचर्य सबके लिए अनिवार्य है।

गृहस्थाश्रम उपेक्षणीय तथा निन्दनीय भी नहीं है। यही सब आश्रमों का आधार है इसीलिए मनु ने इसकी पर्याप्त प्रशंसा की है। इसके साथ ही गृहस्थ के लिए विविध कर्त्तव्यों का निधन भी कर दिया गया है।

पञ्च महायज्ञ भी इसके अन्तर्गत ही आते हैं। सामाजिक एवं राष्ट्रिय कार्य धन से ही सफल होते हैं, इसलिए उपनिषद् के ऋषि ने '**श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्**' को साथ लगा दिया है। वेद ने तो पहले ही '**शतहस्तः समाहर सहस्त्रहस्तः सङ्किर**' कह दिया था। गृहस्थ में भी उन्मुक्त भोग की आज्ञा शास्त्र नहीं देते, अपितु '**ऋतुकालाभिगामी स्यात्**' कहकर मनु तो गृहस्थ को भी ब्रह्मचर्य की ओर ही ले जा रहे हैं। गृहस्थ में पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थायी है और अविच्छेद्य माना गया है।

संन्यासाश्रम-

संन्यासी तो पूर्णतः मुक्त होता है। वानप्रस्थ में रहकर उसने तपस्या तथा साधना के द्वारा आत्मविकास भी किया है तथा साथ ही विभिन्न क्षेत्रों में समाज की निःसृष्ट सेवा भी की है। संन्यास में भी वह इसी क्रम को आगे बढ़ाता है। किन्तु इसकी साधना के साथ-साथ वह अपने उपदेशों से लोक-कल्याण भी करता है। इसीलिए स्वामी दयानन्द कहते है कि जितना उपदेश का अवसर संन्यासी को मिलता है, उतना किसी को नहीं। भारत में तो संन्यासियों की भरमार है, किन्तु इस पुनीत कार्य में उनका बहुत कम प्रतिशत लगा हुआ है। संन्यासी बनकर, दान माँगकर सुख-सुविधाओं से सम्पन्न आश्रम बनाना, कार्य कुछ भी न करना, किन्तु अच्छी कारों में यात्रा करना, शिष्य-शिष्याएँ बनाना इत्यादि प्रवञ्चना के कार्यों में ही अधिकतर संन्यासी फंसे रहते है। कुछ संन्यासी अपने परिवारों में ही रहते हैं, यह भारतीय आश्रम व्यवस्था के अनुरुप नहीं है।

आज तो ये चारों ही आश्रम विकृति-ग्रस्त हैं। यदि शुद्ध स्वरूप में इनका पालन किया जाए तो एक ओर जहाँ सामाजिक एवं राष्ट्रिय लाभ होगा, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति अपना सभी प्रकार का विकास करके अपने परम पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि कर सकेगा।

आश्रम व्यवस्था की उपयोगिता

परमार्थ-प्राप्ति को प्रयतमान-पुरुष शतायु हो, एतदर्थ दीर्घजीवी, दूरदर्शी मन्त्रद्रष्टाओं ने आश्रम-व्यवस्था का विधान किया। सतयुग में आयु चार सौ वर्ष, त्रेता में तीन सौ वर्ष तथा द्वापर में दो सौ वर्ष माना गया है- वैदिक, पौराणिक वाङ्मय में उपलब्ध है। '**त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्**' इसमें तीन सौ वर्ष

का संकेत प्राप्त है, महाभारत में भीष्म पितामह तीन पीढ़ी तक जीवित रहे, त्र्यायुष वे स्वेच्छा-मृत्यु का वरण कर उत्तरायण में दिवङ्गत हुए। कलियुग की आयु का निर्देश- जीवेम शरदः शतं के साथ भूयश्च शरदः शतात् से संङ्केतित किया है कि कम से कम सौ वर्ष तथा शताधिक जीवन भी जीएं।

आर्य मानव मननशील, प्रगतिशील होने के कारण सदैव व्यवस्थित जीवन जीने का पक्षपाती रहा है। उसने चारों वेदों को चतुर्दिशाओं के समान अपने जीवन से संपृक्त किया। अतः उसने समाज को '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**' चार भागों में बांटा। हमारा शरीर भी तो चतुर्धा विभक्त है- 1. स्कन्धोपरि मुख है? गृहस्थ धर्म और भार्या यदि परस्पर वशवर्ती हो तो तब इन तीनों का संयोग शुभदायी होता है। गीता (7.11) में भी कहा है कि '**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ**'। धर्मानुकूल काम का य है, हाँ '**प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः**' द्वारा काम वंशवुद्धि का कारण भी निर्दिष्ट है। प्रजा (सृष्टि) प्रसार के लिए कितना प्रजनन अपेक्ष्य है इस विषय में शरीर प्रकृति का गुप्त सन्देश बोधव्य है। यथा दो कान, एक जिह्वा, अधिक सुनो, कम बोलो तथा बत्तीस दांतों व ओष्ठक पाटों में संयत जीभ कहती है कि मुझे संयत रखिए अन्यथा-

रहिमन जिह्वा बावरी कह गई स्वर्ग पताल ।

आप तो कह भीतर गई जूती पड़ी कपाल॥

एवमेव दांतों की बत्तीस संख्या भी भोजन के ग्रास को बत्तीस बार चबाने का और बारीक पिसे, पानी बने ग्रास को निगलने का स्वास्थ्यप्रद निर्देश है। इसी प्रकार प्रजनन में भी स्तन-संख्या संकेतिक करती है कि शूकरी 8-10 स्तन, कूकरी 6-8 स्तन तथा गाय-भैसादि को 4 स्तन उतनी ही सन्तति-उत्पादन का प्राकृतिक संङ्केत है अतः नारी (नर) अपने स्तन संख्याधार पर ही प्रजनन करें। '**दुई-दुई सुत सब भ्रातन जाए।**' भगवान राम के लव-कुश इसका स्पष्ट निर्देश हैं। इस आश्रम के 8 वर्ष वंशवृद्धि, 8 वर्ष धनार्जन तथा आगामी 8 वर्ष अर्थ- काम-समन्वय द्वारा धर्मवृत्ति से अन्य आश्रमों की सेवा तथा अन्तिम वर्ष में पुनः वन की ओर प्रस्थान का अभ्यास विधेय है। मानव का जन्म गिरि-वनों में ही हुआ है, अतः प्रारम्भिक जीवन (चतुर्थांश) वनों में ब्रह्म (वेद) उपासना में बिताकर आगामी चतुर्थांश ग्रहण-संग्रहण में व्यस्त रहकर पुनः विश्राम- करणार्थ वन में कृत को प्रतिफलित करने के लिए वानप्रस्थ आश्रम कर सहारा लेना है।

वानप्रस्थ- वन में प्रकृष्ठ स्थिति में समन्तात् श्रममग्न होकर मानव पूर्व के आश्रमद्वय का अनुभवाश्रित विस्तार करें। इससे प्रथम 8-10 वर्ष अनुभवों का लेखन-श्रवण तथा निर्देशन। फिर अग्रिम 8-10 वर्ष ब्रह्मचारियों के अध्यापन- मार्ग दर्शन में लगाने चाहिएं। अवशेष वर्षों में संन्यास का अभ्यास विधेय है।

रिस रिस सूख सरित सर पानी । ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥

(रामचरितमानस)

क्रमश: ममत्व का त्याग तथा परिभुक्त का पाचन करके उसका स यक् न्यास कर परिव्रज्या उन्मुख हो। यदि आधुनिक गुरुकुलों के समीप वानप्रस्थ आश्रमों की स्थापना की जाए तो आज के युग में भी वानप्रस्थ सफल हो सकता है, अन्यथा सा प्रतिकक परिवेश में वानप्रस्थ के लिए कोई स्थान दृश्य नहीं है। यद्यपि संन्यासी अब भी सीधे ब्रह्मचर्य से या दाम्पत्य से प्रव्रजित होते दीखते हैं पर वानप्रस्थ तो लुप्तप्राय: हैं।

संन्यास- सम्यक् न्यास, शिखा-सूत्र के त्याग के साथ धर्म, अर्थ, काम का उपभोग कर उसे कर्मफल त्यागवत् परे रखकर परमार्थ मुक्ति की ओर अग्रसर होना। शास्त्रों में कुछ नियम इस प्रकार रखे गए हैं- यथा एक दिन से अधिक ग्रासवान न करना, परिग्रह संग्रह से बचना, सात घरों में भिक्षा एक बार करके आहारवृत्ति तथा योग-साधना व प्रव्रज्या, उपदेशों द्वारा धर्म प्रचार-प्रसार प्रमुख कार्य है। यद्यपि पाराशर स्मृति में कलियुग में (वर्तमान परिवेश में) संन्यास साध्य नहीं बताया है। यथा-

अश्वाल भं गवाल भं संन्यासं पलयैतृकम्।

देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

वर्तमान वातावरण संन्यास के उपयुक्त भी नहीं है, इस यान्त्रिक युग में शान्त- वनों का अभाव है। खान-पान, जल-वायु सब प्रदूषित है फिर भी यथा सम्भव परिवर्त्तित रूप में संन्यास सम्भाव्य है।

पूर्वार्चिक पावमान काण्ड सामवेद में एक मन्त्र वानप्रस्थ का निर्देशक है-

आ सोम स्वानो। जनो न पुरि च वोर्विशद् हरि: सदो वनेषु दधिषे॥

आध्यात्मिक भाष्य पं. विश्वनाथ विधामार्तण्डकृत में अर्थ किया है- हे भक्तिरस, जैसे जनता नतर में प्रविष्ठ होती है वैसे भक्ति रस मानो द्युलोक व भूलोक में भरपूर हुआ है। हरि-क्लेशापहारी तू वनों में वानप्रस्थियों में हे भक्तिरस! तूने निवास किया है।

निष्कर्षत: चारों आश्रमों में - **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समा:'** कर्म- श्रम करते हुए ही जीवन निर्दिष्ट है। निरन्तर श्रम द्वारा जीपनयापन करते हुए, पारिवारिक टकराव से बचने के लिए महर्षियों की इस आश्रम-व्यवस्था में, सामप्रतिक संसार में दो ही मुख्यत: प्रचलन में हैं- गृहस्थ या संन्सास। वह भी आधुनिक रूप में। ब्रह्मचर्य अब केवल शिक्षा प्रासि तक सीमित रह गया है, परन्तु छात्र ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त गार्हस्थ्य का लक्ष्य रखकर पढ़ते हैं अत: एक गृहस्थाश्रम ही सर्वोपरि मान्य रह गया है। संन्यास केवल वृद्धाश्रमों में ही सिमट कर रह गया है।

यदि आर्य मानव आज भी युगानुकूल आश्रम-व्यवस्था कर, परम पुरुषार्थ की ओर अग्रसर होना चाहे तो उसे वेदोक्त आश्रम-व्यवस्थिति में कुछ सुधार कर उसे लागू करके सुखी जीवन का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

ब्रह्मचारी के धर्म का निरूपण-

स्मार्त ग्रन्थों में वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था का विसद विवरण प्राप्त होता है शायद ही जीवन का कोई अंश हो जिसका नियमन इन ग्रन्थों में न किया गया हो। ब्रह्मचर्य आश्रम के सम्बन्ध में आचार, व्यवहार, भोजन, अध्याय, अनध्याय, शुद्धि, अशुद्धि, सन्ध्या, अग्निहोत्र, प्रायश्चित, गुरुपरिचर्या।

वैदिक संस्कृति की अनुपम देन : आश्रम-व्यवस्था-

सृष्टि का एक विधान है- परिवर्त्तन। इस परिवर्त्तनशील सृष्टि में मनुष्य-जीवन भी कभी एक सा नहीं रहा है। मनुष्य के जन्म और मृत्यु के बीच की यात्रा परिवर्त्तनों के पदचिह्नों से भरी दृष्टिगोचर होती है। जन्म के पश्चात् 5-6 वर्षों में शरीर की वृद्धि, पहले 20-25 वर्षों में वृद्धि की वृद्धि फिर मनुष्य स्थिर अवस्था में पहुँचता है। मनुष्य की यह स्थिर अवस्था 40-50 वर्ष तक की स्थिति में देखी जा सकती है, किन्तु मस्तिष्क के विकास की प्रक्रिया अवश्य ही चलती रहती है। यहीं से प्रादुर्भाव होता है- विरक्ति- भावना का जो कि मृत्यु काल तक टिकती है। सौ वर्ष के काल-निर्धारण की इस यात्रा में मनुष्यों चार अवस्थाओं से मार्गक्रमण करता है- 1. बुद्धि, 2. परिपाक, 3. वात्सल्य, 4. विरक्ति। मनुष्य- जीवन की चार अवस्थाएँ आश्रम-व्यवस्था को जन्म देने के कारण बनी हैं।

संन्यासाश्रम- प्राचीन काल में सर्वसङ्गपरित्याग कर केवल भिक्षा पर अपनी उप-जीविका करते हुए मोक्षप्राप्ति के लिए ध्यान-धारणा-साधना में रत रहते हुए समाज में एक विशेष वर्ग निर्मित हुआ, जिसे अपना घर नहीं था। नित भ्रमण करता था, उसे परिव्राजक की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। परिव्राट, यति, मुनि, श्रमण, वैखानस इस संज्ञा से युक्त यह वर्ग आर्याव्रत में था। वैदिक आर्यसमाज में वैराग्य, मोक्ष की ओर बढ़ते हुए रुझान के कारण इस वर्ग को संन्यासश्रम में स्थान दिया गया।

संन्यासाश्रम सांसारिकता से मुक्त, किसी तरह की घोषणा से सम्बन्ध न रखते हुए, सृष्टि के रहस्यों को उद्घाटित करनेवाला आश्रम है। आत्मा, परमात्मा संन्यासियों के चिन्तन के विषय रहे है। उसके सम्मुख वह अलौकिक सत्ता ही है। उस सत्ता की सतत उपासना में वह लगा रहता है। इस तरह संन्यासी ज्योतिर्मय का पथिक बन जाता है। पथिक का एकमात्र लक्ष्य होता है ब्रह्म का साक्षात्कार होना, आनन्दधाम को प्राप्त करना। सच्चा संन्यासी इस लक्ष्य को प्राप्त करता है। मनुस्मृति में प्रश्नोत्तर के माध्यम से संन्यासियों के लक्षणों को व्यक्त किया गया है। मनु के अनुसार जो संन्यासी से अलग अन्य साधु, वैरागी, गोसाई, खाखी हैं, वे संन्यासाश्रम में स्थान पाने योग्य नहीं हैं क्योंकि ये सभी सत्यान्वेषक नहीं हैं, वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त हैं, अन्य सम्प्रदाओं के मत भी हैं।

संन्यासाश्रम के तीन प्रकार हैं-

1. क्रम संन्यासाश्रम, पूर्व के तीन आश्रमों को पार करते हुए इस आश्रम में पदार्पण करना।
2. ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास को धारण करना।
3. जब विरक्ति की भावना तीव्र हो तभी संन्यास ले लेना। उपनिषदों में संन्यास को आयु से नहीं, भावना से अधिक जोड़ा गया है।

वैदिक संस्कृति का उज्जवलतम स्वरूप आश्रम-व्यवस्था केवल भारत में ही दिखाई देती हैं। यद्यपि इनमें न्यूनाधिक अन्तर जरूर आये हैं इसका कारण समय और विचारों का परिवर्त्तन हैं। आधुनिक विचारों का

परिवर्त्तन भी पूर्णरूप से इस आश्रम-व्यवस्था को समाप्त कर नहीं सका है। जहाँ वैदिक विचारधाराएँ प्रचलन में हैं, वहाँ यह आश्रम-व्यवस्था ज्यों कि त्यों दृष्टिगोचर होती हैं।

भारत में प्रचलित मत, पन्थ, सम्प्रदायों ने अपनी संकीर्णता के कारण इस व्यवस्था से मुख मोड़ लिया है, किन्तु जहाँ धर्म की अवधारणा अपने सच्चे अर्थों में है वहाँ यह आश्रम-व्यवस्था जीवन के चार स्त भों के रूप में अवश्य ही देखी जी सकती हैं।

आश्रम-व्यवस्था का चतुर्थ सोपान संन्यास आश्रम है। वानप्रस्थ आश्रम में एक सीमित भाग तक रहकर परोपकार करने का, स्वाध्याय द्वारा आत्मज्ञान बोध का, अपरिग्रहवृत्ति के अभ्यास द्वारा भौतिक आवश्यकताओं को कम करने का, उपासना की साधना द्वारा आत्मिक शक्ति का विकास कर पूर्णत: गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण बनकर संन्यास-ग्रहण की पात्रता का विकास कर लेता हैं।

संन्यास आश्रम पूर्णत: संसार को छोड़ने का, शरीर को त्यागने का, वित्तैषणा-पुत्रैषणा तथा लोकैषणा को त्यागकर अपवर्ग के मार्ग को प्रशस्त कर मृत्यु की तैयारी का आश्रम है। गेरुए वस्त्र अग्नि के प्रतीक होते है, उससे मृत्यु से न डरकर अपितु आने पर प्रसन्नता से स्वागत करने का बोध प्राप्त कराने वाले गेरुए वस्त्र हैं। गेरुए वस्त्र पहन लेना मात्र तथा वन में रहने मात्र का नाम संन्यास नहीं है। अपितु-

'काम्यानां कर्मणां न्यास इति संन्यास:'

काम्य कर्मों का न्यास= परित्याग करने का नाम संन्यास है। वर्त्तमान में कुछ लोग संन्यासी इसलिए बनते है के अधिक धन प्राप्त हो, अधिक सम्मान मिले, बिना श्रम के सुख-सुविधा प्राप्त हो। कुछ तथाकथित संन्यासी तो प्रकाशन संस्था, दीन-अनाथ संस्था आदि के नाम से धन अर्जित कर अपनी आलीशान कोठियाँ, जमीन-जायदाद तथा बैंक-बैलेंस बनाने में रत हैं। यह आडम्बर है, धोखा है, दूसरों को ठगने का जाल है, अपवर्ग मार्ग को खोना है, मनुष्य शरीर को निरर्थक करना है।

प्राचीन कालीन आश्रम-व्यवस्था में ऐसे संन्यासी होते थे। आज भी आश्रम-व्यवस्था को सही दिशा प्राप्त हो तो **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** की सार्थकता पूर्णतया सम्भव है।

जीवन-मूल्यों के पुनर्निमाण में आश्रम-व्यवस्था का योगदान-

सौ वर्ष की आयु में प्रथम 25 वर्ष शारीरिक बल-सञ्चयन, ज्ञान-वर्धन एवं आचरण-निर्माण के हैं। अंग्रेजी में एक कहावत है-The students are the back bone of the nation. अर्थात् विद्यार्थी ही किसी भी राष्ट्र-निर्माण होगा। प्राचीन ऋषियों ने जीवन-निर्माण के लिए, राष्ट्र के सम्यक् संवर्धन के लिए छात्र-जीवन पर विशेष ध्यान दिया। सर्वप्रथम उन्होंने छात्र की संज्ञा ब्रह्मचारी रखकर उसे महत्वपूर्ण बनाया। उन्होंने आवश्यक समझा कि नगर के, परिवार के वातावरण से दूर रहकर इन्हें संयम की साधना में लगाना है। अपने जीवन की धारा को बदलना है, मन को स्वाध्याय परहित-चिन्तन में प्रवृत्त करना है। वर्तमान में व्यक्ति सेवा-निवृत होने पर कर्म करना, श्रम करना छोड़ देता है। बहुत से तो मात्र वस्त्र बदलकर कर्म करना ही छोड़ देते हैं। लेकिन आश्रम-व्यवस्था में जीवन पर्यन्त कर्म करने की साधना को आश्रम कहा है। मात्र गेरुए वस्त्र पहनकर संसार के लोगों से येन-केन प्रकारेण धनादि-संग्रह करने का नाम संन्सास नहीं है।

यह दुःखद है कि आज सच्चे संन्यासियों का अभाव है। कोई राजनीति के मोह-जाल में, तो कोई उच्चपद की लालसा में, तो कोई लोकैषणा आदि के जाल में आबद्ध है। यह सब मूल अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम के निर्माण को सही दिशा न प्राप्त होने से है। तप संयम का अभ्यास उत्तम शिक्षा प्रणाली में सहयोग करता है।

आश्रम व्यवस्था का विकास-क्रम-

आर्य जीवन पद्धति में वैयक्तिक जीवन के संयमन में आश्रम-व्यवस्था की एक विशिष्ट भूमिका रही है। समाज और उसके सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को सम्यक् और सन्तुलित बनाकर एक सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण करने में इस व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

वैदिक वाङ्मय की परम्परा में आने वाले ग्रन्थों में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर जब हम आश्रम-व्यवस्था और इसके विकास के स्वरूप पर विचार करते हैं तब इसकी समसामयिक उपयोगिता और महत्ता का स्पष्टीकरण हो जाता है।

1. संहिता काल-

विभिन्न संहिताओं में आश्रम शब्द का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु मात्र इसी आधार पर यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि तत्कालीन समाज के लोग आश्रम-जीवन से पूर्णत: अनभिज्ञ थे। वैदिक साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन करने के बाद हमें आश्रम सम्बन्धी जिन क्रिया-कलापों का संकेत मिलता है, उनके आधार पर निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

ऋग्वेद के एक सूक्त में केवल ब्रह्मचारी शब्द का उल्लेख ही नहीं है, बल्कि उसमें कहा गया है कि स्त्री के अभाव में वृहस्पति ब्रह्मचर्य नियम का पालन करते हैं, एवं देवों के साथ एकात्म हो गये हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि पवमान सूक्त पढ़ने वालों के ऊपर सरस्वती प्रसन्न होती है तथा उनके लिए स्वयं क्षौर, घृन और मदकर सोम का दोहन करती है। इन विभिन्न विवरणों के आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि वैदिककाल में भी ब्रह्मचर्याश्रम के समान ही अध्ययन- अध्यापन की प्रक्रिया वर्तमान थी। सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु इनमें ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम के प्रसंग अवश्य मिलते हैं। सामवेद के कई श्लोकों से अतिथि सत्कार एवं गृहपति की स्थिति का संकेत उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में ब्रह्मचारियों और गृहस्थों के जीवन सम्बन्धी अनेक कर्त्तव्यों का सविस्तार उल्लेख किया गया है। वन्याओं द्वारा ब्रह्मचर्य का अभ्यास ब्रह्मचारियों द्वारा मृगचर्ण धारण, समिधा संग्रह, अग्नि से तेज ग्रहण एवं भिक्षाटन आचार्य द्वारा छात्र के प्रति पुत्रवत् स्नेह, आदि का विस्तृत वर्णन अथर्ववेद में भरा पड़ा है।

2. उपनिषद् काल-

उपनिषदों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनके समय तक आश्रम-व्यवस्था मूर्त्तरूप धारण कर चुकी थी। आश्रमोपनिषद् का नामकरण ही इस बात को प्रमाणित करता है कि तत्कालीन समाज में आश्रम व्यवस्था एक जीवन पद्धति के रूप में अंगीकृत थी।

इस उपनिषद् में चारों आश्रमों तथा उनके चार-चार प्रकारों का वर्णन मिलता है। यज्ञ, अध्ययन और दान के स्कन्ध को गृहस्थाश्रम का, तप के स्कन्ध को वानप्रस्थाश्रम का, आचार्य कुलवास के सम्बन्ध को ब्रह्मचर्याश्रम का तथा ब्रह्मसंस्थ को संन्यासाश्रम का बोधक माना जा सकता है। प्रश्नोपनिषद् में भारद्वाज के पुत्र सुरेश, शिवि कुमार सत्यकाम, गंगोत्री सौर्यायणी, कोसलदेशवासी आश्वालायन, विदर्भदेशीय भार्गव और कृत्य

के प्रपौत्र कबन्धी द्वारा हाथ में समिधा लिए हुए शिष्यवत् महर्षि पिप्पलाद के पास ज्ञानार्थ उपस्थित होने तथा आश्रम में श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य पालन करते हुए तपाश्चर्या करने का उल्लेख किया है।

तैत्तिरीयपपिनषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली के प्रारम्भ में ही गुरु और शिष्य परमात्मा से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हम दोनों साथ-साथ एक दूसरे की रक्षा करें, एक ही साथ भोजन करें, एक ही साथ शक्तिसंचय करें, हमारी पढ़ी हुई विद्या तेजयुक्त हो तथा हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।

3. बौद्ध काल-

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से तत्कालीन-पद्धति के सम्बन्ध में विभिन्न बातों की जानकारी प्राप्त होती है। बौद्ध साहित्य में इस बात का उल्लेख है कि सोलह वर्ष की अवस्था में अध्ययनार्थ बालकों को तक्षशिला भेजा जाता था। ब्रह्मदत्त और बोधिसत्त्व ने सोलह वर्ष की अवस्था में ही वेदाव्ययन समाप्त कर लिया था। बुद्ध ने एक बार उपाज्झाय (उपाध्याय) और सिद्धविहारिक (शिष्यभिक्षु) को समझाते हुये यह कहा था कि शिष्य गुरु को पिता समझे और गुरु उसे पुत्र समझे, दोनों एक दूसरे पर विश्वास करें, एक दूसरे का सम्मान करें, इन घटनाओं से इस बात की पुष्टि होती है कि बौद्ध-समाज में भी गुरु-शिष्य पर परा पूर्णरूपेण समाहित हो चुकी थी। बौद्ध धर्मग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार का प्रभावकारी असर आश्रम पद्धति पर नहीं पड़ा। आश्रम-पद्धति पहले की भाँति ही लोक-प्रिय बनी रही। इसके प्रति जन-साधारण की जो आस्था थी, उसे तोड़ना आसान कार्य नहीं था। बौद्धधर्म अपनी प्रारंभिक अवस्था में वस्तुत: वैदिक धर्म का ही एक रूपान्तरण था जिसमें मात्र वेद की प्रमाणिकता एवं हिंसक कर्मों का विरोध किया गया था। तक्षशिला जैसे शिक्षण केन्द्रों में बड़ी उदारता के साथ राजकुमारों, ब्राह्मणों, वैश्यों, दर्जी और मछुआरों को शिक्षा दी जाती थी किन्तु चांडाल इससे वंचित थे। कभी-कभी छात्रों का विवाह गुरु-पुत्री से ही हो जाता था।

परिव्राजकों के संभवत: दो वर्ग थे- ब्राह्मण परिव्राजक और अन्यतैर्थिक परिव्राजक। जातकों से पता चलता है कि ब्राह्मण तापस आचार्यों के आश्रमों में शिष्यों की भीड़ लगी रहती थी। तापसों के प्रधान आचार्य गणसत्था कहे जाते थे। परिव्राजक तापसों में ब्राह्मणों की संख्या अधिकांश रहती थी। वानप्रस्थियों तथा संन्यासियों का अन्तर बौद्ध साहित्य में स्पष्ट नहीं है। वस्तुत: बुद्ध ने भी वैदिक जीवन-पद्धति के तीन आश्रमों- ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास को आधार बनाकर भिक्षु- जीवन का स्वरूप निश्चित किया था। भिक्षुगण

अपनी प्रवज्या की अवधि में ही ब्रह्मचर्य एवं वानप्रस्थ के आचरणों का पालन किया करते थे। प्रवज्या के बाद ही बौद्ध भिक्षु उपसम्पदा की अवस्था में प्रवेश करते थे।

पहले स्त्री को प्रव्रज्या का अधिकार नहीं था। किन्तु कालान्तर में जब स्त्री को प्रवज्या का अधिकार मिल गया एवं पन्द्रह वर्ष की अवस्था वाले श्रमणों से उनका सम्पर्क हुआ तब विहारों में भ्रष्ट जीवन का सूत्रपात हुआ, संन्यासी जीवन के आदर्शों में ह्रास के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे, समाज में स्त्री की मर्यादा गिर गई, शिक्षा के केन्द्र विहारों, चैत्यों, मठों, मन्दिरों को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा तथा वैदिक-व्यवस्था के समर्थकों ने स्त्रियों की स्वतंत्रता को समाप्त करने के लिए कठोर विधान बनाने का प्रयास किया।

4. सूत्र काल-

सूत्र काल के सामाजिक जीवन में आश्रम-व्यवस्था पूर्णत: प्रतिष्ठित हो चुकी थी। आश्रम-जीवन-पद्धति सर्वांगीण वर्णन सूत्र ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। आपस्तम्ब ने चारों आश्रमों के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और मुनी शब्द का प्रयोग किया है तो गौतम ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस शब्द का। वसिष्ठ और बौधायन ने चारों आश्रमों के उल्लेख के क्रम में संन्यासी के लिए प्ररिव्राजक शब्द का प्रयोग किया है। इनके सूत्रग्रन्थों में ब्रह्मचारी और गुरु के पारस्परिक संबंधों एवं कर्त्तव्यों का तथा गृहस्थ के दायित्वों का विस्तृत वर्णन किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे। वैदिक विद्यालय चरण कहलाते थे, जहाँ स्त्रियाँ भी पढ़ती थीं। विद्यार्थी तीन कोटि के होते थे- आचार्य, प्रवक्ता, श्रोत्रिय और अध्यापक। सूत्र ग्रन्थों में वानप्रस्थियों और संन्यासियों के जीवन लक्ष्यों एवं कर्त्तव्यों का विस्तृत उल्लेख किया गया है जिससे पता चलता है कि भिक्षु ब्रह्मचर्य धारण करते थे। कौपीन ही उनका वस्त्र था। आपस्तम्ब के अनुसार सत्य और असत्य, सुख और दु:ख, लोक और परलोक को छोड़कर केवल आत्मा को जानने में तल्लीन रहना ही संन्यासी का एक मात्र कर्त्तव्य था। उपर्युक्त विवरणों से स्पष्टत: यह ज्ञात हो जाता है कि सूत्रकाल में आश्रमीय जीवन-पद्धति को वर्णव्यवस्था ने अत्यधिक प्रभावित किया था।

5. महाकाव्य काल-

रामायण और महाभारत काल के सामाजिक जीवन में आश्रम-पद्धति प्रचलित थी। वाल्मीकि रामायण में चारों आश्रमों का उल्लेख है। ब्रह्मचर्याश्रम से लौटे स्नातकों के सम्भवत: तीन प्रकार थे- विद्या स्नातक, व्रत स्नातक और विद्या व्रत स्नातक। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में सामान्यत: स्नातक स्तर तक की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इस युग में स्त्री की मर्यादा सुप्रतिष्ठित थी। उसके साथ विभिन्न याज्ञिक कर्त्तव्यों का पालन किया जाता था, जिसके कारण वह धर्मपत्नी या सहधर्मचारिणी के नाम से पुकारी जाती थी।

वानप्रस्थों को वालखिल्य, अश्मकुट्ट आदि नामों से पुकारा गया है। सीता का हरण करने के लिए रावण ने जो रूप धारण किया था, वह सम्भवत: संन्यासी का रूप था, जिसके लिए रामायण में परिव्राजक और भिक्षु शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे पता चलता है कि समाज में परिव्राजक या भिक्षु पवित्र और विश्वस्त माने जाते थे। क्षत्रीय के लिए संन्यास लेना धर्म का उल्लंघन माना गया है तथा कहा गया है कि श्रीहीन, निर्धन एवं नास्तिकों ने वेद के आधार पर सत्य-सा प्रतीत होने वाले मिथ्या मत का प्रचार किया है।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इस युग में संन्यास के प्रति अश्रद्धा का भाव भी वर्त्तमान था। वानप्रस्थाश्रम में स्त्री को साथ लेकर या बिना स्त्री के ही प्रवेश किया जा सकता था। ब्राह्मण ब्रह्मचारियों के लिए यह स्वतंत्रता थी कि वे ब्रह्मचर्याश्रम के सीधे संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकते थे।

6. स्मृति काल-

स्मृति ग्रन्थों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनके समय में आश्रम-पद्धति समाज में पूर्ण प्रतिष्ठित ही नहीं हुई थी, वरन् दुरूह भी बन चुकी थी। सभी आश्रमवासियों के लिए प्रात:काल की नित्य-क्रिया, दन्ताधावन एवं स्नानादि से लेकर रात्रि के शयनकाल तक के सम्पूर्ण आचरणों को नियमबद्ध कर दिया गया था। स्त्री और शूद्र के लिए तपादि का आचरण पतनकारक समझा जाने लगा था। स्मृतिकारों की दृष्टि में स्त्री और शूद्र के लिए कोई संस्कार नहीं था। स्त्री अजिनवास नहीं कर सकती थी। स्मृति काल में भी गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता स्वीकार की जाती थी। गृहस्थाश्रम में रहकर कोई स्त्री किस हालात में दूसरे पति का वरण कर सकती थी, इसके लिए नियम बने हुए थे।

गृहस्थों, वानप्रस्थियों एवं संन्यासियों में भी वर्गीकरण की प्रक्रिया वर्तमान थी। मनुस्मृति से भी ज्ञात होता है कि सभी आश्रमों का पालन अनुक्रम से होता था एवं वेदाध्ययन और पुत्रोत्पत्ति के बिना संन्यास ग्रहण करना निन्दित समझा जाता था। मनुस्मृति को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि केवल ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति ही संन्यास ग्रहण करते थे। वानप्रस्थाश्रम में संयमित जीवन-यापन करते हुए पवित्रात्मा व्यक्ति संन्यास धारण कर लेते थे एवं परमात्म-चिंतन द्वारा जीवन का प्रधान लक्ष्य मोक्ष-सिद्धि का प्रयास करते थे।

7. परवर्त्तीकाल-

स्मृतियों के परवर्तीकाल में आश्रम व्यवस्था का जो रूप था उसके संबंध में विभिन्न स्रोतों से जानकारी उपलब्ध होती है। परवर्त्ती पुराणों, कामंदक नीतिसार, शुक्र-नीति-सार, अन्य साहित्यिक रचनाओं, विदेशी यात्रियों द्वारा दिए गए विवरणों तथा पुरातात्त्विक अभिलेखों में समसामयिक आश्रम जीवन-पद्धति पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। कालिदास के विभिन्न ग्रन्थों में वानप्रस्थ और संन्यास सम्बन्धी जो विवरण मिलते हैं उनसे पता चलता है कि इन आश्रमों की जीवन-पद्धति पूर्ववत् थी। राजा और स्त्रियों के भी वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने के उल्लेख मिलते हैं।

संन्यास का जीवन कठोर तप का जीवन था। आश्रमवासियों की रक्षा का भार राजाओं के ऊपर रहता था। संन्यासी पहले जंगल में रहते थे किन्तु कालान्तर में बौद्ध मठों से प्रभावित होकर उनके लिए भी पर्वत खोदकर मठ बनने लगे थे। ये परिव्राजक कहलाए।

8. मध्यकाल-

पूर्व मध्यकालीन ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा परिलक्षित होता है कि प्राचीन समाज-व्यवस्था में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा था, तथा उसके परम्परागत बंन्धन ढीले होते जा रहे थे। ब्रह्मचारियों में दो भेद हो गये थे- बुद्धिमान एवं आहार्य बुद्धि।

सूक्ष्मतत्त्व के ज्ञान में जिसका स्वाभाविक प्रवेश था, उसे बुद्धिमान समझा जाता था, तथा जिसकी बुद्धि गुरु द्वारा परिष्कृत होकर तत्त्वज्ञान के योग्य बनती थी, उसे आहार्यबुद्धि कहा जाता था। वानप्रस्थाश्रम से केवल ब्राह्मणों का सम्बन्ध रह गया था।

संन्यासी आत्म-चिंतन के कार्य से विमुख होकर धर्म-प्रचार के कार्य में लग रहे थे। मध्यकालीन भारत में संन्यासियों के वर्ग के जैसा ही वैसे वर्गों का विकास हुआ था जो वैदिक पर परा के आड बरपूर्ण आचरणों के विरोधी थे। इनमें सूफियों, योगियों, कलन्दरों, फकीरों, आलवार सन्तों, शैवों, शाक्तों आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय थे।

ये धर्म के बाह्य अनुष्ठानों को छोड़कर प्रेम और मैत्री के मार्ग पर आरूढ़ होने का प्रचार करते थे। कबीर, नानक, रैदास, सुन्दरदास, दादूदयाल और धरणीदास आदि इसी पंक्ति में आते थे। इन सबों ने जाति के भेदभाव से ऊपर उठकर परमात्म चिंतन और मोक्ष-प्राप्ति का पाठ पढ़ाया।

9. आधुनिक काल-

विविध साहित्यिक ग्रन्थों, पुरातात्त्विक सामग्रियों एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह देखा जा चुका है कि आश्रम-व्यवस्था की स्थापना के जो मौलिक लक्ष्य थे उनसे भारतीय मानव समाज शनैः शनैः विरक्त हो जा रहा है।

संन्यासाश्रम भी आज पूर्णतः उपेक्षित है। आज की भौतिकवादी सभ्यता में आध्यात्मिक मूल्यों को समाज गौण समझता है जब कि संन्यासाश्रम में आध्यात्मिक उद्देश्यसिद्धि को ही प्रधान माना जाता था। आज के समाज में संन्यासी वेशधारी साधु-सन्तों की कमी नहीं हैं, किन्तु उन सब में संन्यासाश्रम के मौलिक आचरणों का बिल्कुल ही अभाव है। वे आत्मचिंतन और मोक्ष-साधन के लिए नहीं बल्कि उदरपूर्ति के लिए संन्यासी का रूप धारण करते हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम और स्त्री-

वर्णाश्रमीय समाज व्यवस्था में पुरुषों और स्त्रियों दोनों को उनके स्वाभावानुसार समाज में महत्त्व प्रदान किया गया है। पुरुषों की भाँति स्त्रियों ने भी संयमित जीवन, लौकिक शिक्षा तथा आध्यात्मिक ज्ञान का पावन प्रतीक ब्रह्मचर्याश्रम को अपने जीवन में अंगीकार किया है। भारतीय वाङ्मय से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्रियों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों की सामाजिक स्थिति कालक्रम से बदलती रही है तथा परिवर्तित परिस्थिति के अनुरूप हो स्त्री समाज को अध्ययन- अध्यापन की स्वतन्त्रता उपलब्ध हुई है।

वैदिक साहित्य को देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि आज की अपेक्षा उस युग में स्त्रियों का सामाजिक जीवन कहीं अधिक सुखद था। वे सामाजिक कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग ले सकती थीं। आश्रम-व्यवस्था का पालन उनके लिए भी आवश्यक था। इस बात के उदाहरण प्राप्त होते है कि प्राचीन समाज की स्त्रियाँ ऋषि कुलों या आश्रमों में ब्रह्मचर्य पालन करते हुये वेदाध्ययन, प्रवचन या शास्त्रार्थ कर सकती थीं। सूत्र और स्मृति ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था तथा वे ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती थीं। दो प्रकार की स्त्रियाँ का उल्लेख मिलता है- ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवधू। इनमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियों को उपनयन, अग्नि सेवा, वेदाध्ययन एवं अपने गृह में भिक्षाटन करना पड़ता था। वे उपनयन के प्रतीक के रूप में यज्ञोपवीत धारण करती थी। स्त्रियों का समावर्तन भी किया जाता था। स्त्रियों को मन्त्र पढ़ाये जाने का भी उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण कन्याएँ वेदों की शिक्षा ग्रहण करती थीं तथा क्षत्रिय कन्याएँ धनुष-वाण का प्रयोग सीखती थी। अत्रिकुल की विश्ववारा और अपाला तथा घोषा काशीवती जैसी विदुषी स्त्रियों ने वैदिक ऋचाओं की रचना की है। प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी सत्यज्ञान के अनुसंधान में अपनी तत्परता के लिए प्रसिद्ध थीं। विदेहराज जनक की राजसभा की एक विदुषी गार्गी वाचाक्नवी ने शास्त्रार्थ में याज्ञवल्क्य का सामना किया था। सम्भवत: उसने अलंकारशास्त्र के निर्माण में भी योगदान दिया था। उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समाज-व्यवस्था में स्त्रियाँ भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर शास्त्र और शस्त्र दोनों प्रकार की शिक्षायें ग्रहण किया करती थीं।

मध्यकाल में विदेशी आक्रमणों एवं उनके द्वारा आचरित कदाचारों के प्रभाव से स्त्री-शिक्षा को समाज के लोगों ने हेय दृष्टि से देखा तथा नृत्यसंगीत आदि को वेश्यावृति मानकर उसकी शिक्षा को निरुसाहित किया। किन्तु पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से सम्पर्क होने के बाद पुन: आज स्त्री शिक्षा को महत्त्व दिया जाने लगा

है तथा प्राचीन आश्रमों की भाँति अनेकानेक विद्यालयों की स्थापना की गई है, जहाँ स्त्री शिक्षा का सम्पादन होता है।

वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम का स्वरूप तथा उद्देश्य-

वानप्रस्थाश्रम का प्रारम्भ उस समय होता है जब व्यक्ति ग्रामीण एवं गार्हस्थ्य जीवन का परित्याग कर जंगल की ओर निकल पड़ता है। वानप्रस्थाश्रम वन में स्थान-ग्रहण का जीवन नहीं है बल्कि वन की ओर प्रस्थान करने का जीवन है। व्यक्ति घर से विमुख हो सीधे वनवासी न बन जाये, इसके लिए बीच की एक विरामावस्था का निर्माण करना वानप्रस्थाश्रम की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

प्राचीन काल में जब व्यक्ति वानप्रस्थी बनता था तब उसके प्रस्थान करने के समय उसके परिवार के युवक ब्रह्मचर्याश्रम का जीवन व्यतीत कर घर लौटने वाले होते थे। वन जाने के मार्ग में गाँव से कुछ ही दूर पर कुटी बना सपत्नीक निवास करता था तथा घर लौटने वाले अपने ब्रह्मचर्यपूर्ण बच्चों को अपने अनुभवों से परिचित कराता था। वानप्रस्थाश्रम का एक मनोवैज्ञानिक महत्त्व है।

व्यक्ति स्वभावत: शांति और सात्त्विक सुख का उपासक होता है, किन्तु सांसारिकता उसकी इस लक्ष्यसिद्धि में बाधक बन जाती है। व्यक्ति उन लौकिक ऐश्वर्यों और धन-सम्पति के व्यामोह से दिग्भ्रमित हो जाता है, जो सारे अनर्थों का मूल है। जो व्यक्ति इनके पीछे पड़े रहते हैं उन्हें आजीवन शांति नहीं मिलती। वानप्रस्थाश्रम जिस त्याग का आदर्श उपस्थित कराता है, उसका अपना एक विशिष्ट नैतिक मूल्य भी है।

ब्रह्मचर्याश्रम से श्रम का जो जीवन प्रारम्भ होता है, वह वानप्रस्थाश्रम में पूर्ण त्याग करने के बाद भी, बच्चों को अपना दायित्व सौंपने, उन्हें शिक्षित बनाने तथा उनके समक्ष आदर्श उपस्थित करने के कारण, कुछ-कुछ बना रहता है।

इन सभी कार्यों के हो जाने के बाद व्यक्ति श्रम का जीवन छोड़कर पूर्ण विश्राम के जीवन की ओर अग्रसर होता है, संन्यास धारण करता है।

संन्यासाश्रम पूर्ण त्याग का जीवन है। इस आश्रम में प्रवेश करने वाला व्यक्ति वेदाध्ययन के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के लौकिक कार्यों का पूर्णतया त्याग कर देता है। यहाँ तक कि अपनी प्रिय जीवन संगिनी को भी पुत्रों के ऊपर छोड़कर वह पूर्ण वनवासी बन जाता है।

संन्यासाश्रम पूर्ण अनुभव का जीवन है। ब्रह्मचर्याश्रम में बुद्धि-बल-संग्रह, गृहस्थाश्रम में लौकिक भोग तथा वानप्रस्थाश्रम में सर्वस्व त्याग की तुलनात्मक अनुभूति हो जाने के बाद ही व्यक्ति संन्यास धारण करता है। संन्यास की अवस्था में पदार्पण करने के पूर्व ही संग्रह, भोग और त्याग के पारस्परिक मूल्यांकन द्वारा जीवन की वास्तविकता का ज्ञान व्यक्ति को हो गया रहता है।

संन्यासाश्रम प्रेय को छोड़कर श्रेय की ओर बढ़ने का जीवन है। यह आध्यात्मिक चिंतन की गहराई में उतर कर पूर्ण सत्य का साक्षात्कार करने का जीवन है। आर्य ऋषियों को विश्वास था कि धार्मिक व्यक्तियों का जीवन सत्य की नौका पर ही लौकिक बाधाओं के अथाह सागर को पार कर सकता है। उनके जीवन का उद्देश्य था- लौकिक असत्यता का त्याग तथा सत्य के धारण द्वारा उस परमात्मा को प्राप्त करना जो स पूर्ण लोक का आधार है।

संन्यासाश्रम में वही व्यक्ति प्रवेश करता है जिसके लिए सांसारिक सुख कुस्वादु बन चुका रहता है तथा जो आध्यात्मिक आनन्द को सुस्वादु समझ कर उसकी प्राप्ति का प्रयास करना चाहता है।

संन्यासाश्रम पवित्रता का जीवन है। इस आश्रम में पहुँचने तक व्यक्ति की दृष्टि, उसका मन और उसका वचन, सभी पवित्र हो गये रहते हैं। वह पूर्ण संयम का जीवन व्यतीत करता है। उसकी आत्मा शुद्ध हो गई रहती है। वह जहाँ कहीं भी निवास करता है, वह स्थल भी पवित्र हो जाता है। संन्यासी का एकमात्र कार्य हो जाता है, अपनी विद्या, तप और कीर्ति का रसास्वादन करना। संन्यासी अपने समाज की संस्कृति का आदर्श प्रतीक होता है। सत्य, तप, ज्ञान और पवित्रता जैसे गुणों का अवल बन कर वह अन्तर्तम में एक ऐसी ज्योति का दर्शन करता है, जो उसके आध्यात्मिक जीवन को प्रकाशित कर मुक्ति की अवस्था में पहुँचा देती है। संन्यास धारण करने से जन्मार्जित पाप विनष्ट हो जाते हैं तथा परमगति की प्राप्ति होती है।

आज के सामाजिक जीवन में उच्च नैतिक मूल्यों की स्थापना तथा आधुनिकता के अंधकार में प्रकाशादर्श के प्रसार के लिए ऐसे संन्यासियों की नितान्त आवश्यकता है।

सन्दर्भ-

1. पं. श्रीरामसुरेश जी त्रिपाठी- नारी अंक, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ. 127
2. निरुक्त - 3 । 21 । 2
3. ऋग्वेद- 1 । 16 । 16 ।
4. निरुक्त - 3 । 15 । 1 ।
5. ऋग्वेद- 1 । 98 । 11 ।
6. शत. ब्रा. - 3 । 6 । 1 । 4 ।
7. तैत्तिरीय आरण्यक- 6 । 1 । 3 ।
8. शत. ब्रा. - 3 । 5 । 4 । 4 ।
9. सायण तै. आ. - 4 । 2 । 1 ।
10. ऋग्वेद- 8 । 33 । 17 ।
11. देवीपुराण- अध्याय- 46 ।
12. कालिकापुराण- अध्याय- 77 ।
13. ऋग्वेद- 1 । 48 । 5 ।
14. निरुक्त- 3 । 4 । 4 ।
15. ऋग्वेद- 3 । 53 । 6 ।
16. श्री चारुचन्द्र मित्र- नारी अंक, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ. 131 ।
17. मनुस्मृति- 3 । 57 ।
18. वही, पृ. 557-558 ।
19. स्वर्गीय लाला लाजपतराय- Unhappy India, 18वें अध्याय ।
20. मिताक्षरा- याज्ञवल्क्य- 3 । 58 ।
21. पतंजलि- महाभाष्य-2, पृष्ठ-100 ।
22. कालिदास- मालविकाग्निमित्र- 1 । 14 ।
23. बृहदारण्यक उपनिषद्- 4 । 5-3, 4 ।

24. आचार्य रामनाथ वेदालंकार- वैदिक आश्रम- व्यवस्था विशेषांक, रेवली, सोनीपत (हरि.), पृ. 7।

25. ऋग्वेद- 1। 58। 6।

26. वही, 3। 4। 7।

27. वही, 1। 72। 7।

28. वही, 8। 3। 18।

29. तै. संहिता- 2। 4। 9। 2।

30. अथर्ववेद- 5। 28। 29।

31. वही, 5। 18। 1।

32. यजुर्वेद- 4। 7।

33. ऋग्वेद- 8। 52। 7।

34. वही, 1। 85। 42।

35. यजुर्वेद- 36। 24।

36. अथर्ववेदीय जाबालोपनिषद्- खण्ड-4।

37. स्वामी विवेकानन्द सरस्वती- वैदिक आश्रम- व्यवस्था विशेषांक, सोनीपत (हरि.), पृ. 14।

38. श. ब्रा. - 12। 3। 13।

39. यजुर्वेद- 36। 14।

40. अथर्ववेदीय जाबालोपनिषद्- खण्ड-4।

41. डॉ. जयदत्त उप्रेती- वैदिक आश्रम- व्यवस्था विशेषांक, रेवली, सोनीपत (हरियाणा), पृ. 23।

42. मुण्डकोपनिषद्- 3। 2। 6।

43. ऋग्वेद भाष्य- 1। 158। 6।

44. वही, 7। 13। 1।

45. मुण्डकोपनिषद्- 1। 2। 11।

46. ऋग्वेद- 7। 56। 8।

47. सत्यार्थ प्रकाश- पंचम समु.।

48. यजुर्वेद- 17। 67।

49. सामवेद- 51।

50. वही, 76।

51. अथर्ववेद- 11। 5।

52. मनुस्मृति- 6। 87।

53. जाबालोपनिषद्- 4।

54. बौधायन धर्म सूत्र- 2। 1। 28।

55. शब्द कल्पद्रुम कोष- पृ. 195।

56. महाभारत- 12। 18। 1। 1।

57. याज्ञवल्क्य स्मृति- 1। 1। 9।

58. यजुर्वेद- 2। 24।

59. श. प. - 14। 4। 2।

60. यजुर्वेद- 14। 2।

61. श्रीमद्भगवदगीता- 7। 11।

62. डॉ. ऋचा शर्मा- वैदिक आश्रम- व्यवस्था विशेषांक, रेवली, सोनीपत (हरियाणा), पृ. 110।

63. डॉ. पाण्डेय रामायण प्रसाद शर्मा- भारतीय वर्णाश्रम, पृष्ठ 199।

64. ऋग्वेद- 10। 109। 5।

65. वही, 9। 67। 31-32।

66. वही, 7। 103। 5।

67. वही, 3। 8। 4।

68. वही, 10। 85। 6।

69. वही, 10। 85। 33।

70. हि. घ. शा. - खण्ड-2, पृ. 419-20।

71. सामवेद- 1। 1। 12। 4।

72. अथर्ववेद- 11 । 5 । 6 ।

73. वही, 6 । 7 । 8 ।

74. वही, 14 । 2 । 71 ।

75. वही, 6 । 11 । 1 ।

76. छा. उप. - 2 । 23 । 1 ।

77. प्र. उप. - 1 । 1-2 ।

78. वही, 6 । 6 ।

79. मु. उप. - 1 । 2 । 12 ।

80. वही, 3 । 1 । 5 ।

81. ऐ. उप. - 2 । 1 । 3 ।

82. तै. उप. - 1 । 9 ।

83. वही, 3 । 10 ।

84. वही, 1 । 11 ।

85. छा. उप. - 4 । 10 । 1-3 ।

86. वही, 4 । 10 । 1-3 ।

87. वृ. उप. 1 । 4 । 17 ।

88. वही, 1 । 5 । 2 ।

89. क. उप. - 2 । 1 । 8

90. महावग्ग (मूल)- 1 । 18 । 65

91. तिल मुट्ठी जातक ।

92. क्रि. स्ट. व. सी. - पृ. 264 ।

93. दरीमुख जातक- 378 ।

94. दीघ निकाय- 8 । 1 । 24 ।

95. जातक- 3, पृ. 18 ।

96. अंगुत्तर निकाय- 2, पृ. 70, 79।

97. मज्झिम निकाय- 1, पृ. 240।

98. संयुक्त निकाय- 5, पृ. 250-51।

99. थेरीगाथा- 101।

100. बुद्धकालीन समाज और धर्म- पृ. 147।

101. जातक- 2, पृ. 57, 139, 269।

102. आ. घ. सू. - 2। 1। 21। 1।

103. गौ. घ. सू. - 1। 3। 2।

104. ब. ध. सू. - 7। 1-2।

105. बौ. ध. सू. - 2। 11। 14।

106. अष्टाध्यायी- 5। 1। 54।

107. व. घ. सू. - 11। 68-70।

108. वही, 11। 52-54।

109. वही, 11। 58-60।

110. गौ. ध. सू. - 102। 5-7।

111. व. ध. सू. - 2। 13-20।

112. वा. रामायण अयो. - 82। 11।

113. सु. अयो. - 1। 20।

114. वा. रा. अयो. - 106। 22।

115. वही, वाल. - 13। 41।

116. वही, अरण्य. - 46। 2-4।

117. महा. शां. - 191। 8।

118. व्यासस्मृति- 1। 15-16।

119. पाराशर स्मृति- 9। 58।

120. अत्रि स्मृति- 312।

121. बौधायन स्मृति- 2। 10। 20

122. याज्ञवल्क्य- 1। 15

123. भागवतमहापुराण- अध्याय-11।

****

अध्याय- 2

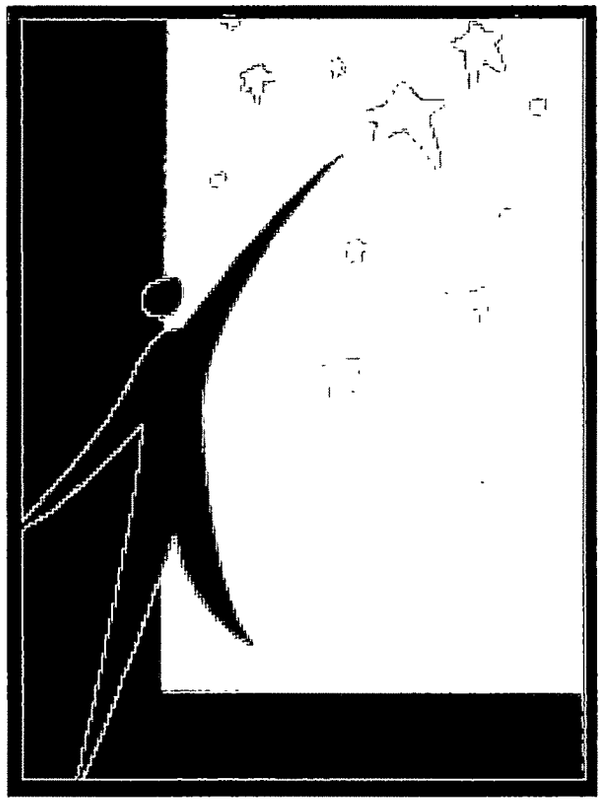

संन्यास की अवधारणा एवं स्वरूप

संन्यास की अवधारणा-

संन्यास परम्परा वैदिक काल से चली आ रही एक ऋषि परंपरा है जिसके अन्तर्गत धर्म के मार्ग पर चलकर उच्च कोटि के जीवन यापन करने वाले ऋषि एवं ऋषिकाओं का जीवन दर्शन होता है। मनुस्मृति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के चार आश्रम होते हैं- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ नामक तीन आश्रमों की ओर संकेत मिलता है। सम्भवत: इस उपनिषद् ने संन्यास को चौथे आश्रम के रूप में ग्रहण नहीं किया है, बृहदारण्यकोपनिषद् जैसी प्राचीन उपनिषदों में संसारिक मोह के त्याग, भिक्षा-वृत्ति एवं परब्रह्म-ध्यान पर बल अवश्य दिया गया है, किन्तु इस प्रकार की धारणाओं के साथ संन्यास नामक किसी आश्रम की चर्चा नहीं हुई। जाबालोपनिषद् ने संन्यास मार्ग को ग्रहण करने का निर्णय स्वतन्त्र सिद्ध किया है।

यह ग्रहीता का आत्मनिर्णय है और कहा कि इसका ग्रहण प्रथम दो आश्रमों में किसी के उपरान्त हो सकता है। याज्ञवल्क्य ने परिव्राजक होने के समय अपनी स्त्री मैत्रेयी से सम्पत्ति को उस (मैत्रेयी) में और कात्यायनी (मैत्रेयी की सौत) में बाँट देने की चर्चा की। इससे प्रकट होता है उन दिनों परिव्राजकों को घर-द्वार, पत्नी एवं सारी सम्पत्ति का परित्याग कर देना पड़ता था।

परमहंस ब्रह्म, नारद-परिव्राजक एवं संन्यास उपनिषदों में संन्यास के विषय में बहुत से नियम हैं। किन्तु उपनिषदों की ऐतिहासिकता एवं सच्चाई पर सन्देह है, अत: हम धर्म सूत्रों एवं प्राचीन स्मृतियों के नियमों की ही चर्चा करेंगे।

वैदिक सभ्यता की आधार शिलाएँ चतुर्विध पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ चतुष्टय में मनुष्य की वे समस्त अभिलाषाएँ अन्तर्भूत हो जाती हैं जिन्हें वह चाहता है। शरीर का सम्बन्ध अर्थ से है, मन का सम्बन्ध काम से है, बुद्धि का सम्बन्ध धर्म से है और आत्मा का सम्बन्ध मोक्ष से है। इनमें प्रथम एवं महत्वपूर्ण सोपान धर्म है अत: धर्माविरूद्ध अर्थ, धर्माविरूद्ध काम और धर्माविरूद्ध मोक्ष ही मानव के लिए सेव्य है।

समस्त जीवों में आहार-निद्रा-भय-मैथुनादि समान हैं किन्तु कर्तव्याकर्त्तव्य रूपी धर्मबुद्धि के अभाव में अन्य जीव भव-बन्धन से मुक्त नहीं हो पाते जबकि मनुष्य धर्मबुद्धि के आश्रयण से ऐहिक फलों को भोगते हुए आमुष्मिक मोक्षादि पुरुषार्थ को प्राप्त कर भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

चरम पुरुषार्थ मोक्ष के पथिक को दो बातों की आवश्यकता होती है, एक तो सृष्टि उत्पत्ति के कारणों का जानना व परम कल्याण ईश्वर को प्राप्त करना तथा दूसरे सृष्टि के उपयोग करने की विधि को समझना। इनके लिए उपनिषदादि ग्रन्थों का एकान्त में अध्ययन तथा ईश्वर के मूल स्वरूप को समझना आवश्यक है। सृष्टि के कारणों और ईश्वर की प्राप्ति के उपायों के ज्ञान से सृष्टि, प्रलय, जीव, ईश्वर, कर्म कर्मफल और ईश्वर जीव के संयोग तथा उनकी प्राप्ति आदि का रहस्य खुल जाता है और सृष्टि के उपयोग करने की विधि के ज्ञान से अर्थ और काम के उपभोग का तात्पर्य समक्ष में आ जाता है। अत्यन्त दुर्लभ एवं ब्रह्मप्राप्ति के सोपान सन्यास का विधिवत् समाश्रय करना चाहिए। विधिपुरस्सर अनुष्ठित क्रिया संस्कार के रूप में परिणत होती है एतद्विपरीत व्यर्थ हो जाती है।

समस्त सृष्टि विलास के आश्रयभूत समस्त विश्व प्रपञ्च में भगवान् धर्म व्याप्त हैं। सृष्टिप्रपञ्च के साथ इसका विशेष अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। धर्म ही समस्त विश्व को धारण करता है। धर्म की सहायता के बिना पिण्ड ब्रह्माण्डात्मक जगत् प्रपञ्च का अस्तित्व ही सम्भव नहीं, जैसा कि सुना जाता है – धर्म ही समस्त जगत् का आधार है, लोक में धार्मिक जनों का अनुसरण प्रजाएँ करती हैं, धर्म से पाप दूर होता है, धर्म में ही सबकुछ प्रतिष्ठित है, इसीलिए लोग धर्म को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं। स्मरण भी किया जाता है – धारण करनें से ही लोग धर्म कहते हैं क्योंकि प्रजाओं को धारण धर्म करता है, इसलिए जो धारण से युक्त है वही निश्चय पूर्वक धर्म है। वेद विहित कर्म ही धर्म है, वह परम मङ्गलमय है, प्रतिषिद्ध क्रिया से साध्य जो गुण है वह अधर्म कहलाता है। जिससे धर्मपरायण मनुष्य स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त करते हैं, मुनिगण उसे ही निश्चयपूर्वक धर्म कहते हैं। हे धर्मशीले ! यहाँ जो केवल सत्व को बढ़ाने वाला पुरुषार्थ है, उस ही महर्षिगण धर्म कहते हैं। जो अलौकिकी ईश्वरेच्छा समस्त जगत् को धारण करती है, हे सुभगे! वही धर्म है, यहाँ किसी प्रकार का कोई संशय नहीं। धर्म को सत्त्व के प्रकाशक होने से ज्ञान का हेतु कहा गया है। सत्त्व के लघुत्व के कारण ऊर्ध्व नेतृत्व होने से धर्म विशेष रूप से सुशोभित होता है। इस संसार में समस्त जीव धर्म के द्वारा ही क्रमशः उन्नति को प्राप्त करते हैं, और सावधानी से उन्नति पथ पर अग्रसर होकर अन्त में परमपद (मोक्ष) प्राप्त करते हैं। श्रुति-स्मृति प्रतिपादित ही धर्म है तथा उसके विपरीत ही अधर्म है। देवगण, सत्त्व और तम के कर्म उद्भावक को कहते हैं। सत्त्व की प्रधानता से धर्म तथा उसके विपरीत अधर्म है, धर्म तथा अधर्म का यही गूढ़ रहस्य है।

दर्शन शास्त्रों में भी देखा गया है कि - योग्यता से युक्त धर्मी की शक्ति ही धर्म हैं। जिससे अभ्युदय और निश्रयस् की सिद्धि हो वही धर्म है। धर्म धारक होता है। सत्त्व की प्रधानता से वह अभ्युदयकर है तथा शक्ति मत्त्व होने से नि:श्रेयस्कर है। विपरीत कर्म को अधर्म कहा गया है। शक्ति की विशेषता से दोनों (धर्माऽधर्म) समान हैं। अधर्म अहितकर होने से त्याज्य है। सत्त्व और तम से धर्माऽधर्म का निर्णय होता है।

संन्यास सर्वव्यापक धर्म-

यह समस्त सृष्टि समूह स्वभावत: रजोगुम से उत्पन्न होता है, तमोगुण से विलीन होता है तथा सत्त्व गुण से अपने स्वरूप में स्थिरता प्राप्त करता है। इसलिये धर्म सत्त्वगुणमय है ऐसा उपर्युक्त वेद वचन है तथा स्मृति एवं दर्शन शास्त्रों के प्रमाणों का आशय है। यहाँ ऐसा कोई भी वस्तु नहीं है जो धर्म-साहाय्य का अतिक्रमण करे।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड या पिण्ड के रचना काल में आकर्षण शक्ति प्रधान रजोगुण समस्त उपादानभूत परमाणुओं को खींचता हुआ वस्तु समूह की सृष्टि करता है। विकर्षण शक्तिशाली तमोगुण प्रलयकाल में उन्हीं परमाणुओं को खींचता हुआ वस्तु प्रपञ्च को विलय करता है। आकर्षण और विकर्षण शक्ति के समन्वय रूप सत्त्वगुण ही स्थितिकाल में प्रधानता को प्राप्तकर पिण्ड से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त समस्त पदार्थों को अपने स्वरूप में स्थापित करता है। जिससे सभी की अस्तित्व रक्षा की प्रतीति होती है। ये ही सत्त्वगुणमय धारणशक्ति शाली सर्वव्यापक भगवान् धर्म उद्भिजादि चतुर्विध भूतसंघों, मानव, दैव-पिण्डों एवं ऊपर से नीचे स्थित चौदह भुवनों को, अधिक क्या कहें परमाणु से लेकर समस्त ब्रह्माण्ड प्रपञ्च को अपनी शक्ति में धारण करता है। विद्वानों को संक्षेप में इस धर्म का सर्वव्यापक स्वरूप इसे ही समझना चाहिए।

सर्वसत्त्वमयी धर्मस्वरूपिणी महाशक्ति स्वाभाविक क्रमोन्नति पर परा का अनुसरण कर पांच कोषों को क्रमश: विकसित करती हुई उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज नामक चारों संघों को अतिक्रमण कर पञ्चकोष से परिपूर्ण मानवी योनि की प्राप्ति समस्त जीवों को कराती है। उस समय मानव पिण्ड के समुन्नयन के लिए जो अधिकार निर्दिष्ट है उसे ही लोग मानव धर्म कहते है। मानवीय पिण्ड से पूर्वोत्पन्न चतुर्विध भूतसंघों के सहजपिण्डों में जीवों की क्रमोन्नति पूर्व प्रतिपादित विश्वाधारक धर्मशक्ति की सहायता से स्वत: ही होती है।

पञ्चकोषपूर्ण मानवपिण्ड के अभ्युदय तथा नि:श्रेयस् सिद्धि के लिए पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों ने मानव धर्म के साधारण-असाधारण-आपाद् तथा साधारण धर्म के भेद से मानव धर्म चार प्रकार का है। जिसमें अधिकार की प्रधानता ही कारण हो वह विशेष धर्म है। जिसमें शक्ति की प्रधानता ही निमित्त हो वह असाधारण धर्म है। आपत् मूलक आपत् धर्म होता है इसमें अधर्म भी भाव की शद्धि होने से धर्म हो जाता है। समय के विपरीत होने पर इसका आश्रय लेना चाहिए। साधारण धर्म सभी का कल्याण साधक होता है।

आर्य-अनार्य, स्त्री-पुरुष, सुर-असुरादि छोटे-बड़े जीवों का समान रूप से हितकारक जो है, वही साधारण धर्म है। इस साधारण धर्म के अन्तर्गत धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दया, दान, तप, परोपकार तथा सत्य आदि आते हैं। जो अधिकार विशेष को लक्ष्य करके निर्दिष्ट है वही विशेष धर्म है। जैसे- संन्यासियों का निवृत्ति धर्म, गृहस्थों का प्रवृत्तिधर्म, स्त्रीधर्म, पुरुष धर्म, आर्य धर्म, अनार्य धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्त धर्मादि। जो पूर्व जन्मार्जित पुण्योपचय के प्रभाव से असाधारण शक्ति वाले व्यक्ति विशेषों के द्वारा किया जाता है वह असाधारण धर्म है। जैसे- क्षत्रिय होते हुए भी विश्वामित्र का एक ही जन्म में ब्राह्मणत्व की प्राप्ति, पांच पति होने पर भी द्रौपदी का सतीत्व सद्भाव, शूद्र होते हुए भी महात्मा विदुर का परमहंसगति की प्राप्ति, मनु पुत्र होने पर भी नन्दी को देवत्व प्राप्ति, ये सभी असाधारण धर्म के अन्तर्गत आते हैं। आपत्ति काल में भावशद्धिपूर्वक अधर्मानुष्ठान भी धर्म से पृथक् नहीं होता, क्योंकि वह आपत्ति काल में स्वीकृत होता है। दुर्भिक्ष से पीड़ित महर्षि विश्वामित्र का चौर्य कार्य से कुत्ते का माँस ग्रहण करने का प्रयास इसका उदाहरण है। इसी प्रकार यथाधिकार चार भागों में विभक्त मानवधर्म चतुर्व्यूह से संरक्षित मनुष्यों को अभ्युदय तथा नि:श्रेयस् प्रदान करता है।

जीवों के समष्टिकर्मों का अनुसरण कर अनादि-अनन्त महाकाल ही कल्प-मन्वन्तर-कृत-त्रेता-द्वापर-कलियुगादि भेदों से भिन्न-भिन्न विविध रूपों का ग्रहण करता है। कलि सबसे निकृष्ट है इसलिए कलि में अल्पायु-अल्पमेधा तथा अल्पशक्ति वाले जीव ही उत्पन्न होते हैं। धृति-शक्ति आदि की कमी से कलियुग में मृत्यलोक का देवलोक से सम्बन्ध शिथिल हो गया है। मनुष्यलोक वासी जीवों के धर्मसाधनादि का अधिकार सर्वथा क्षीण हो गया है, इन्हीं सभी कारणों से पुराणों में कलिवर्ज्य प्रकरण में संन्यासादि के निषेध वचन मिलते हैं।

अश्वालम्भ, गवालम्भ, सन्यास, पलपैतृक तथा देवर से पुत्रोत्पत्ति ये पाँच कलियुग में विवर्जित हैं। ऐसे वचन बृहन्नारदीयादि में भी मिलते हैं। पुराणग्रन्थ वेद के भाष्य रूप में होने से उपेक्षणीय नहीं हैं। इन वचनों पर विचार करना आवश्यक है।

विधेय विधियाँ मौलिक कारण के अभाव से या शक्ति की अल्पता से कलिवर्ज्य प्रकरण में समागत निषिद्ध वचनों के पर्यालोचन से उपर्युक्त कार्य निषिद्ध हैं यह सिद्ध होता है। अश्वमेध भौतिक कारण के अभाव से वर्जित है क्योंकि कलियुग में समस्त भूमण्डल को अपने अधान करना एक सम्राट् के लिए सर्वथा असम्भव है। दैवलोक से सम्बन्ध विच्छेद होने में भी यही मौलिक कारण है। गोमेध के विषय में शास्त्रों में कहा गया है कि मेध्या गाव: पुनर्जीवनं लभन्ते स्म यथाविधि यज्ञ के अनुष्ठान से तथा दैव साहाय्य से यज्ञीय पशुओं की सद्गति अवश्य मिलती थी। इसलिए गोजाति के महान गौरव से दैवजगत् के सम्बन्ध से समन्वित ऐसे विषय दैवस बन्ध से शून्य कलि में वर्जित ही हैं। इस प्रकार पुराणोक्त निषेध वचनों में मौलिक कारण का अभाव ही एकमात्र हेतु है। इसी प्रकार अश्वालम्भ और गवालम्भ में मूलकारण का अभाव ही परिलक्षित होता है, यही तात्पर्य है। देवर के द्वारा पुत्रोत्पत्ति भी मूलकारण के अभाव से ही सम्बद्ध है। कामज सृष्टि-संकुल इस कलिकाल में पुरुषों में योगशक्ति की शून्यता तथा स्त्रियों में धर्म शक्ति के अभाव से देवर द्वारा सन्तानोत्पत्ति नामक नियोग भी मौलिक कारण के अभाव से ही निषिद्ध है। नियोग के शास्त्रसम्मत पवित्रता का संरक्षण कलिका में सम्भव नहीं। किन्तु पलपैतृक अर्थात् श्राद्ध में मांस का पिण्डदान और संन्यास की दीक्षा इन दोनों का निषेध मौलिक कारण के अभाव से नहीं किया गया है, प्रत्युत शक्ति के अभाव से किया गया है। मांस भोजी प्रेत के लिए मांस का पिण्डदान तन्त्रोक्त और वेदोक्त पद्धति में परम प्रयोजनीय होने से समर्थित है। भारत के अनेक प्रान्तों में मांस से पिण्डदान की प्रथा यत्र-तत्र अभी भी प्रचलित है। संन्यास दीक्षा भी वैसे ही जानना चाहिए। कलियुग में संन्यास दीक्षा विधि वचन शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं- कलियुग में जब तक वर्ण-विभाग है, जब तक वेद प्रचलित हैं संन्यास और अग्निहोत्र कार्य तब तक करणीय है।

इस समय वैदिक, तान्त्रिक और लौकिक संन्यास-आश्रम की अनेक रीतियाँ, बहुविध श्रेणियाँ इस मोक्षभूमि भारतवर्ष में देखीं जा रहीं हैं। प्राचीन काल की अपेक्षा इस समय इनका विस्तार अत्यधिक वर्द्धित दिखाई देता है। इसलिए यह उपेक्षणीय नहीं है यह निर्विवाद सिद्ध है। यह भी निर्विवाद है कि शक्ति के

अभाव से कलियुग में शास्त्र निषिद्ध धर्मो के दु:स्साध्य होने से वे विचारपूर्वक सेवनीय तथा आश्रयणीय है। इस समय वैसे धर्मों का पूर्णरूप से अनुष्ठान करना निश्चित ही असम्भव है। इस समय संन्यास के रूप में आपद्धर्म के अनुसार या शास्त्र के विरूद्ध रीति से अनुष्ठित होने पर भी प्राय: दैनन्दिन दुर्बल होता हुआ क्षीण होता जा रहा है। परमहंस दशा की पूर्वोक्त ावस्था तो न केवल देखने अपितु सुनने में भी नहीं आती। कुटीचक-बहूदकादि के दीक्षा-आचार-व्यवहारादि तो प्राय: लुप्त ही हैं। वैदिक संन्यासियों में भी परमहंस - दीक्षा से ही सभी में पहले-में पहले के रूप से दीक्षित दिखायी पड़ते हैं। अवधूत-परिव्राजक नाम से विख्यात तान्त्रिक संन्यास दीक्षा भी विलक्षण ही लक्षित होती है। मोक्ष भूमि इस भारतवर्ष में लौकिक प्रव्रज्या पद्धति भी उन-उन मतों के प्रवर्तक आचार्यों के नाम से प्रचलित है।

संन्यास धर्म एक विशेष धर्म-

वर्णाश्रम धर्मावलम्बिनी आर्य जाति की हिताधायक होने से उसके द्वारा ही अनुष्ठान किया जा सकता है, दूसरे के माध्यम से नहीं यही इसकी विशेषधर्मता है। प्रवृति और निवृत्ति के भेद से मानव धर्म का दो भेद शास्त्रों में निर्णीत है। उनमें संन्यास धर्म ही निवृत्ति धर्म का अन्तिम लक्ष्य है। संन्यास का अधिकार तो यथार्थत: वर्णाश्रमधर्म के साधन से मानवों में क्रमश: विकसित होता है। पूर्वजन्म में किये गये पुण्यों के माध्यम से ही संन्यास का अधिकार प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवृत्ति धर्म के सदुपायों की शिक्षा और गृहस्थ धर्म में उनकी धर्मानुकूल चरितार्थता, वानप्रस्थ में निवृत्ति मार्ग के सदुपायों का शिक्षा, संन्यासाश्रम में उनकी चरितार्थता यही मीमांसा शास्त्र का सिद्धान्त है।

प्रसिद्ध स्मृतिकार त्रिकालदर्शी महर्षियों ने तो संन्यास का अधिकार ब्राह्मणों को ही है अन्यों का नहीं ऐसा निर्दिष्ट किया है। जैसे- अपने में अग्नि को आरोपित करके ब्राह्मणगृह से प्रव्रज्या करें। ब्राह्मण ही परिव्राजक होते हैं। वेदव्रत पूर्ण होने पर विद्वान् ब्राह्मण मोक्ष का आश्रयण करें। ब्राह्मण के लिये ये चतुर्विध कर्म गये हैं ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से संन्यास का शपथ ले। अपने में अग्नि को आरोपित करके द्विज परिव्राजक हो। श्रत्युक्त ब्राह्मण को चार आश्रम हैं, क्षत्रियों के तीन, वैश्यों के दो तथा शूद्रों के एक। विष्णु का चिह्न धारण करना मुखजों अर्थात् ब्राह्मणों का धर्म हैं, क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिये नहीं ऐसा दत्तात्रेय मुनि का कथन है।

उपर्युक्त श्रौत-स्मार्त वचनों के विवेचन से सर्वाङ्गपूर्ण वैदिक संन्यास की दीक्षा विधि ब्राह्मणों के लिये ही सिद्ध होता है। पुराण, तन्त्रादि में ब्राह्मणेतर अन्य वर्णों के लिए भी गृह परित्यागपूर्वक निवृत्तिमार्ग का अवलम्बन विधि भी मिलती है किन्तु वेदोक्त संन्यास दीक्षा का विधान उन लोगों के लिए नहीं है यह सिद्ध होता है। विप्रातिरिक्त विषयविरक्त अन्य वर्ण भी निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करना चाहें तो निवृत्ति संस्कार ग्रहणेच्छु वे भी गृहस्थ धर्म को छोड़ कर किसी विशिष्ट प्रव्रज्या ग्रहण कर सकते हैं। यही संन्यासाश्रमोचित दीक्षा तथा वैराग्याश्यासहेतुक प्रव्रज्या में विशेष भेद है। शूद्रा के गर्भ से समुत्पन्न महात्मा विदुर ने परमहंसगति प्राप्त की, उनके गत प्राण शरीर के दाह निषेधार्थ आकाशवाणी युधिष्ठिर को लक्ष्य करके हुई। यहाँ पूर्व जन्मार्जित पुण्याधिकार के महत्व को अभिव्यक्त करने वाली देवीभागवत सम्बन्धिनी पौराणिकी कथा का अनुसरण करना चाहिए। इसलिए वेदोक्त संन्यास-दीक्षा केवल ब्राह्मणों के लिये ही विहित है, अन्य वर्णों के महात्माओं के लिये निवृत्तिपोषक प्रव्रज्या ही ग्राह्य है, यही शास्त्र सम्मत समुचित मार्ग है।

संन्यास दीक्षा के अधिकार के सम्बन्ध में श्रुति-स्मृतियों में पारस्परिक विरोधाभासी वचन यद्यपि मिलते हैं, तो भी उनके सहृदय हृदय ग्राह्य सामञ्जस्य निश्चित ही है। संन्यास-विज्ञान की दृढ़ता के निमित्त कुछ प्रमाण नीचे दिये जा रहें हैं -

नारद ने पितामह से पूछा- भगवान् ! आपने संन्यास को सर्व कर्म निवर्तक कहा है पुनः आश्रमाचार रत हो ऐसा कहा है। तब पितामह ने कहा देहधारियों के शरीर की जाग्रत , स्वप्न, सुषप्ति तथा तुरीया ये चार अवस्थाएँ होती हैं। उन्हीं अवस्थाओं के अधीन कर्म-ज्ञान-वैराग्य प्रवर्तक मानव या जन्तु उनके अनुसार ही आचरण करते हैं।

नारद ने पुनः प्रश्न किया- हे पितामह! यदि ऐसी बात है तो भगवन्! संन्यास के कितने भेद हैं? उनके अनुष्ठान के कितने प्रकार हैं? आप हमें बतायें। ठीक है, ऐसा स्वीकार कर ब्रह्मा जी ने नारद से कहा कि, यदि संन्यास के भेदों से आचार भेद कैसे? ऐसा कहें तो तत्त्वतः संन्यास एक ही है। अज्ञान से, अशक्ति वश तथा कर्मलोप इस त्रैविध्य को पाकर वैराग्यसंन्यास, ज्ञानसंन्यास ज्ञानवैराग्यसंन्यास और कर्मसंन्यास इस प्रकार चातुर्विध्य को प्राप्त हो गया है। जैसे दुष्टदमनों के अभाव से विषय वितृष्णा को प्राप्त कर पूर्वपुण्य कर्मवश जो संन्यस्त होता है, वह वैराग्य संन्यासी है। शास्त्रज्ञान से पाप-पुण्य लोकों के अनुभव श्रवण से

प्रपञ्च से विरत होकर क्रोध, ईर्ष्या, असूया, अहंकार, अभिमानात्मक समस्त संसार को छोड़कर दारैषणा, धनैषणा, लोकैषणात्मक देहवासना, शास्त्रवासना, लोकवासना को त्याग कर वमन के समान समस्त संसार को मानकर साधनसम्पन्न जो संन्यस्त होता है वह ज्ञान संन्यासी कहलाता है।

क्रमशः सबकुछ छोड़कर अभ्यास कर एवं अनुभव कर ज्ञान और वैराग्य से स्वरूपानुसंधान द्वारा शरीरमात्र अवशिष्ट संन्यास लेकर जो जातरूपधर होता है वह ज्ञानवैराग्य संन्यासी कहलाता है। ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृहस्थ होकर फिर वानप्रस्थाश्रम को अपनाकर वैराग्य के अभाव होने पर भी आश्रम के अनुसार जो संन्यास लेता है वह कर्मसंन्यासी कहलाता है। ब्रह्मचर्य से संन्यास लेकर संन्यास से जातरूपधर वैराग्यसंन्यासी कहलाता है। विद्वत्संन्यासी, ज्ञानसंन्यासी, विविदिषा संन्यासी तथा कर्म संन्यासी ये चार होते हैं। कर्म संन्यास के भी दो प्रकार होते हैं। एक निमित्त संन्यास दूसरा अनिमित्त संन्यास। निमित्त संन्यास ही आतुर संन्यास है। अनिमित्त संन्यास ही क्रम संन्यास है। आतुर अवस्था में सभी कर्मों को लोप कर प्राणोत्क्रमण काल में जो संन्यास है वही निमित्त संन्यास है। दृढ़ाङ्ग हो समस्त कृतक को नश्वर एवं देहादि को हेय जानकर हंस, शुचिषद्, वसु, अंतरिक्ष, सद्धोता, वेदिषद्, अतिथि, दुरोणसत्, श्रृषद, वरसद्, ऋतसत्, व्योमसत्, अब्जा, गोजा, ऋतजा, अद्रिजा, ऋृत, बृहत् ब्रह्म के अतिरिक्त सभी को नश्वर जानकर क्रमशः जो संन्यास लेता है, वग निमित्त संन्यास होता है।

संन्यास भी छः प्रकार का होता है (1) कुटीचक, (2) बहूदक, (3) हंस, (4) परमहंस, (5) तुरीयातीत तथा (6)अवधूत।

इनमें प्रथम कुटीचक संन्यासी शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन तथा कन्थाधारी होता है। माता, पिता तथा गुरु का आराधन होता है। पिष्ट, कुदार, शिकहर धारण करने वाला होता है तथा मन्त्र साधना में तत्पर होता है। एक ही जगह अन्न खानेवाला, श्वेतवस्त्र, उर्ध्वपुण्ड्र तथा त्रिदण्ड धारण करने वाला होता है।

दूसरा बहूदक संन्यासी प्रायः सबकुछ कुटीचक संन्यासी के समान आचार वाला होते हैं किन्तु इनमें विशेषता यह होती है कि मधुकरी वृत्ति से ये आठ कौर ही भक्षण करने वाला होता है।

तीसरा हंस संन्यासी जटाधारी त्रिपुण्ड्र या उर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है अनेक स्थलों पर मधुकरी वृत्ति से अन्न खाने वाला तथा कौपीन धारण करता है।

चौथा परमहंस शिखा तथा यज्ञोपवीत से रहित होता है। पाँच घरों से भिक्षा लेकर हाथ से ही खाने वाला (करपात्री) होता है, केवल एक कौपीन, एक पात्र, एक वंशदण्ड धारण करता है, समस्त अंगो मे भस्म धारण करता है साथ ही सर्वत्यागी होता है।

पाँचवां तूरीयातीत संन्यासी गोमुख तथा फलाहारी होता है, कदाचित् अन्नाहार की अपेक्षा हो तो देहनिर्वाहार्थ मात्र तीन गृह से प्राप्त अन्न को खाने वाला होता है। ये प्रायः नग्न तथा शरीर को शव समझने वाला होता है।

छठें अवधूत संन्यासी का कोई नियम नहीं होता है तथापि निन्दित और पतितों को छोड़कर सभी वर्णों से बिना मांगे जो कुछ उपलब्ध हो उसे आजगरी वृत्ति से खाने वाला होता है।

त्रिलोक पावनी सम्बर्द्धिनी एवं अविनाशिनी यह वर्णाश्रम मर्यादा, नाशवान मर्त्यलोक में भी निवास करने वाली मानव जाति के संरक्षणार्थ परमोपयोगी साधन है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। वर्णों में ब्रह्माण और आश्रमों में संन्यास ये ही दो श्रेष्ठ है, अतएव संन्यासाश्रम का महत्व सर्वाधिक है। ऐसा शास्त्रों का डिंडिमघोष है। संन्यासी निश्चित ही स्वयं को वर्णाश्रमधर्म का रक्षक समझे। उसके आचरण से ही व्यक्त होता है कि यह दैवी जगत् को भी सम्बर्द्धित करने को समर्थ है। क्योंकि ऐसा करना संन्यासियों पर पूर्ण उत्तरदायित्व है। यदि देहाध्यास शून्य परमहंस दशा में हो तब ,किन्तु तद्व्यतिरिक्त अवस्थाओं में वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के लिये संन्यासी को सतत् सावधान रहना चाहिये।

करालकलिकाल के प्रभावाधिक्य से कल्मषदूषित मानव समाज में अपने-अपने धर्मों के त्यागने वाले चारों वर्ण भी उनके बीज रक्षण में भी समर्थ नहीं हैं यह जानना चाहिए। प्रबल इस कलिकाल में ब्राह्मण और शूद्र ही बचे हुए है। इस घोर कलिकाल में उसकी बीज रक्षा भी किसी न किसी प्रकार होगी। आश्रमों के विषय में भी ऐसा ही जानना चाहिए।

इस कलिकाल की प्रबलता से सम्प्रति गृहस्थ और संन्यास ये दो ही आश्रम बचे हुए हैं। जब कलिकाल अपना घोर रूप धारण करेगा तो आश्रमों के भी बीज रक्षण करना महान कठिन से कठिनतर हो जायेगा। इसलिए आपद् धर्म का अनुसरण कर तन्त्रशास्त्र कलिकाल धर्म-प्रकरण में पांचवें वर्ण और दो आश्रमों की स्थिति का निर्देश करते हैं। किन्तु यह व्यवस्था आपत् मूलिका है। वर्णाश्र धर्म की मर्यादा की रक्षा

के लिए ब्राह्मण और वर्णेतर संन्यासी अपने पृथक-पृथक चिह्नों को धारण करते हुए तथा सावधानतया अपने-अपने कर्मों के निर्वाह करते हुए परमपद को प्राप्त करते हैं। यद्यपि तन्त्रों में स्पष्टरूपेण यह देखा जाता है तथापि सभी पाञ्चवार्णिक मानव, वर्णाश्रम मर्यादा की रक्षा के लिए ब्राह्मण वर्ण के साधुओं से ही दीक्षा ग्रहण करें। ऐसा भी उसमें नि:सन्देह कहा गया है। ब्राह्मण के द्वारा करायी गई कर्मकाण्ड पद्धति सिद्धिप्रद,श्रेय:साधिका तथा हिताधायिका कही गयी है-

हे देवि! कृतादि में चार वर्ण और चार आश्रम तथा उनके पृथक्-पृथक् आचार वर्णित हैं, किन्तु कलिकाल में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा सामान्य ये पाँच वर्ण कहे गये है। हे देवि! सभी वर्णों के लिये दो ही आश्रम निर्दिष्ट हैं क्योंकि तप: स्वाध्याय हीन क्लेशपूर्वक प्रयास में असमर्थ अल्पायु मानवों के दैहिक परिश्रम कहाँ? हे प्रिये! ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ ये दो आश्रम तो इस कलिकाल में नहीं रह गये गृहस्थ और संन्यास ये दो ही आश्रम विप्र तथा विप्रेतरों के लिये हैं। इन दो आश्रमों मं पांचों वर्णों को समान रूप से अधिकार है किन्तु इनके कर्म और चिह्न पृथक्-पृथक् हैं। हे दवि! कलि में अवधूताश्रम संन्यास-संस्कार में पांचों वर्णों का समान अधिकार है।

भगवान् अपौरूषेय वेद कर्म-उपासना तथा ज्ञान इन तीन काण्डों में विभक्त है। कलिकाल के प्रभावाधिक्य से वैदिक काण्डत्रय के साधन में अल्पशक्ति वाले मनुष्य समर्थ नहीं हो सकते, इस कारण वैदिक कर्मकाण्ड के स्थान में तान्त्रिक कर्मकाण्ड पद्धति प्रचलित हुई, इसलिये वर्तमान समय में सर्वत्र ही कर्मकलाप में तान्त्रिक प्रयोग का आधिक्य परिलक्षित होता है। अद्वैत स्व स्वरूप की प्राप्ति के लिए असमर्थ पुरूषों के लिए ही कलिकाल में अनेकविध द्वैत दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रचार हुआ, हो रहा है और होगी भी।

द्वैताद्वैत सगुण निर्गुण के भेद से ही मुक्ति में भी भेद है। अद्वैत निर्गुणोपासकों की निर्वाण मुक्ति, द्वैत सगुणोपासकों के कल्याणार्थ सामीप्य मुक्ति, द्वैत सगुणोपासकों के कल्याणार्थ सामीप्य मुक्ति । कलिकाल के प्रभाव से संन्यासाश्रम सेवियों में भी भेद होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि काल दुरतिक्रम है इसलिए निश्चयपूर्वक कलिकाल में चतुर्थाश्रम सेवियों की विविध श्रेणियाँ देखी जाती हैं। निर्वाणपद या सालोक्य मुक्ति प्राप्त करना उनका लक्ष्य है। जो कुछ भी है किन्तु वे सभी आध्यात्मिक उन्नति के अधिकारी है। विषवत् विषयों के वैराग्य से सम्पन्न वे इस लोक को पवित्र करते है। वर्णाश्रम मर्यादा के रक्षण में तत्पर होने के कारण

वे सभी समादरणीय हैं परन्तु वैदिक संन्यास के नियमों का पूर्ण ज्ञान तथा पालन करने में असमर्थता होने से उन सभी को साधन पद्धति, शिक्षा, दीक्षा और सदाचारादि में भेद होना आवश्यक है।

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम्।

नमामि भगवत्पादशङ्करं लोकशङ्करम्॥

योगनिद्रा से जागने पर भगवान् विष्णु की सृष्टि करने की इच्छा हुई। यद्यपि इच्छाशक्ति उनमें सदा ही विद्यमान रहती है, फिर भी उस समय उन्होंने उसी इच्छाशक्ति से लौकिक स्वरूप धारण किया और उस रूप के द्वारा प्रलयकालीन अन्धकार को नष्ट किया।

मनुष्य शरीर नरक, स्वर्ग और मोक्ष की सीढ़ी है तथा कल्याण कारी ज्ञान वैराग्य और भक्ति को देने वाला है। इसलिए मनुष्य शरीर प्राप्त कर जो कुछ कर्म नहीं किया तो जीवन व्यर्थ है। श्री नारायण ने श्रुतिस्मृति पुराणों एवं धर्मशास्त्रों के द्वारा मनुष्यों को चार वर्णों में विभक्त किया 1 ब्राह्मण, 2 क्षत्रिय, 3 वैश्य, और 4 शूद्र तथा चारों का अलग-अलग धर्म बताया। सभी के धर्म श्रेष्ठ बताये गये हैं। कलियुग में मानवमात्र की आयु सौ वर्ष कही गयी है। जिसमें 25-25 वर्षों तक सभी आश्रमों में रह कर उसका पालन करने कहा गया है परन्तु कलियुग में वानप्रस्थाश्रम का निषध है।

संन्यास आश्रम को ग्रहण करने के लिये पहले ब्रह्मचर्य इसके बाद गृहस्थाश्रम में रह कर संन्यास आश्रम करे या केवल ब्रह्मचर्य से संन्यास आश्रम ग्रहण किया जा सकता है। संन्यास केवल ब्राह्मणो को ही ग्रहण करना चाहिए।

संन्यास धर्म को कामुक, लोभी, ईर्ष्या करने वाला, दम्भी, मोह, माया से युक्त पतितों के साथ रहने वाला, संसारिक वस्तु को भोगने वाला, सभी से स्नेह करने वाला, असाध्य रोगों से युक्त ऐसे व्यक्ति संन्यास के अधिकारी नहीं होते। इसलिए सभी संसारिक पदार्थों से विरक्त होकर संन्यास आश्रम ग्रहण करें। शास्त्रों में संन्यास आश्रम ग्रहण करने का विशेष महत्त्व कहा गया है। यथा-

त्रिंशत् परां त्रिंशद्परांस्त्रिशच्च परतः परान्।

सद्यः संन्यसनादेव नरकात्तारयेत्पितृन्॥

षष्टिकुलान्यतीतानि षष्टिकागामिकानि च।

नरकादुद्धरत्येव संन्यस्तोऽहमिति ब्रुवन्॥

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रपाणिनः।

यादृशं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः॥

(यतिधर्मपरिचय पृ. 45)

संन्यासी नर संन्यास लेने के बाद अपने तीस पीढ़ी पीछे के, तीस पीढ़ी आगे के और आगे के तीस पीढ़ी से और भी ऊपर तीस पीढ़ी तक वंशजों को तार देता है अर्थात् उद्धार कर देता है। संन्यस्त व्यक्ति जब कहता है कि मैने संन्यास ले लिया उसी क्षण संन्यासी के अतीत साठ कुलों और आगामी साठ कुलों का उद्धार हो जाता है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए।

वीतराग और एकान्त वासी मुनि (संन्यासी) को जो सुख आन्नद प्राप्त होता है वह सुख आनन्द देवराज इन्द्र तथा चक्रपाणि श्री विष्णु जी को भी नहीं मिलता है। वर्तमान समय में संन्यासियों के देहत्यागानन्तर शिष्य तथा पुत्रादि लोग अशौच मना रहे हैं। अशौच केवल गृहस्थादि को प्राप्त होता है। संन्यासियों को नहीं होता। इसलिए संन्यासियों के ब्रह्मीभूत होने पर दाहकर्म, स्पर्शास्पर्श, सन्ध्यावन्दन तथा देवपूजादि का त्याग नहीं करना चाहिए।

संन्यासी के कर्तव्य एवं लक्षण -

यति धर्म अथवा संन्यास धर्म के विषय में हम निम्नलिखित ग्रन्थों का विवेचन उपस्थित करेंगे यथा गौतम, आपस्त बधर्मसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र, वसिष्ठधर्मसूत्र, मनु, याज्ञवल्क्य, वैखानस, विष्णुधर्मसूत्र, शान्तिपर्व (अध्याय 246 एवं 279), आदिपर्व (अ. 119/7-21), आश्वमेधिकपर्व (46। 18-46) शंखस्तुति (7, श्लोक बद्ध), दक्ष (7।28-38), कूर्मपुराण (उत्तरार्ध अध्याया 28) अग्निपुराण (161) आदि। हम संन्यास के कर्तव्यों एवं लक्षणों की चर्चा निम्न रूप से करेंगे।

(1) संन्यास आश्रम ग्रहण करने के लिए व्यक्ति को प्रजापति के लिए यज्ञ करना पड़ता है, अपनी सारी स पत्ति पुरोहितों, दरिद्रों एवं असहायों में बाँट देनी होती है। जो लोग तीन वैदिक अग्नियाँ रखते हैं उन्हें प्राजापत्येष्टि तथा जिनकें पास केवल गृह्य अग्नि होती है वे अग्नि के लिए इष्टि करते हैं। नृसिंहपुराण के

अनुसार संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने के पूर्व आठ श्राद्ध करने चाहियें। नृसिंहपुराण ने प्रत्येक वैदिक शाखानुयायी को संन्यासी होने की छूट दी है, यदि वह वाणी, कामसंवेग, भूख, जिह्वा का संयमी हो। आठ प्रकार के श्राद्ध ये हैं दैव (वसुओं, रूद्रों एवं आदित्यों को), आर्ष (मरीचि आदि दस ऋषियों को), दिव्य (हिरण्यगर्भ एवं वैराज को), मानुष (सनक, सनन्दन एवं अन्य पाँच को), भौतिक (पंचभूतों, पृथिवी आदि को), पैतृक (कव्यवाड् अग्नि, सोम, अर्यमाओं-अग्निष्वात्त आदि पितरों को), मातृश्राद्ध (गौरी-पद्मा आदि दस माताओं को), तथा आत्मश्राद्ध (परमात्मा को)। मनु ने सतर्कता से लिखा है कि वेदाध्ययन, सन्तानोत्पत्ति एवं यज्ञों के उपरान्त (देव-ऋण, ऋषि-ऋण एवं पितृ-ऋण चुकाने के उपरान्त) ही मोक्ष की चिन्ता करनी चाहिए। बौधायन एवं वैखानस ने लिखा है कि वह गृहस्थ, जिसे सन्तान न हो, जिसकी पत्नी मर गयी हो या जिसके लड़के ठीक से धर्म-मार्ग मे लग गये हों या जो 70 वर्ष से अधिक अवस्था का हो चुका हो, संन्यासी हो सकता है। कौटिल्य ने लिखा है कि जो व्यक्ति बिना बच्चों एवं पत्नी का प्रबन्ध किये संन्यासी हो जाता है उसे साहस-दण्ड मिलता है। मनु के मत से संन्यासी होने वाल अपनी अग्नियों को अपने में समाहित कर घर-त्याग करता हैं।

(2) घर, पत्नी, पुत्रों एवं सम्पत्ति का त्याग करके संन्यासी को गाँव के बाहर रहना चाहिए, उसे बेघर होना चाहिए, जब सूर्यास्त हो जाय तो पेड़ों के नीचे या परित्यक्त घर में रहना चाहिए, और सदा एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते रहना चाहिए। वह केवल वर्षा के मौसम में एक स्थान पर ठहर सकता है। मिताक्षरा द्वारा उद्धृत शंख के वचन से पता चलता है कि संन्यासी वर्षा ऋतु में एक स्थान पर केवल दो मास तक रुक सकता है। कण्व का कहना है कि वह एक रात्रि गाँव में या पाँच दिन कसबे में (वर्षा ऋतु को छोड़कर) रह सकता है। आषाढ़ की पूर्णिमा से लेकर चार या दो महीनों तक वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रुका जा सकता है। संन्यासी यदि चाहे तो गंगा तट पर सदा रह सकता है।

(3) संन्यासी को सदा अकेले घूमना चाहिए, नही तो मोह एवं बिछोह से वह पीड़ित हो सकता है। दक्ष ने इस बात पर यों बल दिया है- वास्तविक संन्यासी अकेला रहता है, जब दो एक साथ टिकते हैं तो दोनों एक जोड़ा हो जाते है, जब तीन साथ टिकते हैं तो वे ग्राम के समान हो जाते हैं, जब अधिक एक साथ टिकते हैं तो वे नगर के समान हो जाते हैं। तपस्वी को जोड़ा, ग्राम एवं नगर नहीं बनाना चाहिए, नहीं तो वैसा

करने पर वह धर्मच्युत हो जाएगा। क्योंकि दो के साथ रहने से राजवार्ता (लोकवार्ता) होने लगती है, एक-दूसरे की भिक्षा के विषय में चर्चा होने लगती है और अत्यधिक सान्निध्य से स्नेह, ईर्ष्या, दुष्टता आदि मनोभावों की उत्पत्ति हो जाती है। कुतपस्वी लोग बहुत-से कार्यों में संलग्न हो जाते हैं, यथा धन-सम्पत्ति या आदर प्राप्ति के लिए व्याख्यान देकर शिष्यों को एकत्र करना आदि। तपस्वियों के लिए चार प्रकार की क्रियाएँ हैं- (1) ध्यान, (2) शौच, (3) भिक्षा एवं (4) एकान्तशीलता ।

नारद के अनुसार यतियों के लिए छः प्रकार के कार्य राजदण्वत् अनिवार्य माने गये हैं- भिक्षाटन, जप, ध्यान, स्नान, शौच, देवार्चन।

(4) संन्यासी को ब्रह्मचारी होना चाहिए और सदा ध्यान एवं आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति भक्ति रखनी चाहिए एवं इन्द्रिय-सुख, आनन्दप्रद वस्तुओं से दूर रहना चाहिए।

(5) संन्यासी को बिना जीवों को कष्ट दिये घूमना-फिरना चाहिए, उसे अपमान के प्रति उदासीन रहना चाहिए, यदि कोई उससे क्रोध प्रकट करे तो क्रोधावेश में नहीं आना चाहिए। यदि उसका कोई बुरा करे तो भी उसे कल्याणप्रद शब्दों का उच्चारण करना चाहिए और उसे कभी भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिए।

(6) उसे श्रौताग्नियाँ, गृह्याग्नि एवं लौकिक अग्नि (भोजन बनाने के लिए) नहीं जलानी चाहिए। केवल भिक्षा से प्राप्त भोजन करना चाहिए।

(7) उसे ग्राम में भिक्षाटन के लिए केवल एक बार जाना चाहिए, वर्षा को छोड़कर रात्रि के समय ग्राम में रहना नहीं चाहिए, किन्तु यदि रुकना ही पड़े तो एक रात्रि से अधिक नहीं रुकना चाहिए।

(8) उसे बिना किसी पूर्व योजना या चुनाव के सात घरों से भिक्षा माँगनी चाहिए। बौधायन धर्मसूत्र के मत से शालीन एवं यायावर प्रकार के ब्राह्मण गृहस्थों के यहाँ ही भिक्षा के लिए जाना चाहिए और उतने ही समय तक रुकना चाहिए जितने में एक गाय दुह ली जाती है। बौधायन ने अन्य लोगों के मतों को उद्धृत कर बताया है कि संन्यासी किसी भी वर्ण के यहाँ भिक्षा माँग सकता है, किन्तु भोजन केवल द्विजातियों के यहाँ कर सकता है। वसिष्ठधर्मसूत्र के मत से वह केवल ब्राह्मण के यहाँ माँग सकता है। वायुपुराण के अनुसार संन्यासी को केवल एक व्यक्ति के यहाँ ही नहीं, बल्कि कई व्यक्तियों के यहाँ से माँगकर खाना चाहिए। उसे

मांस या मधु का सेवन नहीं करना चाहिए, आम श्राद्ध (बिना पके भोजन का श्राद्ध) नहीं ग्रहण करना चाहिए और न ऊपर से नमक का प्रयोग करना चाहिए (नमक के साथ पकायी हुई साग-भाजी खा लेनी चाहिए।)

उशना के मतानुसार संन्यास परम्परा में भिक्षा से प्राप्त भोजन पाँच प्रकार का होता है-

(क) माधुकर- किन्हीं तीन, पाँच या सात घरों से प्राप्त भिक्षा, जिस प्रकार मधुमक्खी विभिन्न प्रकार के पुष्पों से मधु एकत्र करती है।

(ख) प्राक्प्रणीत- जब शयन स्थान से उठने के पूर्व ही भक्तों द्वारा भोजन के प्रार्थना की जाती है।

(ग) अयाचित- भिक्षाटन करने के लिए उठने से पूर्व ही जब कोई भोजन के लिए निमन्त्रित कर दे।

(घ) तात्कालिक- संन्यासी के पहुँचते ही जब कोई ब्राह्मण भोजन करने की सूचना दे।

(ङ) उपपन्न- भक्त शिष्यों या अन्य लोगों के द्वारा मठ में लाया गया पका भोजन। उशना की यह (8)

उक्ति स्मृतिमुक्ताफल एवं यतिधर्मसंग्रह में उद्धृत है। वसिष्ठधर्मसूत्र के मत से ब्राह्मण संन्यासी को शुद्र के घर में भोजन नहीं करना चाहिए, और अपरार्क की व्याख्या के अनुसार ब्राह्मण-गृहस्थ के घर के अभाव में क्षत्रिय या वैश्य के यहाँ भोजन करना चाहिए। आगे चलकर हर किसी के घर में भिक्षाटन करना कलिवर्ज्य मान लिया गया। स्मृतिमुक्ताफल पराशर एवं क्रतु ने बूढ़े एवं रुग्ण संन्यासी के लिए छूट दी है, वह एक दिन या कई दिनों तक एक ही व्यक्ति के यहाँ भोजन कर सकता है या अपने पुत्रों, मित्रों, आचार्य, भांइयों या पत्नी के यहाँ खा सकता है। पराशर एवं सूतसंहिता के मत से घर में भोजन करने का प्रथम अधिकार हैं संन्यासी एवं ब्रह्मचारी का, यदि कोई व्यक्ति बिना उन्हें भिक्षा दिये खा लेता है तो उसे चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। संन्यासी को भोजन देने के पूर्व उसके हाथ पर जल छोड़ा जाता है और भोजन के देने के उपरान्त पुनः जल छोड़ा जाता है।

(9) संन्यासी को संध्या के समय भिक्षा माँगनी चाहिए, जबकि रसोईघर से धूम का निकलना बन्द हो चुका हो, अग्नि बुझ चुकी हो, बरतन आदि अलग रख दिये गये हों। उसे मांस एवं मधु नहीं ग्रहण करना चाहिए। मनु के मत से संन्यासी को न तो भविष्यवाणी करके, शकुनाशकुन बताकर, ज्योतिष का प्रयोग करके, विद्या, ज्ञान आदि के सिद्धान्तों का उद्घाटन करके और न विवेचन आदि करके भिक्षा माँगने का प्रयत्न

करना चाहिए, उसे ऐसे घर में भी नहीं जाना चाहिए जहाँ पहले से ही यति लोग, ब्राह्मण, पक्षी एवं कुत्ते, भिखारी या अन्य लोग आ गये हों।

(10) संन्यासी को भरपेट भोजन नहीं करना चाहिए, उसे केवल उतना ही पाना चाहिए जिससे वह अपने शरीर एवं आत्मा को एक साथ रख सके, उसे अधिक पाने पर न तो सन्तोष या प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए, और न कम मिलन पर निराशा। कहा भी गया है, संन्यासी को 8 ग्रास, वानप्रस्थ को 16 ग्रास, 32 ग्रास तथा ब्रह्मचारी को जितना चाहे उतना खाना चाहिए।

(11) संन्यासी को अपने पास कुछ भी एकत्र नहीं करना चाहिए, उसके पास केवल जीर्ण-शीर्ण परिधान, जलपात्र एवं भिक्षा-पात्र होना चाहिए। देवल के मत से उसके पास केवल जल-पात्र, पवित्र(जल छानने के लिए वस्त्र), पादुका, आसन एवं कन्था (अति जाड़े से बचने के लिए कथरी) होनी चाहिए। महाभारत में आया है कि काषाय धारण, मौण्ड्य, कमण्डल, जलपात्र एवं त्रिविष्टब्ध से भोजन की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं। महाभाष्य में घोषित किया है कि त्रिविष्टब्धक (विदण्ड) से ही किसी को परिव्राजक समझा जा सकता है। वायुपुराण में उन सामग्रियों के नाम दिये हैं, जिन्हे संन्यासी अपने पास रख सकता है।

(12) संन्यासी को केवल अपना गुप्तांग ढकने के लिए वस्त्र धारण करना चाहिए, उसे अन्य लोगों द्वारा छोड़ा हुआ जीर्ण-शीर्ण किन्तु स्वच्छ वस्त्र पहनना चाहिए। कुछ लोगों के मत से उसे नंगा रहना चाहिए। वसिष्ठ के मत से उसे अपने शरीर को वस्त्र के टुकड़े से अर्थात् शाटी (गात्रिका) से ढकना चाहिए या मृगचर्म या गायों के लिए काटी गयी घास से। बौधायनधर्णसूत्र के अनुसार उसका वस्त्र काषाय होना चाहिए।

(13) संन्यासी का भिक्षापात्र तथा जलपात्र मिट्टी, लकड़ी, तुम्बी या बिना छिद्र वाले बाँस का होना चाहिए, किसी भी दशा में उसे धातु का पात्र प्रयोग नहीं लाना चाहिए। उसें अपना जल-पात्र या भोजन-पात्र जल से या गाय से बालों से घर्षण करके स्वच्छ रखना चाहिए।

(14) उसे नख, बाल एवं दाढ़ी कटा लेना चाहिए। किन्तु ने विकल्प भी दिया है अर्थात् वह चाहे तो मुण्डित रहे या केवल जटा रखे।

(15) उसे स्थण्डिल (खाली चबूतरे) पर सोना चाहिए. यदि रोग हो जाय तो चिन्ता नहीं करनी चाहिए। न तो उसे मृत्यु का स्वागत करना चाहिए न जीने पर प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए। उसे धैर्यपूर्वक मृत्यु की बाट उसी प्रकार जोहनी चाहिए जिस प्रकार नौकर नौकरी के समय की बाट देखता रहता है।

(16) केवल वैदिक मन्त्रों के जप को छोड़कर उसे साधारणत: मौन-व्रत रखना चाहिए।

(17) याज्ञवल्क्य के अनुसार उसे त्रिदण्डी होना चाहिए, किन्तु मनु ने उसे दण्डी ही कहा है। दण्ड शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। बाँस का दण्ड, नियन्त्रण। बौधायनधर्म का कहना है कि संन्यासी एक दण्डी या त्रि-दण्डी हो सकता है। उसे प्राणियों को वाणी, क्रियाओं एवं विचारों से हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। एवं दक्ष के मत से जो व्यक्ति वाणी, मन एवं शरीर पर संयम या नियन्त्रण रखता है, वही त्रिदण्डी है। दक्ष का कहना है देव लोग भी, जो सत्त्वगुण वाले होते हैं, इन्द्रिय-सुख के वशीभूत हो सकते हैं, तो मनुष्यों का क्या कहना है ? अत: जिसने आनन्द का स्वाद लेना छोड़ दिया है वही दण्ड धारण कर सकता है, अन्य लोग ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि वे भोग-विलास के वशीभूत हो सकते हैं। केवव बाँस दण्डों के धारण से कोई संन्यासी त्रिदण्डी नहीं हो जाता, वही त्रिदण्डी है जो अपने में आध्यात्मिक दण्ड रखता हैं। बहुत से लोग केवल त्रिदण्ड धारण करके अपनी जीविका चलाते हैं। वाणी के दण्डन या नियन्त्रण का तात्पर्य है मौन-धारण, कर्म-नियन्त्रण है किसी जीव को हानि न पहुँचाना तथा मानसिक नियन्त्रण है प्राणायाम एवं अन्य यौगिक अभ्यास आदि करना । दक्ष के अनुसार त्रिदण्ड यतियों का विशिष्ट बाह्य चिह्न है, मेखला मृगचर्म एवं दण्ड वैदिक छात्रों का तथा लम्बे-लम्बे नख एवं दाढ़ी वानप्रस्थ का लक्षण है। लघु विष्णु के मत से संन्यासी एकदण्डी या त्रिदण्डी हो सकता है।

(18) उसे यज्ञों, देवों एवं दार्शनिक विचारों से सम्बन्धित वैदिक बातों का अध्ययन एवं उच्चारण करना चाहिए

(19) उसे भली-भाँति आगे भूमि-निरीक्षण करके चलना चाहिए, पानी छानकर पीना चाहिए, सत्य से पवित्र शब्दों का उच्चारण करना चाहिए तथा वही करना चाहिए जिसे करने के लिए अन्त:करण कहे।

(20) वैराग्य (इच्छाहीनता) की उत्पत्ति एवं अपनी इन्द्रियों के निग्रह के लिए उसे यह सोचना चाहिए कि यह शरीर रोगपूर्ण होगा ही, एक-न-एक दिन यह बूढ़ा होगा ही, यह भाँलि-भाँति के अपवित्र

पदार्थों से भरा हुआ है। उसे इस संसार की क्षणभंगुरता पर ध्यान देना चाहिए, उसे गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक की अनगित परेशानियों तथा जन्म-मरण के अजस्र प्रवाह की कल्पना करते रहना चाहिए।

(21) सत्यता, अप्रवञ्चना, क्रोधहीनता, विनीतता, पवित्रता, भले एवं बुरे का भेद, मन की स्थिरता , मन-नियन्त्रण, इन्द्रिय-निग्रह, आत्मज्ञान आदि सभी वर्णों के धर्म हैं। संन्यासी को तो इन्हें प्राप्त करना ही है, क्योंकि केवल वेश-भूषा, कमण्डल आदि से कुछ होता-जाता नहीं, इन्हें तो वञ्चक भी धारण कर सकता है।

(22) संन्यासी को प्राणायाम एवं अन्य योगांगों द्वारा अपने मन को पवित्र रखना चाहिए, जिससे वह क्रमश: ब्रह्म को समझ ले और अन्त में मोक्ष पद प्राप्त कर ले।

संन्यासियों के प्रकार-

बहुत से संन्यासियों के प्रकारों के वर्णन पाया जाता है। अनुशासन पर्व मे चार प्रकार बताये है, कटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस जिनमें प्रत्येक आगे वाला पिछले से श्रेष्ठ है। कूटीचक संन्यासी अपने गृह में ही धारण कर सकता है। शिखा जनेऊ, त्रिदण्ड, कमण्डलु धारण करता है तथा अपने पुत्रों या कुटुम्बियों से भिक्षा माँगकर खाता है। पुत्रों द्वारा निर्मित कुटिया में रहता है। कूटीचक लोग गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य एवं हारीत नामक ऋषियों के आश्रम रहते थे, वे प्रति दिन केवल 8 ग्रास भोजन करते थे, योग-मार्ग जानते थे और मोक्ष प्राप्ति के साधनों में लगे रहते थे। बहूदकों के पास त्रिदण्ड, कमण्डल कषाय वस्त्र रहते थे, वे ऋषितुल्य सात ब्राह्मणों के यहाँ भिक्षा माँगते हैं, किन्तु मांस, नमक एवं बासी भोजन नहीं लेते। हंस लोग ग्राम में एक रात्रि, नगर पाँच रात्रियों से अधिक भिक्षा माँगने के लिए नहीं ठहरते, वे गोमूत्र या गोबर पीते-खाते हैं या एक मास का उपवास करते हैं या सदैव चान्द्रायण व्रत करते रहते हैं। स्मृतिमुक्ताफल में उद्धृत पितामह के मत से हंस संन्यासी एकदण्डी होते हैं और केवल भिक्षाटन के लिए ही ग्राम में प्रवेश करते हैं, नहीं तो सदैव खोह (गुफा) में नदी-तट पर या पेड़ के नीचे रहते हैं। परमहंस सदैव पेड़ के नीचे ही, खाली मकान या श्मशान में निवास करते हैं। या तो वे नंगे रहते हैं या वस्त्र धारण करते हैं। वे धर्माधर्म, सत्यासत्य, पवित्रापवित्र के द्वन्द्वों य द्वैतों के परे रहते हैं। वे सबको एक समान मानते हैं, सबको आत्मा के समान समझते हैं और सभी वर्णों के यहाँ भिक्षा माँगते हैं। पराशरमाधवीय के मत से परमहंसो को एक दण्ड धारण करना चाहिए, इनके अनुसार

परमहंस के दो प्रकार हैं, विद्वत्परमहंस (जिसने ब्रह्मानुभूति कर ली हो)तथा विविदिषु (जो आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए सतत सचेष्ट रहते हैं) पराशर माधवीय ने विद्वत् की व्याख्या के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् पर तथा विविदिषु के लिए जाबालोपनिषद् पर जोर दिया है। याज्ञवल्क्य विद्वत्संन्यास के उदाहरण हैं, जिससे जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है (जीवनमुक्तिसे इसी जीवन में अर्थात् इसी शरीर के साथ मोक्ष प्राप्त होता है। विविदिषा-संन्यास से मृत्युपरान्त मोक्ष प्राप्त होता है, जिसे विदेह-मुक्तिभी कहा जाता है।)

जाबालोपनिषद् में परमहंसों का विशद वर्णन पाया जाता है। कुछ ऐसे ऋषि हैं, यथा संवर्तक, आरुणि श्वेतकेतु, दुर्वासा,भृगु,निषाद, जड़भरत, दत्तात्रेय, रैवतक, जो अपने लिए कोई विशिष्ट चिह्न नहीं रखते। वे यद्यपि पागल नहीं है, किन्तु पागलों-जैसा व्यवहार करते हैं, केवल देह एवं आत्मा को साथ रखने के लिए ये लोग भिक्षा के लिए बाहर जाते है, भिक्षा का प्राप्ति या अप्राप्ति से अप्रभावित रहते हैं उनके पास घर नहीं होता, वे सदा घूमा करते हैं और मन्दिर में या घास के झुण्ड पर या वल्मीक पर या पेड़ के नीचे या नदी-तट पर या गुफा में रहते हैं, वे किसी भी वस्तु से मोह नहीं रखते, वे केवल परमात्मा के ध्यान में मग्न रहते हैं। सूतसंहिता के अनुसार केवल हंस एवं परमहंस ही शिखा एवं जनेऊ का त्याग कर सकते हैं।

संन्यासोपनिषद् में दो अन्य प्रकार के पाये जाते हैं, यथा- तुरीयातीत एवं अवधूत। तुरीयातीत (जो चौथे स्तर अर्थात् परमहंस के ऊपर हो) गाय के समान फल खाता है(हाथों का प्रयोग नहीं करता), यदि वह पका भोजन ले तो केवल तीन घरों से ही लेता है, वह वस्त्र नहीं धारण करता, उसका शरीर यों ही जीता रहता है (किन्तु वह उसके विषय में बिल्कुल सचेत नहीं होता), वह अपने शरीर से ऐसा व्यवहार करता है मानो वह मर चुका है। अवधूत किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं मानता। वह किसी भी वर्ण के यहाँ भोजन कर सकता है, किन्तु पतियों एवं पापियों का भोजन नहीं ग्रहण करता। वह अजगर के समान खाता है। वह सदा परब्रह्म के वास्तविक ध्यान में निमग्न रहता है।

संन्यास तथा वर्ण-

संन्यास तीनों वर्णों के लोग धारण कर सकते हैं या केवल ब्राह्मण ही? इस प्रश्न के उत्तर में गहरा मतभेद रहा है। श्रुतियों बृहदारण्यकोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् आदि ने तो केवल ब्राह्मणों को ही संन्यास के

योग्य माना है। यही बात मनु में भी पायी जाती है। लघु-विष्णु में आया है कि संन्यास ब्राह्मणों के लिए है, अन्य द्विजातियों के लिए केवल तीन ही आश्रम हैं। किन्तु अन्य लेखकों ने श्रुतियों में प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द को उपलक्ष्य अर्थात् उदाहरण के रूप में माना है और सूत्रकार कात्यायन ने तो स्पष्ट कहा- वेदाध्ययन के उपरान्त तीनों वर्ण चारों आश्रमों में प्रवेश कर सकते हैं। जाबालोपनिषद में आया है चाहे व्यक्ति ने व्रत किये हों, उसने समावर्तन (वेदाध्ययन के उपरान्त कृत्मय स्नान) चाहे न किया हो, चाहे किया हो, चाहे उसकी वैदिक अग्नियाँ अभी न बुझी हों, यदि वह इस भौतिक संसार से ऊब चुका हो तो वह परिव्राजक संन्यासी हो सकता है। स्पष्ट है, इस उक्ति से ब्रह्मचारी भी संन्यासी हो सकता है, क्षत्रिय एवं वैश्य भी संन्यासी हो सकता है। याज्ञवल्क्य का कहना है कि द्विजातियों के विषय में मन:शुद्धि का एक साधन है संन्यास। कूर्मपुराण ने भी सभी द्विजों के लिए संन्यासी होना लिखा है। बहुत से लेखकों से उपर्युक्त दोनों मतों का समर्थन किया है। महान् विचारक शंकराचार्य ने बृहदारण्य उपनिषद् के भाष्य में केवल ब्राह्मणों को ही संन्यास के योग्य माना है। किन्तु शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वर ने शंकराभाष्य के वार्तिक में अपने गुरु के मत का खण्डन किया है। मेधातिथि, मिताक्षरा, मदनपारिजात, स्मृतिमुक्ताफल ने केवल ब्राह्मणों को संन्यासाश्रम के योग्य ठहराया है। किन्तु स्मृतिचन्द्रिका ने दूसरे मत का समर्थन किया है। महाभारत के अनुसार क्षत्रिय भी संन्यासी हो सकते हैं। शान्तिपर्व में राजाओं को जीवन के अन्तिम क्षणों में संन्यासी हो जाने को लिखा है। कालिदास ने रघुवंश में रघु के संन्यास का कवित्वमय वर्णन किया है और संन्यासी वृद्ध राजा तथा नये अभिषिक्त राजा की तुलना बड़े मनोरञ्जक ढंग से की है।

संन्यास एवं शूद्र-

स्मृतियों एवं मध्यकाल के ग्रन्थों के अनुसार शूद्र संन्यास नहीं धारण कर सकता। शान्तिपर्व ने स्पष्ट लिखा है कि शूद्र भिक्षु नहीं हो सकता। इसमें एक स्थान ऐसा आया है कि कुछ लोग सम्भवत: शूद्र भी बाह्य रूप से संन्यासी बनकर भिक्षा तथा दान ग्रहण करते हैं। वे सिर मुंडाकर, काषाय वस्त्र धारण कर इधर-उधर घूमा करते हैं और वञ्चता प्रदर्शित करते हैं। किन्तु प्राचीन स्मृतियों के अवलोकन से पता चलता है कि शूद्र लोग भी संन्यासी बन सकते थे। विष्णुधर्म एवं याज्ञवल्क्य में स्पष्ट लिखा है कि जो लोग शूद्र संन्यासी को देवों

एवं पितरों के पूजन-कृत्यों से समय भोजन देते हैं, उन पर 100 पण का दण्ड लगना चाहिए। आश्रमवासिकपर्व में आया है कि विदुर संन्यासी के रूप में गाड़े गये। इस पर टीकाकार नीलकण्ठ ने लिखा है कि इससे स्पष्ट होता है शूद्र भी संन्यासी बन सकते थे।

संन्यास एवं नारियाँ

प्राचीन ब्राह्मणवादी कालों में कभी-कभी नारियाँ भी संन्यास धारण कर लेती थी। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य ने बौधायन के एक सूत्र (स्त्रीणां चैके) का उद्धरण देते हुए लिखा है कि कुछ आचार्यों के मत में नारियाँ भी संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो सकती थी। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य ने शंकरा नामक परिव्राजिका का उल्लेख किया है। स्मृतिचन्द्रिका ने यम को उद्धृत किया है- नारियों के लिए न तो वेदों में और न धर्मशास्त्रों नें संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने की व्यवस्था पायी जाती है, उनका उचित धर्म है अपनी जाति के पुरुषों से सन्तानोत्पत्ति करना। अत्रि ने लिखा है कि नारियों एवं शूद्रों के लिए छः कार्य वर्जित हैं, जिनके करने से पाप लगता है- जप, तप, प्रव्रज्या, तीर्थयात्रा, मन्त्रसाधन, देवताराधन। कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्र में पण्डिता कौशिकी को संन्यासी के वेश में दर्शाया है। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि हिन्दू धर्म में सामान्यतः नारियों के लिए अगृही होकर संन्यासियों-जैसा इधर-उधर घूमना अच्छा नहीं माना जाता रहा है।

संन्यास तथा शूद्र एवं नारी की योग्यता -

शूद्रों एवं नारियों के संन्यासी बनने का प्रश्न उलझा हुआ-सा है। संन्यास शब्द से दो भावनाएँ प्रकट होती हैं, (1) किसी उद्देश्य की प्राप्ति की अभिकांक्षा से उत्पन्न सभी प्रकार के कार्यों (काम्य कर्म) का परित्याग, एवं (2) किसी विशिष्ट जीवन-ढंग (आश्रम) का अनुसरण, जिसके बाह्य लक्षण हैं दण्ड, काषाय आदि का धारण करना, और जिसमें प्रवेश करने के पूर्व पैष मन्त्र का उच्चारण करना पड़ता है। जीवन्मुक्ति विवेक के अनुसार मोक्ष (अमृतत्व) त्याग पर निर्भर रहता है, जैसा कि कैवल्योपनिषद् में आया है न तो कर्मों से सन्तानोत्पत्ति से और न धन से ही बल्कि त्याग से कुछ लोगों ने मोक्ष प्राप्त किया। ऐसे त्याग के लिए शूद्रों

एवं नारियों, दोनों को छूट है, नारियों के त्याग में सर्वोत्तम त्याग याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी का माना जाता है, जिसने ऋषि याज्ञवल्क्य से स्पष्ट शब्दों मे कहा था - जो मुझे अमर नहीं बनायेगा मैं उसे लेकर क्या करूँगी? बृहदारण्यकोपनिषद् एवं भगवद्गीता में भी आया है कि संन्यासी की माता एवं पत्नी के संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने पर वे पुन: स्त्री के रूप में जन्म नहीं लेतीं (प्रत्युत वे पुरुष रूप में उत्पन्न होती है) अत: नारियाँ एवं शूद्र भी कर्मों का त्याग कर सकते हैं, भले ही वे संन्यासियों की विलक्षण वेश-भूषाएँ एवं अन्य बाह्य उपकरण धारण न कर सकें। वेदान्तसूत्र के एक भाष्यकार श्रीकर के मत से संन्यास केवल तीन वर्णों के लिए है, किन्तु न्यास तो शूद्रों, नारियों एवं वर्णसंकरों (मिश्रित जाति वालों) द्वारा किया जा सकता है।

संन्यास तथा अन्धे, लूले-लँगड़े, नपुंसक आदि -

कुछ लोगों के मत से संन्यास केवल अन्धे, लूले-लँगड़ो नपुंसकों के लिए है, क्योंकि ये लोग वैदिक कृत्यों के सम्पादन के अनधिकारी है। वेदान्तसूत्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने तथा सुरेश्वर ने शंकराचार्य के बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में इस मत खण्डन किया है। मनु की व्याख्या में मेधातिथि ने भी उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि अन्धे, लूले-लँगड़े नपुंसक आदि संन्यास के अयोग्य हैं, क्योंकि संन्यास के नियमों का पालन उनसे नहीं हो सकता। अन्धे, लूले-लँगड़ों का एक गाँव में एक ही रात्रि तक ठहरना तथा नपुंसकों का बिना उपनयन हुए संन्यास धारण करना युक्तिसंगत नहीं जँचता। यही बात मिताक्षरा में भी पायी जाती है। क्षय रोग से दुर्बल, अपराधी, पापी, आदि को भी संन्यास ग्रहण करने की आज्ञा नहीं हैं।

संन्यास एवं नियमभ्रष्टता -

यतियों के मुख्य नियमों में एक नियम था पत्नी एवं गृह का त्याग तथा मैथुन के विषय में कभी न सोचना या पुन: गृहस्थ बन जाने की इच्छा पर नियन्त्रण रखना। अत्रि ने घोषित किया है- मैं उस व्यक्ति के लिए किसी प्रायश्चित्त की कल्पना तक नहीं कर सकता जो संन्यासी हो जाने के उपरान्त भ्रष्ट या च्युत हो जाता है, वह न तो द्विज है और शूद्र है, उसकी सन्तति चाण्डाल हो जाती है और विदुर कहलाती है। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र के भाष्य में अत्रि के उपर्युक्त वचन को उद्धृत करके कहा कि प्रायश्चित्त न होने की बात केवल

कामुकता के प्रलोभन से बचने पर बल देने के लिए कही गयी है, वास्तव में प्रायश्चित की व्यवस्था की गयी है। यदि कोई भिक्षु मैथुन कर बैठता है तो उसका प्रायश्चित है। दक्ष ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह उस व्यक्ति के मस्तक पर कुत्ते के पैर की मुहर लगाकर देश-निकाला कर दे, जो संन्यासी के धर्म से च्युत हो जाता है, वह जीवन भर राजा का दास रहता है। अत्रि के मत से संन्यासी को उस स्थान पर जहाँ माता,पिता, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्र, बधु, सम्बन्धी, सजातीय, मित्र, पुत्री, या पुत्री के पुत्र आदि रहते हैं, एक दिन भी नहीं रहना चाहिए।

संन्यास परम्परा तथा मठ -

आरम्भ में उपर्युक्त नियमों का पालन भरपूर होता था। स्वामी शंकराचार्य जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे, किन्तु उन्होंने अपने सिद्धान्तों एवं दर्शन के प्रचार के लिए चार मठ स्थापित किये (शृंगेरी, पुरी, द्वारका एवं बद्री) श्रद्धालुओं एवं भक्तों ने इन मठों को बहुत दानादि दिये। मठों की संख्या बढ़ने लगी और उनमें सम्पत्ति भी एकत्र होने लगी, जिस पर स्वामित्व प्रमुख धर्माध्यक्षों या महंन्तों का रहने लगा। केवल अद्वैती संन्यासियों में दस शाखाएँ हो गयी, यथा- तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती एवं पुरी। इन्हें स्वामी शंकराचार्य के चार शिष्यों के उत्तराधिकारी शिष्यों के नाम से पुकार जाता है, यथा- पद्मपाद के शिष्य थे तीर्थ एवं आश्रम, हस्तामलक के थे वन एवं अरण्य, त्रोटक के थे गिरि, पर्वत, सागर तथा सुरेश्वर के थे सरस्वती, भारती एवं पुरी। स्वामी शंकराचार्य के समान रामानुजाचार्य एवं माध्वाचार्य के भी बहुत से शिष्यों ने मठ स्थापित किये। वल्लभाचार्य तथा उनके शिष्यों ने संन्यास नहीं ग्रहण किया। उनके मत से संन्यास कलियुग में वर्जित है, चौथे आश्रम में केवल प्रवेश होने से संन्यास नहीं प्राप्त हो जाता, बल्कि उद्धव ऐसे भक्त के व्यवहार से परित्याग का सार सामने आता है। बहुत से मठों में अपार सम्पत्ति है जो शान-शौकत (सोने की मूर्तियाँ एवं अन्य खर्चीले कार्यों) में खर्च होती है। बहुत कम ही मठाधीश पढ़े-लिखे हैं, यहाँ तक कि बहुतों को संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं होता, बहुधा वे आधुनिक विचारों एवं आवश्यकताओं के प्रति निरपेक्ष होते हैं और सुधार-सम्बन्धी कार्यों के विरुद्ध होते हैं। केवल इने-गिने मठों में कुछ महन्त जीवन भर ब्रह्मचर्य रख सके। महन्तों के अधिकांश गृहस्थ होने के उपरान्त संन्यासी हुए थे। बहुत से मठों के महन्तों की मृत्यु

पास आ जाने पर कुछ लोग किसी इच्छुक गृहस्थ को बाबा का चेला बना देते हैं, जो बाबा की मृत्यु के उपरान्त स्वयं मठाधीश हो जाता है। जब तक उपयुक्त उत्तराधिकारी का चुनाव नहीं होता है तब तक मठों का सुधार नहीं हो सकता। वास्तव में महन्त के बहुत से शिष्य होने चाहिए। मृत्यु शय्या पर चुनाव नहीं होना चाहिए।

कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की एक प्रतिनिधि-सभा के स्वर का मान होना चाहिए। संन्यासियों के मठों के अधिपति अथवा महन्त कभी-कभी सम्पत्ति, मान-सम्मान एवं अधिकार-क्षेत्र का मामला लेकर कचहरी तक पहुँचते हैं। श्रृंगेरी मठ के शंकराचार्य महन्त ने दावा किया कि केवल उन्हें ही पालकी पर चढ़कर मार्ग पर चलने का अधिकार है, लिंगायतों के स्वामी ऐसा नहीं कर सकतें। द्वारका के शारदा मठ के शंकराचार्य ने मामला पेश किया कि प्रतिवादी को शंकराचार्य की उपाधि एवं मान-सम्मान का अधिकार नहीं मिलना चाहिए और न उसे अहमदाबाद की जनता की दान-दक्षिणा और न गुजरात के अन्य स्थानों के दानादि प्राप्त करने का अधिकार है, वह न तो शंकराचार्य है और न शारदा मठ के शंकराचार्य की पदवी का वास्तविक अधिकारी है।

उत्तरकालीन संन्यासी -

वेदान्ती संन्यासियों के विषय में डॉ. जे. एन. फर्कहुर ने एक बहुत ही विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा है। उसमें इसका वर्णन है कि किस प्रकार अस्त्रों एवं शस्त्रों से सुसज्जित मुसलमान फकीरों ने हिन्दु संन्यासियों को कष्ट दिया, किस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने सम्राट अकबर के पास जाकर उससे प्रार्थना की, किस प्रकार पूरी सहायता न पाने पर मधुसूदन सरस्वती ने दसनामियों में सात नामों के संन्यासियों के रूप में क्षत्रियों एवं वैश्यों को दीक्षित कर उन्हें अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित किया, किस प्रकार इन संन्यासियों ने मुसलमान फकीरों से तथा अपने में युद्ध किया, किस प्रकार अब्राह्मण नारियाँ गिरि एवं पूरी के रूप में दीक्षित हुई और किस प्रकार उत्तर भारत में आज केवल तीर्थ, आश्रम एवं सरस्वती नामक संन्यासी ही एकान्तिक रूप में बचें हुए हैं। उपर्युक्त नयी रीति से दीक्षित संन्यासियों की परम्परा ने आगे चलकर भयंकर परिणाम उपस्थित किये। संन्यासियों एवं फकीरों ने बंगाल प्रान्त को छुपा-सा लिया। ब्रिटिश शासन के आरम्भिक दिनों में (18वीं

शताब्दी के द्वितीय चरण में) उनके आक्रमणों एवं उपद्रवों ने परेशान कर रखा था। इससे हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार संन्यासियों का अहिंसा नामक प्रबल सूत्र कालान्तर में बदल गया।

संन्यासी एवं उनके दाय-सम्बन्धी अधिकार -

प्राचीन एवं आधुनिक हिन्दू कानूनों के अनुसार संन्यासी हो जाने पर व्यक्ति का अपने परिवार, सम्पत्ति एवं वसीयत से विच्छेद हो जाता है। किन्तु यह परिणाम केवल गेरुआ धारण मात्र से ही नहीं होता प्रत्युत् उसके लिए (संन्यास-धारण के लिए) आवश्यक कृत्य सम्पादित करने पड़ते हैं। इसी प्रकार संन्यासी की सम्पत्ति (यथा-वस्त्र, खड़ाऊ, पुस्तकें आदि) उसके घर वालों को नहीं, प्रत्युत उसके शिष्य या शिष्यों को प्राप्त होती हैं। यदि कोई शूद्र संन्यासी हो जाए तो ये नियम उस पर नहीं लागू होते थे।

आदर्श-च्युत संन्यासी एवं घरबारी गोसाई -

संन्यास के आदर्श पर भयंकर कुठाराघात पड़ा उस छूट से जिससे संन्यासी लोगों को स्त्री या रखैल रखने की आज्ञा मिल गयी। वायुपुराण के कथन से पता चलता है कि जो व्यक्ति संन्यासी होने के उपरान्त मैथुन करता है, वह 60000 वर्षों तक नाबदान का कीड़ा बना रहता है और उसके उपरान्त चूहे, गिद्ध, कुत्ते, बन्दर, सूअर, पेड़, पुष्प, फल, प्रेत की योनियों को पार करता हुआ चाण्डाल के रूप में जन्म लेता है। राजतरंगिणी का कहना है कि मेघवाहन की रानी द्वारा निर्मित मठ के एक भाग में नियमों के अनुसार चलने वाले संन्यासी रहते थे और दूसरे भाग में वैसे अनियमित संन्यासी रहते थे, जिनके साथ उनकी पत्नियाँ, धन-सम्पत्ति एवं पशु आदि थो (अर्थात् दूसरे भाग ने गृहस्थ संन्यासी रहते थे) ऐसे संन्यासियों को, जो गृहस्थ रूप मे रहते हैं, घरबारी गोसाई कहते हैं। बम्बई प्रान्त में उन्हें घरबारी गोसावी कहा जाता है।

संन्यास एवं नृपति-परिव्राजक -

कुछ गुप्त अभिलेखों से पता चलता है कि गुप्त सम्राटों के सामन्तों में कुछ ऐसे राजा थे जिनकी उपाधि थी नृपति-परिव्राजक, अर्थात् राजकीय संन्यासी। डॉ. लीट ने इस उपाधि को राजर्षि नामक उपाधि के

समकक्ष रखा है। किन्तु यह बात जँचती नहीं। नृपति-परिव्राजकों का गोत्र था भरद्वाज और उनके संस्थापक कपिल के अवतार माने जाते थे, हो सकता है कि कुल के संस्थापक महोदय राज्य करने के उपरान्त संन्यासी होते गये हों। इसी से संम्भवत: उन्हें नृपति-परिव्राजक कहा जाता था।

स्मृतिमुक्ताफल में उद्धृत व्यास एवं यतिधर्मसंग्रह के मत से कलियुग में संन्यास वर्जित है, किन्तु उनके मत से यह भी प्रकट होता है कि जब तक वर्णाश्रमधर्म की परम्परा चलती रहेगी, संन्यास की परम्परा कलियुग में भी मान्य रहेगी।

अपने व्रात्यता प्रायश्चितनिर्ण. ने नागेश ने व्यासकृत संन्यासपद्धति के अनुसार एक विलक्षण युक्ति यह दी है कि जब कलयुग के 4400 वर्ष बीत जायाँ (1229 के उपरान्त) तो समझदार ब्राह्मण को संन्यास नहीं धारण करना चाहिए। लगता है, तब तक मुसलिम आक्रामकों ने संन्यासियों पर अपने आक्रमण आरम्भ कर दिये थे, और तभी धर्मशास्त्रकारों ने संन्यासियों को नियमविरुद्ध चलते देख कर तथा उन पर कट्टर मुसमानों के आक्रमण होते देखकर उपर्युक्त उद्धरण प्रचारित किया । निर्णयसिन्धु (3, पूर्वार्ध, अन्तिम) ने भी व्यास की उपर्युक्त उक्ति दोहरायी है और कहा कि संन्यास-सम्बन्धी वर्जना केवल त्रिदण्डी संन्यासियों के लिए है।

संन्यास की विधि -

संन्यास विधि का वर्णन बौधायनधर्मसूत्र, बौधायनगृह्यशेषसूत्र, वैखानस में हुआ है। सम्भवत: बौधा. धर्म का वर्णन सबसे प्राचीन है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ विधि का विस्तार उपस्थित नहीं करेंगे। जो भी विधि की जाती है, उसका तात्पर्य है भौतिक सम्बन्धों का त्याग, सांसारिक एवं पृथिवी-सम्बन्धी धन के प्रति घृणा, अहिंसामय जीवन, ब्रह्म का चिन्तन एवं उसकी स्वानुभूति करना। सिर, दाढ़ी तथा शरीर के सभी अंगों के बाल बनवाकर, तीन दंडों को एक में जोड़कर, वस्त्र-खण्ड (जल छानने के लिए), एक कमण्डलु एवं एक भिक्षा-पात्र लेकर व्यक्ति जप-ध्यान के कृत्यों में संलग्न होता है। मध्य काल के ग्रन्थों में विशेषत: स्मृत्यर्थसार, स्मृतिमुक्ताफल यतिधर्म संग्रह, निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु ने संन्यास-विधि पर विशद रूप से प्रकाश डाला है। ऐसे कई ग्रन्थों एवं पद्धतियों ने संन्यास-सम्बन्धी ब्रह्मानन्दी नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो अभी तक अप्राप्य है।

आतुर संन्यास -

जाबालोपनिषद् ने उन लोगों के संन्यास का भी वर्णन किया है, जो रोगी हैं या मरणासन्न हैं। ऐसे लोगों के लिए विस्तृत विधि या कृत्यों की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल शब्दों द्वारा उद्घोष एवं मन:संकल्प ही पर्याप्त है। स्मृतिमुक्ताफल में उद्धृत अंगिरा एवं सुमन्तु का कहना है जब व्यक्ति बुढ़ापे से जीर्ण-शीर्ण हो गया हो, शत्रुओं से बहुत कष्ट पा रहा हो या किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो, तो वह केवल प्रैष मन्त्र का उच्चारण करके संन्यासी हो सकता है, अर्थात् उसके लिए विस्तारपूर्ण विधि की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे लोगों के लिए, जो मृत्यु के द्वार पर खड़े हैं, केवल संकल्प, प्रैष (यथा मैंने सब कुछ त्याग दिया है, जो व्याहृतियों के साथ कहा जाता है) एवं अहिंसा के लिए प्रण कर लेना ही यथेष्ट है, अन्य कृत्य परिस्थितियों के अनुसार किये या नहीं भी किये जा सकते हैं। आजकल ऐसे संन्यास (आतुर संन्यास) में धार्मिक व्यक्ति बहुधा प्रवृत्त होते हैं और संकल्प क्षौर (सिर आदि का मुण्डन) सावित्रीप्रवेश एवं प्रैषोच्चार नामक कृत्य ही पर्याप्त मान लिये जाते हैं।

संन्यास तथा शिखा एवं यज्ञोपवीत (जनेऊ) -

क्या संन्यासी को अपनी शिखा एवं जनेऊ का त्याग कर देना चाहिए, इस विषय में प्राचीन काल से ही मत-भेद रहा है। जाबालोपनिषद् के उल्लेख के अनुसार जब अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि संन्यासी हो जाने पर जब व्यक्ति अपने जनेऊ का त्याग कर देता है तो वह ब्राह्मण कैसे कहला सकता है, तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि संन्यासी की आत्मा ही उसका जनेऊ है, और आत्मा की खोज में लगा रहना चाहिए। यही बात आरुणिकोपनिषद् में भी पायी जाती है। शंकराचार्य बृहरारण्यकोपनिषद् के भाष्य में दोनों पक्षों की बाते कहते हुए अन्त में अपना मत देते हैं कि यज्ञोपवीत एवं शिखा का परित्याग ही किया जाना चाहिए। यही बात विश्वरूप ने भी कही है। किन्तु वृद्ध हारीत का कहना है- यदि संन्यासी ब्रह्मकर्म अर्थात् शिखा एवं जनेऊ का परित्याग कर देता है तो वह जीते-जी चाण्डाल हो जाता है और मृत्यु के पश्चात् कुत्ते का जन्म पाता है। इस उक्ति का विवेचन उपस्थित कर अन्त में शंकराचार्य की बात दोहरायी है। आजकल के संन्यासी शिखा एवं जनेऊ नहीं धारण करते।

संन्यास एवं कुछ विशिष्ट नियम –

संन्यासियों के आह्निक कृत्यों के विषय में कुछ विशिष्ट नियम निर्मित हैं। उनको शौच, दन्तधावन, स्नान आदि गृहस्थों की भाँति ही करना चाहिए। मनु, विष्णु-धर्मसूत्र का कहना है कि वानप्रस्थों एवं संन्यासियों को गृहस्थों के समान ही क्रम से तीन एवं चार बार शौच-कर्म (शरीर शुद्धि) करना चाहिए। भोजन केवल एक बार और वह भी केवल 8 ग्रास खाना चाहिए। संन्यासियों को पुरुषोत्तम (चार स्वरूपों के साथ वासुदेव), व्यास (सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन एवं पैल नामक चार शिष्यों के साथ), भाष्यकार शंकर (चारों शिष्यों अर्थात् पद्मपाद, हस्तामलक, त्रटिक एवं सुरेश्वर के साथ) आदि की पूजा करनी चाहिए। आदर-सम्मान के आदान-प्रदान के विषय में भी कुछ नियम बने हैं। संन्यासी को चाहिए कि वह देवों एवं अपने बड़े संन्यासियों को, जो नियमानुकुल अपने मार्ग पर चलते हों, नमस्कार करें, किन्तु किसी गृहस्थ को चाहे वह आचारवान् एवं विचारवान् ही क्यों न हो नमस्कार नहीं करना चाहिए। यदि उसे कोई नमस्कार करे, किन्तु उसे कोई नमस्कार करे तो नारायण कहना चाहिए, न कि आशीर्वाद देना चाहिए। जब संन्यासी मर जाय (यहाँ तक कि वह भी जिसने मृत्यु शय्या पर ही संन्यास ग्रहण किया हो) तो उसे जलाना नहीं चाहिए, पृथिवी में गाड़ देना चाहिए। यति की मृत्यु पर रोदन आदि नहीं करना चाहिए और न श्राद्ध ही करना चाहिए, केवल 11 वें दिन पार्वण कर देना चाहिए। यदि संन्यासी अपने पुत्र की मृत्यु या किसी सम्बन्धी की मृत्यु का समाचार सुने तो वह अपवित्र नहीं होता, और न उसे स्नान ही करना चाहिए, किन्तु माता या पिता की मृत्यु सुनकर वह स्नान अवश्य करता है, किन्तु विलाप नहीं करता।

संन्यासी एवं परिषद् –

मध्यकाल में स्मृतियों द्वारा निर्धारित परिषद-सम्बन्धी नियमों का पालन राजाओं एवं विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा अक्षरशः किया जाता था। कुछ वर्षों उपरान्त विशषतः दक्षिण में शंकराचार्य के उत्तराधिकारियों ने परिषद् के गुरुतर भार को अपने दुर्बल कंधो पर ले लिया। यह विचित्र परम्परा कब चल उठी, इसका निर्णय करना कठिन है। सन् 1200 ई. के उपरान्त उत्तर भारत का अधिकांश लगभग 500 वर्षों तक तथा दक्षिण भारत का

अल्पांश लगभग 300 वर्षों तक मुसलमानों के अधिकार में रहा। स्वार्गीय श्री विश्वनाथ के. राजवाड़े (जिन्होंने मराठा इतिहास, मराठी भाषा एवं मराठी साहित्य पर अपने अनुसंधानों से अभूतपूर्व प्रकाश डाला है)एवं उनके मित्रों ने बहुत से ले ये प्रमाण प्रकाशित किये हैं, जिनसे पता चलता है कि मराठा-आधिपत्य के समय राजा या राज्यमन्त्री द्वारा धार्मिक मामलों में पैठन, नासिक एवं कराड़ के विद्वान ब्राह्मणों की सम्पति ली जाती थी, कभी-कभी संकेश्वर एवं करवीर की गद्दियों के शंकराचार्य से भी राय ली जाती थी। किन्तु अंग्रेजी शासन काल में शंकराचार्य ने धार्मिक मामलों में सम्मति देने, जातिच्युत करने या जाति में सम्मिलित कर लेने का पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। शिवाजी की मन्त्रि-परिषद् में एक मन्त्रि (पंडितराव) भी था, जो धार्मिक मामलों तथा अन्य बातों में शिष्ट लोगों की सम्मतियों का आदर करता था। पंडितराव धर्म या प्रायश्चित्त-सम्बन्धी संशयपूर्ण मामलों में वाई, नासिक, कराड आदि स्थानों के ब्राह्मणों की सम्मति लिया करते थे। पंडितराव इस प्रकार बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये ब्राह्मणों को जाति में सम्मिलित कराते थे।

कभी-कभी संकेश्वर मठ के महन्त भूमि एवं ग्रामों से सम्बन्धित मामलों में भी फैसला देते थे। राजाराम नामक राजा ने श्रीकराचार्य नामक व्यक्ति को एक ग्राम का दान दिया था, जिसको लेकर एक विवाद खड़ा हुआ और उसके पाँच स बन्धियों ने उस ग्राम पर अपने अधिकार भी जताने आरम्भ कर दिये। यह मामला करवीर के शंकराचार्य के समक्ष उपस्थित किया गया, जिन्होंने विज्ञानेश्वर, व्यवहारमयूख एवं दानकमलाकर के प्रमाणों के आधार पर यह तय किया कि यद्यपि ग्राम के दान का ले य-प्रमाण पाँच व्यक्ति यों के नाम से हुआ है किन्तु वास्तविक अधिकारी श्रीकराचार्य ही है। इसी प्रकार करवीर मठ के महन्त की एक आज्ञा का पता चला है, जिससे यह व्यक्त होता है कि उन्होंने एक ब्राह्मण के यहाँ अन्य ब्राह्मणों को भोजन कर लेने को कहा है। बात यह थी कि उस ब्राह्मण की स्त्री का एक गोसावी से अनुचित सम्बन्ध था। जब ब्राह्मण ने उचित प्रायश्चिच कर लिया तो महन्त ने उस प्रकार की आज्ञा निकाली। इससे सिद्ध होता है मध्यकाल में शिष्टों, विद्वान्, ब्राह्मणों एवं महन्तों को बहुत-से अधिकार प्राप्त थे, जिनके द्वारा वे धार्मिक आदि मामलों में निर्णय दे सकते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सैंकड़ों वर्षों तक विद्वान्, ब्राह्मण लोग धार्मिक मामलों एवं आचार-सम्बन्धी पापों एवं उनके प्रायश्चितों के विषय में निर्णय दिया करते थे। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पूर्व तक

यही दशा थी और विद्वान्, ब्राह्मणों, शिष्टों एवं आचारवान् धर्मशास्त्रियों से समन्वित परिषदें कठिन एवं संशयात्मक मामलों में निर्णय देती थीं। कुछ दिनों से और वह भी कभी-कभी मठों के महन्तों लोग संन्यासी होने के नाते निर्णय देने लग गये। बहुधा शंकराचार्य पदधारी व्यक्ति जो धर्मशास्त्र का क अक्षर भी नहीं जानते थे, कुछ स्वार्थी जनों के फेर में पड़कर अपनी मुहर लगा दिया करते थे। वास्तव में धार्मिक तथा संशयात्मक विषयों का निर्णय विद्वान् लोगों के हाथ में ही रहना चाहिए।

सन्दर्भ -

1. यतिधर्मपरिचय पृ. 45
2. अन्त्य कर्म दीपक पृ. 102
3. गरूड पुराण पृ. 10/102
4. छान्दोग्योपनिषद् (2-23-1)
5. जाबालोपनिषद् (4)
6. बृहदारण्यकोपनिषद् (2-4-1)
7. उपनिषद् (3-5-1)
8. यथा गौतम (3-10-24)
9. आपस्तम्बधर्मसूत्र (2-9-21-7-20)
10. बौधायनधर्मसूत्र (2-6-21-27 एंव 2-10)
11. धर्मसूत्र (10)
12. मनु (6-33-86)
13. याज्ञवल्क्य (3-56-66)
14. वैखानस (9-9)
15. विष्णुधर्मसूत्र (96)
16. शान्तिपर्व अध्याय (246 एंव 279)

17. आदिपर्व (119-7-21)

18. आश्वमेधिकपर्व (46-17-46)

19. दक्ष (7-28-38)

20. कूर्मपुराण (उतरार्ध, अध्याय 28)

21. अग्निपुराण (161)

22. नृसिंहपुराण (60-2-4)

23. बौधायनधर्म (2-10-3-6)

24. वायुपुराण (1-18-17)

25. स्मृतिमुक्ताफल (200)

26. पराशर (1-51)

27. सूतसंहिता (4-15-16)

28. उद्धृत पराशर (1-53)

29. आपस्तम्बधर्म-सूत्र (2-2-3-10)

30. याज्ञवल्क्य (1-107)

31. मनु (6-56)

32. याज्ञ. (3-59)

33. वसिष्ठ (10-7)

34. शंख (7-2)

35. आपस्तम्बधर्म-सूत्र (2-4-9-13)

36. बौधायनधर्मसूत्र (2-10-67)

37. वेदान्तसूत्र (3-4-17)

38. वेदान्तकल्पतरूपरिमल (639)

39. महाभाष्य (1)

40. जिल्द (365)

41. पाणिनि (2-1-1)

42. गौतम (3-27-28)

43. आपस्तम्बधर्म-सूत्र (2-9-21-11-12)

44. अपरार्क (962 में उद्धृत)

45. मनु (6-53-54)

46. याज्ञवल्क्य (3-60)

47. लघु-विष्णु (4-29-30)

48. गौतम (3-16)

49. बौधायनधर्म (2-10-79)

50. आपस्तम्बधर्मसूत्र (2-9-21-10)

51. मनु (6-46)

52. शंख (7-7)

53. विष्णुधर्मसूत्र (96-14-17)

54. शान्तिपर्व (1-1-13-14)

55. वैखानस (7-9)

56. लघु-विष्णु (4-14-23)

57. सूतसंहिता (2-6-3-10)

58. भिक्षुकोपनिषद् प्रजापति (अपरार्क,952)

59. जीवन्मुक्तिविवेक (4)

60. जाबालोपनिषद् (6)

61. बृहदारण्यक-उपनिषद् (3-5-1 एंव 4-5-15)

62. अत्रि (136-137)

63. वेदान्तसूत्र (2-3-34)

64. स्मृतिमुक्ताफल (173)

65. यतिधर्मसंग्रह (5-6)

66. दक्ष (7-33)

67. स्मृतिमुक्ताफल (106)

68. वसिष्ठधर्मसूत्र (17-42)

69. गुप्ताभिलेख (95)

70. बौधायनधर्मसूत्र (2-10-11-30)

71. बौधायनगृह्यशेषसूत्र (4-16)

72. वैखानस (9-6-80)

73. स्मृत्यर्थसार (96-97)

74. यतिधर्मसंग्रह (10-22)

75. निर्णयसिन्धु (3)

76. उत्तरार्ध (628-632)

77. स्मृतिमुक्ताफल (174 एंव 182)

78. जीवन्मुक्तिविवेक (6)

79. पराशरमाधवीय (1-2-164)

80. यतिधर्मसंग्रह (95)

81. अपरार्क (538)

82. मनु (5-137)

83. विष्णुधर्मसूत्र (60-26)

84. बृहदारण्यकोपनिषद् (4-3-2)

85. पराशर (8-13)

86. मत्स्यपुराण (143-27)

87. वायुपुराण (57-112)

88. याज्ञवल्क्य (3-300)

89. बौधायनधर्मसूत्र (1-1-5-6)

90. वायुपुराण (जिल्द 1-59-33-35)

91. वसिष्ठ (6-43)

92. मनु (12-109)

93. मिताक्षरा (याज्ञ. 3-300)

94. पराशर (8-28-29)

95. गौतम (28-46)

96. ऋग्वेद (10-34-6)

97. छान्दोग्योपनिषद् (5-3-1)

98. बृहदारण्यकोपनिषद् (6-2-1)

99. तैत्तिरीयोपनिषद् (1-11)

100. आपस्तम्बधर्मसूत्र (1-3-11-34)

****

अध्याय- 3

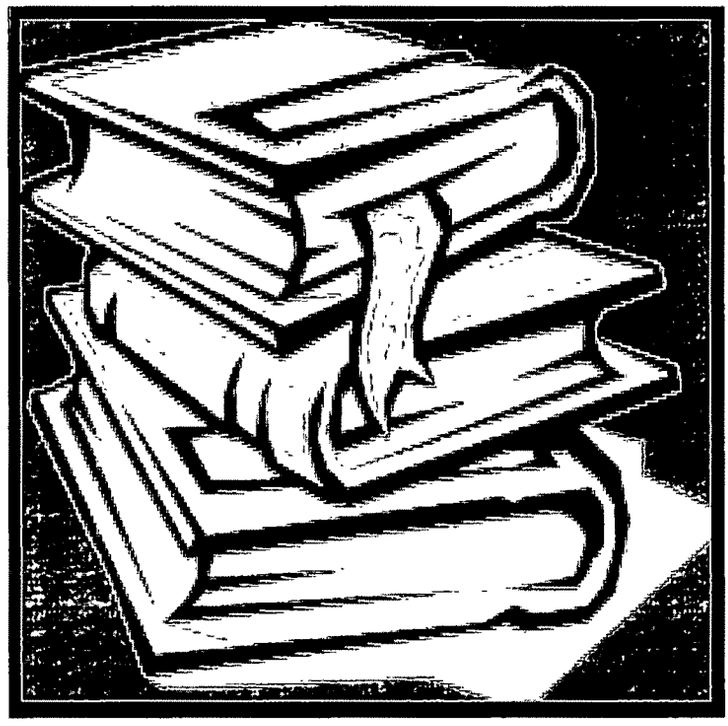

संन्यास परज़्परा में स्त्रियों की स्थिति-

(क) वैदिक युग

(ख) स्मृति युग

(ग) आधुनिक युग

(घ) उत्तर आधुनिक युग

(क) वैदिक युग

नारी - **माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियावादिनी।**

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥

आज कुछ वर्षों से लगातार हम यह सुन रहे हैं कि नारी-समाज रसातल की ओर जा रहा है, नारी-आन्दोलन नितान्त आवश्यक है, नारी को चाहिए कि वह अपनी पराधीनता की जंजीर को तोड़ दे। नारी किसी बात में पुरुषों से कम नहीं, नारी को अपनी स्वतन्त्र आजीविका उपार्जन करनी चाहिए, घर की चार दीवारी नारी के लिए जेल से बढ़कर है, बच्चे पैदा करना और पुरुष का दासत्व अङ्गीकार करना ही नारी-जीवन का एकमात्र कर्तव्य कदापि नहीं हो सकता।

माता सीता और सती सावित्री की कुलोत्पन्ना, विदुषी गार्गी और महाभागा मैत्रेयी की चरण-धूलि को पुनीत मानने वाली, अरुन्धती और अनसूया की कल्पना में मस्त रहने वाली एवं रानी लक्ष्मीबाई और ताराबाई के शौर्य को सराहने वाली भारत की आर्य-नारियों के भव्य मस्तक पर क्यों यह अधोगति का टीका लगाया जा रहा है। अधोगति हुई है पराधीन भारत की। परतन्त्र बनकर देश ने संस्कार, धर्म, नीति, विद्या, प्रेम और शौर्य - सभी कुछ खो दिया! उपनिषद् और वेद नामशेष रह गये। धर्मशास्त्र कथाओं का विषय बन गया। श्रुति-स्मृति और सदाचार स्वप्नवत् हो गये। तक्षशिला और नालन्दा के विद्याभण्डार भस्मसात हो गये। जिस देश ने अखिल जगत् को शिक्षा दी - **एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ *(मनुस्मृति 2/20)*

जन्म से ही जिसमें मातृत्व की मधुर गन्ध महक रही है। अति बाल्यकाल में वह पिता से लाड प्राप्त करती है। कुछ सँभलने पर उसका सहारा बन जाती है। बहिन बन कर भाई की रक्षिका होती है। युवावस्था में जन्म से परिचित माता-पिता, भाई-बन्धु, बाल्यकालीन घर-बार , चिरसंचित संस्कार और कुटुम्ब-प्रणाली- अधिक क्या, अपने-आपको भी खोकर नारी क्षणार्द्धमात्र में ब्राह्मण, अग्नि और गुरुजनों की साक्षी में तव हृदये मे हृदयं दधामि और **"तव भुक्तेऽनु भोक्ष्यामि, तव सुप्ते शयिष्यते"** कहती हुई अविभक्त भाव से स्वामी में लीन हो जाती है। नारी समाज की अधोगति भारत की अधोगति का कारण नहीं, अपितु पराधीनता की बहती

हुई स्रोतस्विनी में डूबकर देश ने अपने साथ नारी को भी डुबोया है। अबला नारी अपने पथ पर दृढ़ रहने का भरसक प्रयत्न करती रही, परंतु चारों ओर से संयोगों ने उसके ऊपर अपनी छाया डाल ही दी।

हमारे जीवन में शिक्षा का प्रश्न भी गौण नहीं है। जहाँ तक मेरा ख्याल है, हमारे नारी-समाज के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक दल है अशिक्षिताओं का और दूसरा वह है जो स्कूल-कालेजों में शिक्षा प्राप्त कर रहा है। शिक्षा के विषय में विशेष लिखना यहाँ विषयान्तर ही गिना जाएगा। नारी यदि नारी का सत्य कर्तव्य जान ले, सुन्दर शिक्षा-दीक्षा से दीप्त आदर्श गृहिणी बन जाए, तो उस असङ्गत सुनहरे भूतकाल के पुनरुदय की उषा शीघ्र ही दृष्टिगोचर होने लगे। नारी प्रेमपात्र-पुत्री है, स्नेहमयी भगिनी है, कर्तव्यशीला पत्नी है और भविष्य के नागरिकों की माता है।

नारी की समस्याएँ -

आज का युग भारत वर्ष के लिए एक क्रान्ति-युग तो है, किन्तु एक समस्या युग भी है। नवीन जागृति के साथ-साथ समस्याओं की उलझन और भी जटिल हो गयी है। भारत वर्ष की यही विशेषता है कि उसकी समस्याएँ पूर्णरूप से कभी सुलझ ही नहीं पायीं। नारी की समस्याएँ तो आजकलतक गुत्थियाँ बनी सुषुप्ति के गर्त में पड़ी हुई हैं। पुरुष की समस्याएँ मावन-जीवन के बाह्य से जगत् से सम्बन्धित हैं, किन्तु नारी जीवन के आन्तरिक पक्ष की एक झाँकी है। पुरुष कठोरता का प्रतीक है, नारी कोमलता की प्रतिमा है। पुरुष का जगत् संघर्षमय है, नारी का जगत् वेदनामय है। प्राचीन काल से नारी ने हिन्दू-समाज में कितने रूप ग्रहण किये, यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। युग के परिवर्तन के साथ नारी को भी परिवर्तित रूप धारण करना पड़ा। परंतु आज के संक्रान्ति युग में जो एक सन्धि-काल है - अनेक प्रकार की वीभत्सताओं को स्थान मिल सकता है। *एकइ धर्म एक ब्रत नेमा।*

काय बचन मन पति पद प्रेमा॥

नारी पूजनीया है, महाभागा है। मेरे विचार से वे कुल-लक्ष्मी है, अमृत-निधि है और पुरुष की सच्ची सहचरी है। नारी की समस्त समस्याएँ उक्त चौपाई के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करने से सुलझायी जा सकती हैं। गोस्वामी जी समस्त नारी-जाति के हितैषी थे, उनके मुख से नारी के प्रति कुविचार प्रसारित ही नहीं हो

सकते थे। अत: नारी का कर्तव्य है कि वह शान्त मस्तिष्क से स्वयं अपनी समस्याओं पर निष्पक्ष दृष्टि कोण से विचार करके उन्हें सुलझाने की चेष्टा करे।

मानव-जीवन एक सामूहिक संस्था है। एक मनुष्य समाज के अन्य मनुष्यों से किसी-न-किसी प्रकार अवश्य सम्बन्धित है। कार्य का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाने के कारण मानव को इस सम्बन्ध को संकुचित क्षेत्र में अधिक व्यापक और सुगठित बनाना पड़ा। यही भावना विवाह संस्कार के रूप में समाज में आयी। विवाह स्त्री और पुरुष दो भिन्न लिङ्गों के प्राणियों के सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट, व्यवस्थित और सुसंयमित बनाने का एक माध्यम है। यही माध्यम व्यापकता के सिद्धान्त का अवलम्बन कर समाज का हितैषी बना। विवाह वासनातृप्ति का साधन नहीं है, जीवन की जटिल गम्भीरता की एक देन है। यदि जीवन खिलवाड़ होता तो कदाचित् विवाह की आवश्यकता नहीं रह जाती। सृष्टि की वृद्धि करना मानव के कर्तव्यों में से एक अवश्य है, परंतु कोई भी मानव इस भावना से विवाह नहीं करता। विवाह जीवन के सरल और सुगम सञ्चालन का पथ-प्रदर्शक है।

धर्म का अर्थ धारण करना है। नारी का वही धर्म होगा, जिसके साहाय्य से वह अपने जीवन को सुदृढ़ और व्यवस्थित रूप से धारण कर सके। नारी का धर्म है कि वह पूर्णरूप से सुशिक्षिता होकर अपने पति की सहधर्मिणी बने। स्त्री- शिक्षा आवश्यक है, इस सब शिक्षा का ध्येय पति के जीवन से सामञ्जस्य स्थापित करना ही होना चाहिए। स्वयं पुरुष अपनी स्त्री इत्यादि के भरण-पोषण के लिए ही इतना परिश्रम करता है, यौवन काल के आदि से ही उसके मस्तिष्क और हृदय में भावी पत्नी के लिए अवश्य स्थान हो जाता है। यह पुरुष-जाति का आदर्श है, तो फिर क्या स्त्री अपने को इस आदर्श से विरक्त कर सकती है?

महान् बनने की कामना स्त्री और पुरुष दोनों में समान होती है, पर क्या नारी पुरुष की सहधर्मिणी बनकर महान् नहीं बन सकती? पुरुष उसके कार्यक्षेत्र में किस प्रकार बाधक बनकर बैठ जाएगा,यह समझ में नहीं आता। स्त्री पुरुष से बहुत कुछ ग्रहण कर सकती है और पुरुष स्त्री से । यही पारस्परिक साहाय्य की भावना जीवन का मूल मन्त्र है। विश्व की शान्तिमय उपासना का प्रचारक है। भारतीय नारी का आदर्श पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण नहीं होना चाहिए। अपितु सती-साध्वी अनसूया, सीता, सावित्री, द्रौपदी इत्यादि होनी चाहिए। वास्तव में स्त्री और पुरुष दोनों के क्षेत्र स्पष्ट हैं, फिर संघर्ष का प्रश्न कैसा! स्त्री घर

की रानी है, पुरुष घर-बाहर का राजा। घर के अंदर आकर राजा और रानी दोनों के हृदयों का मिलन अभूतपूर्व आनन्द का सृजन करता है।

एक व्रत नेमा- एक ही व्रत और नियम है- यह वाक्य भी व्यापकता से शून्य नहीं है। संकुचित अर्थ में ही यह नारी की समस्याओं की झाँकी देखने लगती है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। जीवन के व्यवस्थित सञ्चालन के लिए व्रत और नियमों की आवश्यकता की कोई अवहेलना नहीं कर सकता। धर्म भी व्रत और नियमों का ही सामूहिक नाम है। ये व्रत और नियम चाहे किसी प्रकार के हो, उनका उद्देश्य मानव के हित का सम्पादन ही होना चाहिए।

आज की नारी भी कुछ-कुछ यही सोचती और करना चाहती है। वह अपने क्षेत्र को व्यापक और विस्तृत बनाने की धुन में अपने व्रत और नियमों को भी अधिक प्रसारित करना चाहती है।

नारी- जगत् का सर्वोत्तम आदर्श-

पुरुष की अपेक्षा नारी का विशेष महत्त्व है। नारियाँ पुरुषों की ही नहीं, अपितु देवताओं की भी जननी हैं। भगवान् की सृष्टि में वे आदरणीय हैं। उनका स्थान सबसे ऊँचा है। अत: उनके धर्म तथा आदर्श की रक्षा अत्यावश्यक है। हमारे प्रचीन इतिहास साक्षी हैं कि जननी जानकी का लङ्काधिपति रावण द्वारा अपहरण नहीं होता और पाञ्चाली कौरवराज दुर्योधन तथा दु:शासन से अपमानित नहीं होती तो रामायण ओर महाभारत जैसे परम आदर्श ग्रन्थों का निर्माण नहीं होता। परम आदर्श संयम- नियम, वत- उपवास तथा समस्त पुण्य धर्म में हमारी तपोमयी देवियाँ प्राचीन काल से लेकर आजतक हमसे आगे ही रही हैं, किन्तु खेद है कि आधुनिक सुधारवाद के प्रबल झंझावात से वे अपनी रक्षा नहीं कर पा रही हैं। नर-नारी में भगवान् ने कुछ भेद रखा है। इसलिये दोनों कार्यों में समानता नहीं हो सकती। कोई कार्य पुरुष अच्छी तरह कर सकते हैं तो कोई स्त्री। एक- दूसरे के स्वभाव के प्रतिकूल कार्य करने और कराने में व्यक्ति, समाज तथा देश की शक्ति का अपव्यय होगा। अत: हितकर सुधार में इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि हमारे प्रिय भारत की प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और आदर्श अक्षुण्ण बने रहें।

हमें अपनी नारी- जाति का उत्कर्ष, अभ्युदय और कल्याण चाहना है, तो सबसे प्रथम हमारा यह कर्तव्य है कि हम संसार का इतिहास देखकर, उस पर भलीभाँति विचार कर निर्णय करें कि हमारे नारी-समाज के लिये ऐसा कौन आदर्श सर्वोत्तम होगा, जिसको नारी समाज अपना लक्ष्य बनाकर संसार में अपना गौरव, अपना धर्म तथा अपना अस्तित्व कायम रख सकता है। इसके लिये परम अनुभवी जगविख्यात स्वामी श्री विवेकानन्द जी के जगजननी जानकी के प्रति अत्यन्त सुन्दर एवं भावपूर्ण विचार उद्धृत किये जाते हैं।

वैदिक काल के पश्चात् जगत् को प्रभावित करने वाले श्रेष्ठ ऋषि, श्रेष्ठ अवतार हुए हैं, जिनकी संख्या श्रीभागवत् में तो अगणित बतलायी गयी है, वे हैं भगवान् श्री राम और कृष्ण। वीर- युग की प्राचीन प्रतिभा भगवान् राम को हमारे सबसे श्रेष्ठ ऋषि श्रीवाल्मीकि जी ने सत्य और धर्माचरण की एक मूर्ति, एक आदर्श पुत्र, एक आदर्श पति, एक आदर्श पिता और इन सबसे भी परे एक आदर्श राजा के रूप में उपस्थित किया है। कोई दूसरी भाषा इतनी शुद्ध पवित्र, सुन्दर और सरल नहीं हो सकती जितनी वह भाषा, जिसमें कि श्रेष्ठ कवि ने भगवान् श्री राम का जीवन चित्रित किया है। श्री सीता जी की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है। पूर्वकाल को संसार का सम्पूर्ण साहित्य देख लीजिए और मैं विश्वास दिलाता हूँ कि भविष्य में भी जो साहित्य निर्माण होगा, उसमें भी दूसरी सीता न मिलेगी। मनुष्य मात्र की एक आदर्श, देवताओं की भी आदर्श, ऐसी महान् श्री सीता ही हमारे राष्ट्र की केवल एक देवी हो सकती हैं। हमारी सभी पौराणिक गाथाएँ, चाहे लोप हो जायँ, वेद चाहे छिप जायँ और हमारी संस्कृत भाषा भी चाहे सदा के लिए लोप हो जाए, परंतु जब तक इस देश में पाँच भी हिंदू जीवित रहेंगे, चाहे वे कैसी भी ग्रामीण भाषा बोलते हों, हमारी माता सीता जी की कथा सदैव अमर रहेगी। सीता जी हमारी जाति के मर्मस्थान तक पहुँच चुकी हैं। वे प्रत्येक हिंदू पुरुष और स्त्री के रक्त-बिन्दु में विद्यमान हैं, हम सब उनके बालक हैं। हमारे नारी-समाज को नवयुग के अनुरूप बनाने का कोई भी प्रयास यदि वह माता सीता जी के आदर्श से नारी समाज को पृथक् ले जाता है तो वह एकदम असफल होगा, जैसा कि हम प्रतिदिन देख रहे हैं। भारत के नारी-समाज को माता सीता जी के पद-चिह्नों का अनुसरण कर आगे बढ़ना और अपनी उन्नति करनी चाहिए। समाजोन्नति का केवल यही एक मार्ग है। इंग्लैंड, अमेरिका और जापान प्रभृति देशों में भ्रमण कर और रामायण तथा महाभारत के गम्भीर अध्ययन के अनन्तर श्री स्वामी जी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि हमारी नारी का शुभ पथ एकमात्र माता जानकी का पथ है। उस आदर्श से थोड़ा

भी विचलित होना नारी-समाज का पतन की ओर अग्रसर होना है और नारी का पतन आरम्भ हुआ कि देश, धर्म, राष्ट्र और समाज पतन की ओर अभिमुख हो जाएँगे। इस कुपरिणाम का अनुभव वर्तमान समय में देश कर भी रहा है।

व्यक्ति, समाज, देश और धर्म के हित की दृष्टि से सुधार का दायित्व है कि वे पुरुष और स्त्री के कार्यों को मिश्रित न करें। पुरुषों को उनके स्वभाव और योग्यता के अनुकूल बाहरी कार्य सौंपे जाएँ और स्त्रियों को उनके स्वभाव और योग्यता के अनुसार भीतरी कार्य दिये जाएँ। बालकों को प्राथमिक शिक्षा देना, उनके मन में देश और धर्म के प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न करना, उनका ठीक रीति से लालन-पालन करना, उन्हें स्वस्थ रखकर बलवान् बनाना, घर की ठीक रीति से व्यवस्था चलाना, सुन्दर भोजन बनाना, अतिथि-सत्कार, गो-सेवा, आयुर्वेदिक औषधियों द्वारा अपने परिवार, पड़ोस तथा समाज की सेवा, सीना-पिरोना आदि महत्त्वपूर्ण कार्य देवियाँ बड़ी सुन्दरता से कर सकती हैं। एक पाश्चात्य पुरुष अपनी पत्नी को प्रेयसी कहकर सम्बोधित करेगा। परंतु एक भारतीय अपनी स्त्री को प्रेयसी न कहकर पुत्र या पुत्री की माँ कहकर सम्बोधित करेगा।

आज हमने अपने देश से अंग्रेजों को निकालकर स्वतन्त्रता प्राप्त की है, किंतु यदि हम उनकी भाषा. उनकी शिक्षा और उनकी सभ्यता को नहीं निकाल सके तो यह उसी प्रकार एक आश्चर्य की बात होगी जैसे सिरदर्द की दवा कर क्षणिक आराम पा लिया, पर सिर- रोग के मूल कारण कब्ज का उपचार नहीं किया। हमारे देश और समाज की कल्याण नारियों को जगजननी माता जानकी के आदर्श को पूर्णतया पालन करने में है और वे ही हमारे स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में राष्ट्र की देवी हैं।

रामराज्य में नारी-

राम राज्य के समय की संस्कृति का चित्रण करने वाला ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण है। वाल्मीकि के कथनानुसार रामायण महाकाव्य एक नारी का- उस युग की आदर्श भूत महानारी सीता का ही चरित्र-चित्रण है। नारियों के चरित्र पर आनुपङ्गिक रूप से प्रकाश डाला गया। रामराज्य की नारी-संस्कृति का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए रामायण प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करती है। किसी भी संस्कृति की उच्चता की कसौटी नारी के प्रति

तत्कालीन समाज का व्यवहार है। रामायण कालीन संस्कृति आर्य संस्कृति का आदर्श मानी जाती है। अतएव इस तथ्य के मूल्याङ्कन के लिए हमें रामराज्य में नारी की स्थिति का परीक्षण करना चाहिए।

कन्या की स्थिति-

वैदिक काल में कन्या आजन्म ब्रह्मचारिणी रह सकती थी। पर रामायण-काल में कन्या का विवाह अनिवार्य हो गया था। अत: कन्यापितृत्व सभी मानकांक्षी लोगों के लिए दु:खदायक था; क्योंकि कन्या का वरण कौन करेगा, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। माता-पिता अपनी कन्या की बढ़ती हुई आयु देखकर चिन्तित हो जाते थे; क्योंकि उन्हें यह आशङ्का थी कि वर गण उसे कहीं अस्वीकार न कर दें। कन्या अपने चरित्र के विषय में तीन-परिवारों को संशय ग्रस्त रखती हैं। कन्या का विवाह परिवार में उपेक्षा का विषय नहीं था तथा उसके विवाहित जीवन को सुखमय बनाने के लिए उसके अभिभावक पूरा प्रयत्न करते थे।

शिक्षा-दीक्षा-

रामायण के प्रमुख स्त्री-पात्रों की समीक्षा से यह स्पष्ट है कि विवाह के पूर्व उन्हें अपने घरों में समुचित शिक्षा मिल चुकी होगी। चूँकि उन्हें सभी धार्मिक कृत्यों में अकेले या पति के साथ पूर्ण योग देना अनिवार्य था, अत: उन्हें विवाह के पहले ही वैदिक और स्मार्त क्रिया-कलापों की तथा उनमें प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों की शिक्षा पहले ही दे दी जाती थी। राम के वन जाने के समय कौसल्या अग्नि में मन्त्रों सहित आहुति दे रही थीं। लङ्का में हनुमान् ने एक स्वच्छ जल वाली नदी देखकर सोचा कि सीता अपना सायंकालिक कृत्य करने के लिए यहाँ अवश्य आयेंगी। वारन स्त्रियों में भी वैदिक क्रियाकलापों का ज्ञान परिलक्षित होता है। बाली की पत्नी तारा तो मन्त्रवित् कहा गया है; जब वाली सुग्रीव से लड़ने गया तो तारा ने पति की विजय कामना से स्वस्त्यन किया था। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि स्त्रियों को वैदिक कर्मकाण्ड की शिक्षा दी जाती थी। कन्याओं को व्यावहारिक और नैतिक शिक्षा भी दी जाती थी। राजा कुशनाभ अपनी पुत्रियों को क्षमा का उपदेश देते हैं। राजकुमारियों को राजधर्म की शिक्षा दी जाती थी। युवराज- पत्नी होने के नाते सीता राजधर्म में परिनिष्ठित थी। क्षात्रधर्म का उन्हें पूर्णतया बोध था। उनका पौराणिक ज्ञान पर्याप्त था। संस्कृत प्राकृत

भाषाओं से वह सुपरिचित थीं। तारा को रावण के बलाबल का पता था। सीता को अपने पीहर में पत्नी के कर्तव्यों के विषय में शिक्षा प्राप्त हो चुकी थी। कुशनाभ की कन्याएँ नृत्य-गान में कुशल थीं। स्त्री-तपस्विनी हेमप्रभा की सखी हेमा नृत्यगीत विशारदा थी। रावण के अन्त:पुर की रमणियाँ वाद्ययन्त्रों के प्रयोग में प्रवीण थी। पूज्यपाद श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमदादिशङ्कर- भगवत्पाद की इस सूक्ति में आर्यधर्म के आदिप्रवर्तक आर्य- भाषा के परमाचार्य महेश्वर शिव जिस रूप में चित्रित है,उसी से हमें स्पष्ट समझ में आ सकता है कि हमारे इस सनातन राष्ट्र में नारियों का क्या स्थान है? प्रेम, करुणा, दया, स्नेह, सौहार्द्र, उपकार, कृतज्ञता, साहस, त्याग, सेवा, श्रद्धा , भक्ति आदि मानव - हृदय के सौन्दर्य जिस मात्रा में स्त्री-जाति में पाये जाते हैं, उस मात्रा में और किसी में भी शायद ही पाये जाएँ। साहित्य, संगीत आदि ललित कलाओं की जननी भी स्त्री को ही माना गया है।

महाभारत में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनमें पता चलता है कि प्राचीन समय में स्त्रियाँ धार्मिक और सामाजिक विषयों पर पुरुषों को बराबरी के साथ परामर्श दिया करती थीं और उनका मार्ग दर्शन करती थीं। इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर सुलभा नामक एक स्त्री को मोक्ष सिद्धि के विषय पर वार्तालाप करते दिखाया गया है। सुलभा के तर्क और विद्वता से भरे हुए वचनों को सुनकर राजा जनक अवाक् रह गये थे। अनुशासनपर्व में स्त्रियों को दो प्रकार का बताया गया है- साध्वी और असाध्वी। साध्वी स्त्रियाँ जगन्माताएं कहलाती हैं क्योंकि इस संसार को वे ही कायम रखती है। असाध्वी स्त्रियाँ दुराचारिणी होती हैं और अपने कुलक्षिणी होने के नाते दूर से ही पहचानी जाती हैं। अनुशासनपर्व में ही भीष्मपितामह ने कहा है कि स्त्री को सदैव पूज्य मानकर उससे स्नेह का व्यवहार किया जाना आवश्यक है। जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवताओं का निवास होता है। इस काल में स्वयंवर प्रथा प्रचलित थी तथा स्त्रियों को वेदाध्ययन की आज्ञा थी।

हमारी संस्कृति और धर्म के सिवा और कहाँ नारी को इतना ऊँचा स्थान और महान् गौरव प्राप्त है। हमारी नारियाँ इतना गौरव प्राप्त करके आनन्द में बैठी नहीं रह गयी। उनके जैसा त्यागमय, सेवापूर्ण जीवन और किसी का नहीं है। वे कुछ करतीं तो केवल अपने परिवार के लिए, अपने लिए नहीं। पति और संतान के अर्थ उन्हें क्या-नहीं करना पड़ता। कम से कम भविष्य की नारियों को हमारी अपनी सभ्यता के अनुरूप बनाना

हमारा परम ध्येय होना चाहिए। इस दिशा में हमारा पहला कर्तव्य उनके शिक्षा-क्रम को सुधारना होगा। नरों के शिक्षा-क्रम से नारी की कोई भलाई नहीं हो सकेगी। एक ही प्रकार की शिक्षा पाये हुए नर-नारियों के सहयोग से राष्ट्र का कोई विशेष लाभ नहीं होगा। अपनी सहज प्रकृति की उपेक्षा करके निर्लज्ज हो, सैकड़ो तीखी आँखों के सामने नर-नारी हिल-मिलकर रहें, यही आदर्श शिक्षा नहीं है। हर प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली विभिन्न प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था करके जब तक देश भर में प्रचार नहीं किया जाएगा, जब तक हमारे नर और नारियाँ सब प्रकार से पूर्ण उद्धार भी असम्भव है।

भारतीय संस्कृति के देदीप्यमान नक्षत्र सदृश विदुषी महान् ब्रह्मवादिनियों के जीवनादर्श के विवेचन के बिना भारतीय संन्यास परम्परा में स्त्रियों की स्थिति का मूल्यांकन सम्यक् नहीं हो पाएगा। एतदर्थ प्रस्तुत अध्याय में आर्ष साहित्य की सृजन परम्परा की संवाहिकाएँ ब्रह्मवादिनियों का प्रसंगतः वर्णन आवश्यक हो जाता है।

इस क्रम में ब्रह्मवादिनी जिनकी संख्या ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में निम्नांकित है-

1. सूर्या सावित्री (46 मन्त्र) 10.85।
2. घोषा काक्षीवती (28 मन्त्र) 10,39 एवं 10.40।
3. सिकता निवावरी (20 मन्त्र) 9.86।
4. इन्द्राणी (17 मन्त्र) 10.86 और 10.145
5. यमी वैवस्वती (11 मन्त्र) 10.10 और 10.154।
6. दक्षिणा प्राजापत्या (11 मन्त्र) 10.107।
7. अदिति (10 मन्त्र) 10.72 और 8.18.7।
8. वाक् अम्भृणी (8 मन्त्र) 10.125)।
9. अपाला आत्रेयी (7 मन्त्र)।
10. जुहू ब्रह्मजाया (7 मन्त्र)।
11. अगस्त्यस्वसा (6 मन्त्र)।
12. विश्वावारा आत्रेयी (6 मन्त्र)।
13. उर्वशी (6 मन्त्र)।

14. सरमा देवशुनी (6 मन्त्र)।

15. शिखण्डिन्यौ अप्सरसौ (6 मन्त्र)।

16. पौलोमी शची (6 मन्त्र)।

17. देवजामयः इन्द्रमातरः (5)।

18. श्रद्धा कामायनी (5 मन्त्र)।

19. नदी (4 मन्त्र)।

20. सर्पराज्ञी (3 मन्त्र)।

21. गोधा।

22. शश्वती आंगिरसी।

23. वसुक्रपत्नी।

24. रोमशा ब्रह्मवादिनी (प्रत्येक 1)

अथर्ववेद-

1. सूर्या सावित्री (139 मन्त्र)।

2. मातृनामा (40 मन्त्र)।

3. इन्द्राणी (11 मन्त्र)।

4. देवजामयः (5 मन्त्र)।

5. सर्पराज्ञी (3 मन्त्र)।

उपरोक्त ब्रह्मवादिनियों द्वारा रचित मन्त्रों से उनका प्रतिभ प्रकाश मिलता है, जो निम्नांकित हैं-

ब्रह्मवादिनी विश्ववारा -

प्रज्वलित अग्नि तेज का विस्तार करके द्युलोक तक को प्रकाशित करते हैं। अग्नि प्रातः एवं सायं (हवन के समय) अत्यन्त सुशोभित होते हैं। देवार्चन में निमग्न वृद्धपुरुष तथा विद्वान् अतिथियों का हविष्यान्न से स्वागत करने वाली स्त्रियाँ उस अग्नि के समान ही सुशोभित हैं।

अग्नि! आप प्रकाशमान होने से जल के स्वामी हो। जिस यजमान के पास आप जाते हो, यह समस्त पशु आदि धन प्राप्त करता है। हम आपके योग्य आतिथ्य सूचक हवि प्रस्तुत करके आपके समीप (हवनकुण्ड के पास) रखती है। जो स्त्री श्रद्धा-विश्वास पूर्वक आपको प्रणाम करती हैं, वह ऐश्वर्य की स्वामिनी होती है। उसका अन्त:करण पवित्र होता है। उसका मन स्थिर होता है। उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती है। अग्नि ! महासौभाग्य की प्राप्ति के लिए आप बलवान् बनो- प्रज्वलित हो! आपके द्वारा प्राप्त धन-परोपकार उत्तम हो! हम स्त्रियों के दाम्पत्यभाव को सुदृढ़ करो ! हम स्त्रियों के शत्रु, दुष्कर्म, कुचेष्टा, लोभादि पर आपका आक्रमण हो।

हे दीप्तिमान् ! मैं तुम्हारे प्रकाश की वन्दना करती हूँ। तुम यज्ञ के प्रज्वलित हो। हे प्रकाशराशि! भक्त वृन्द तुम्हारा आह्वान करते हैं। यज्ञ क्षेत्र में तुम सभी देवताओं को प्रसन्न करो। यज्ञ में हव्यवाहक अग्नि की रक्षा करो! अग्नि की सेवा करो और देवताओं को हव्य पहुँचाने के लिए अग्नि का वरण करो। ऋग्वेद के पाँचवे मण्डल के द्वितीय अनुवाक् के अट्ठाईसवें सूत्र षट्ऋकों में यह भावार्थ है। अत्रि महर्षि के वंश में उत्पन्न विदुषी विश्ववारा इन मन्त्रों की द्रष्टा ऋषि हैं। अपनी तपस्या से उन्होंने इस ऋषिपद को प्राप्त किया था। इन मन्त्रों में बताया गया है कि स्त्रियों को सावधानीपूर्वक अतिथि-सत्कार करना चाहिये। (यज्ञ के लिए हविष्य तथा सामग्रियों को प्रस्तुत करके अपने अग्निहोत्री पति के समीप पहुँचाना चाहिए। यज्ञ के लिए हविष्य तथा सामग्रियों को प्रस्तुत करके अपने अग्निहोत्री पति के समीप पहुँचाना चाहिए)। अग्नि की वन्दना करनी चाहिए। अग्नि की स्तुति करनी चाहिए और पति के प्राजापत्य अग्नि की सावधानीपूर्वक रक्षा भी पत्नी को ही करनी चाहिए। पहले प्रत्येक द्विजाति के गृह में हवनकुण्ड के अग्नि की सावधानी से रक्षा होती थी। प्रत्येक पुरुष के हवनकुण्ड पृथक् होते थे। इनकी अग्नि का बुझना भयङ्कर अमङ्गल माना जाता था] इन मन्त्रों से जान पड़ता है कि ये अग्नि की ही उपासिका थीं।

<u>ब्रह्मवादिनी अपाला -</u>

विश्ववारा की भाँति अपाला भी अत्रि मुनि के वंश में ही उत्पन्न हुई थी। कहते हैं कि अपाला को कुष्ठरोग हो गया था, इससे उनके पति ने उन्हें घर से निकाल दिया था। वे अपने पीहर में बहुत दु:खी रहती

थीं। उन्होंने कुष्ठरोग से मुक्त होने के लिए इन्द्र की आराधना की और एक बार इन्द्र को अपने घर बुलाकर उन्हें सोमपान करवाया और इन्द्रदेव को प्रसन्न किया। इन्द्र के वरदान से अपाला के पिता के सिर के उड़े हुए केश फिर आ गये, उनके खेत हरे-भरे हो गये और अपाला का कोढ़ मिट गया। ये ब्रह्मवादिनी थीं। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के 91 वें सूक्त की 1 से 7 तक ऋचाएँ इन्हीं की संकलित हैं।

सती तपती -

सुन्दरी तुम कौन हो? देव, दैत्य, गन्धन एवं नाग लोक में भी ऐसा अपूर्व सौन्दर्य सुनने में नहीं आता। मर्त्यलोक में उसे देखकर मैं आश्चर्य में पड़ गया हूँ। तुम्हारे शरीर पर यद्यपि दिव्यरत्नालङ्कार हैं, परन्तु वे तो तुम्हारी ही कान्ति से भूषित हैं। मैं महाराज पौरव का पुत्र हूँ। विश्व में किसी नारी ने अब तक मुझे आकृष्ट नहीं किया है। मैं तु हारा परिचय पाने को उत्सुक हूँ, तुम्हारे मधुर वचनों को सुनने को आतुर हूँ। मुझ पर कृपा करो और अपना परिचय दो। अयोध्याधीश महाराज संवरण वन में आखेट को निकले थे। उनके तीव्रगामी अश्व ने उन्हें परिचरों से पृथक् कर दिया था और एकान्त अरण्य में एक दिव्य सौन्दर्यमयी को देखकर वे मुग्ध हो गये थे। महाराज को प्रश्न करके अपनी ओर आते देख वह दिव्या सहसा अन्तर्हित हो गयी। उस दिव्यनारी के अन्तर्हित होते ही महाराज संवरण भूमि पर गिर पड़े। मुकुट पृथक् हो गया। केश बिखर गये और लंबी श्वासें लेने लगे। उनकी यह दशा देखकर वह दिव्य कन्या पुनः प्रकट हुई। उसने बड़े मधुर स्वर में कहा- राजन्! उठो। सर्वेश तुम्हारा मङ्गल करें। पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ राजा के लिये इस प्रकार अधीर होना शोभा नहीं देता।

मैं जगत् को आलोकित करने वाले भगवान् आदित्य की पुत्री तथा सावित्री की छोटी बहन तपती हूँ। दिव्या ने अपना परिचय दिया। मैं स्वतन्त्र नहीं। मुझ पर मेरे पिता का अधिकार है। उसी से तुम्हारे निकट आने में मैंने संकोच किया था। तुम्हारा यश, कुलीनता तथा सद्गुण विश्व में प्रख्यात है। ऐसे पुरुष को पतिरूप में पाने में प्रत्येक नारी अपना भाग्य मानेगी। तुम तप एवं प्रार्थना के द्वारा मेरे लोकपूजित पिता को प्रसन्न करके उन्हीं से मेरी याचना करो। महाराज को सेवकों से पृथक् हुए देर हो गयी थी। वे उन्हें अन्वेषण करते हुए समीप आ गये थे। तपती पुनः अदृश्य हो गयी। थोड़ी देर में महाराज सावधान हुए। उन्होंने इधर-उधर देखा। तपती के वाक्यों का स्मरण किया और कर्तव्य का निश्चय किया। सभी सेवकों को उन्होंने वहाँ से विदा कर

दिया। समीप की सरिता में स्नान किया। आचमन करके भगवान् आदित्य को उन्होंने अर्घ्य दिया और तब दोनों हाथों की अञ्जलि बनाकर वे भगवान् भुवनभास्कर के मन्त्र का जप करते हुये खड़े हो गये। मन ही मन उन्होंने अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ का स्मरण किया। सेवक राजधानी लौट आये। उन्होंने महाराज की स्थिति का समाचार राज्यगुरु महर्षि वशिष्ठ को दिया और सूचित कर दिया कि महाराज ने उन्हें लौटा दिया है। उधर महाराज के स्मरण का प्रभाव भी महर्षि अनुभव कर रहे थे। उन्होंने ध्यान किया। सभी बातें स्पष्ट हो गयी। प्रजा एवं मन्त्रियों को आश्वासन देकर तथा राज्य- प्रबन्ध को व्यवस्थित रखने के लिये समझाकर आप वन में संवरण के समीप पहुँचे। महाराज ने गुरु की वन्दना की। महर्षि ने उन्हें आश्वासन दिया और योग बल से वे आकाश मार्ग से सीधे सूर्य लोक की ओर प्रस्थित हुए।

मैं भगवान् ब्रह्मा का पुत्र हूँ और मेरा नाम वशिष्ठ है। अरुण रथ को वेगपूर्वक हाँके जा रहे थे। मुनिगण स्तुति कर रहे थे। पीछे नाग और राक्षस रथ को वेग दे रहे थे। सातों अश्व समान वेग से निश्चित मार्ग पर बढ़े जा रहे थे। महर्षि उसी गति से रथ को दक्षिण करके जा पहुँचे।

मैं धन्य हूँ। बड़ी शीघ्रता से भगवान् सूर्य उठ खड़े हुए। उन्होंने महर्षि को साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। अपने रथ में आसन देकर पाद- प्रक्षालित करके चरणोदक लिया। पूजा के पश्चात् पादपीठ के समीप करबद्ध बैठकर उन्होंने प्रार्थना की। आपका यहाँ पधारना मङ्गलमय हो। मुझे आदेश दें। मैं आप की आज्ञा को शिरसः स्वीकार करूँगा। आप जानते ही हैं कि पृथ्वी पर अयोध्यानरेश महाराज संवरण धरा के सर्वश्रेष्ठ नरेश हैं। वे शूर, संयमी और प्रजावत्सल हैं। वे आपके अनन्य उपासक हैं और सदा विधिपूर्वक आपकी ही शुद्ध हृदय से अर्चना करते हैं। आज बारह दिन तथा इतनी ही रात्रियाँ एक स्थान पर स्थिर खड़े रहकर आपकी प्रार्थना करते हुए उन्होंने व्यतीत कर दी हैं। उनकी आराधना अविराम चल रही है। महर्षि ने बड़े मधुर शब्दों में सूचित किया। मैं अपने उन्हीं यजमान के लिए आप से आपकी छोटी पुत्री सावित्री की छोटी बहन तपती की याचना करने आया हूँ। संवरण राजाओं में सर्वश्रेष्ठ हैं और मेरे प्रिय भक्त हैं। सूर्यनारायण ने कहा- तपती भी अनुरूप वर न मिलने से बड़ी हो गयी हैं और देव-गन्धर्वादि में उसके उपयुक्त पात्र न देखकर मैं उसे स्वयं संवरण को देना चाहता था। सब प्रकार यह अनुरूप सम्बन्ध है। मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। आप मेरी इस कन्या को ले जायँ। महर्षि वशिष्ठ ने तपती को साथ लिया और गगनमार्ग से वे सीधे संवरण के समीप उसी पर्वत पर पहुँचे।

अग्नि प्रज्वलित की गयी। गुरुदेव ने वहीं विधिपूर्वक संवरण-तपती का विवाह कराया और वहाँ से यजमान दम्पति को लेकर राजधानी पहुँचे। इसी तपती के पुत्र कुरु हुए जिनसे कुरुकुल प्रतिष्ठित हुआ।

ब्रह्मवादिनी वाक् -

वाक् अभृंण ऋषि की कन्या थीं। यह प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानिनी थीं और इन्होंने भगवती देवी के साथ अभिन्नता प्राप्त कर ली थी। ऋग्वेदसंहिता के दशम मण्डल के 125 वें सूक्त में देवीसूक्त के नाम से जो आठ मन्त्र हैं, वे इन्हीं के रचे हुए हैं। चण्डीपाठ के साथ इन आठ मन्त्रों के पाठ का बड़ा माहात्म्य माना जाता है। इन मन्त्रों में स्पष्टतया अद्वैतवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित है। मन्त्रों का यह अर्थ है-

" मैं सच्चिदान्नदमयी सर्वात्मा देवी रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वेदेव गणों के रूप में विचरती हूँ। मैं ही मित्र और वरुण दोनों को इन्द्र और अग्नि को तथा दोनों अश्विनीकुमारों को धारण करती हूँ।"

" मैं ही शत्रुओं के नाशक आकाशचारी देवता सोम को, त्वष्टा प्रजापति को तथा पूषा और भग को भी धारण करती हूँ। जो हविष्य से सम्पन्न हो देवताओं को उत्तम हविष्य की प्राप्ति कराता है, तथा उन्हें सोमरस के द्वारा तृप्त करता है, उस यजमान के लिए मैं ही उत्तम यज्ञ का फल और धन प्रदान करती हूँ।"

मैं सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी, अपने उपासकों को धन की प्राप्ति कराने वाली, साक्षात्कार करने योग्य परब्रह्म को अपने से अभिन्न रूप में जानने वाली तथा पूजनीय देवताओं प्रधान हूँ। मैं प्रपञ्चरूप से अनेकों भावों में स्थित हूँ। सम्पूर्ण भूतप्राणियों में मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानों में रहने वाले देवता जहाँ कहीं जो कुछ भी करते हैं, सब मेरे लिए ही करते हैं। जो अन्न खाता है, वह मेरी ही शक्ति से खाता है, इसी प्रकार जो देखता है, जो साँस लेता है तथा जो कही हुई बात सुनता है, वह मेरी ही सहायता से उक्त सब कर्म करने में समर्थ होता है। जो मुझे इस रूप में नहीं जानते, वे न जानने के कारण ही दीन दशा को प्राप्त होते जाते हैं। हे बहुश्रुत ! मैं तुम्हें श्रद्धा से प्राप्त होने वाले ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करती हूँ, सुनो- मैं स्वयं ही देवताओं और मनुष्यों के द्वारा सेवित इस दुर्लभ तत्त्व का वर्णन करती हूँ। मैं जिस-जिस पुरुष की रक्षा करना चाहती हूँ, उस-उसको सबकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बना देती हूँ। उसी को सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, परोक्षज्ञान-सम्पन्न ऋषि तथा उत्तम मेधाशक्ति से युक्त बनाती हूँ।

"मैं ही ब्रह्मद्वेषी हिंसक असुरों का वध करके रुद्र के धनुष को चढ़ाती हूँ। मैं ही शरणागत जनों की रक्षा के लिए शत्रुओं से युद्ध कराती हूँ तथा अन्तर्यामीरूप से पृथ्वी और आकाश के भीतर व्याप्त रहती हूँ।"

ब्रह्मवादिनी सूर्या -

ऋग्वेद के दशम मण्डल के 85 वें सूक्त की 47 ऋचाएँ इनकी हैं। यह सूक्त विवाह सम्बन्धी है। आरम्भ की ऋचाओं में चन्द्रमा के साथ सूर्य कन्या सूर्या के विवाह का वर्णन है। हिन्दू वेद- शास्त्रों में जितने आख्यान हैं, उन सबके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों अर्थ होते हैं। वेद की ऋचाओं के भी तीन अर्थ हैं, परन्तु वे केवल आध्यात्मिक अर्थरूप ही हैं, इतिहास नहीं हैं, ऐसी बात बात नहीं हैं। चन्द्रमा के साथ सूर्या के विवाह का आध्यात्मिक अर्थ भी है और उसका ऐतिहासिक तथ्य भी है। जहाँ चन्द्र और सूर्य को नक्षत्र रूप में ग्रहण किया गया है, वहाँ आलङ्कारिक भाषा में आध्यात्मिक वर्ण है, और जहाँ उनके आराध्य देवता के रूप में लिया गया है वहाँ प्रत्यक्ष ही वैसा व्यवहार हुआ है। सूर्या जब विदा होकर पति के साथ चली तब उसके बैठने का रथ मन के वेग के समान था। रथ पर सुन्दर चँदोवा तना था और दो सफेद बैल जुड़े थे। सूर्या को दहेज में पिता ने गौ, स्वर्ण, वस्त्र आदि पदार्थ दिये थे। सूर्या के बड़े ही सुन्दर उपदेश हैं-

" हे बहू ! इस पति गृह में ऐसी वस्तुओं की वृद्धि हो, जो प्रजा को और साथ ही तुझको भी प्रिय हों। इस घर में गृह- स्वामिनी बनने के लिये तू जाग्रत हो। इस पति के साथ अपने शरीर का संसर्ग कर और जानने पहचानने योग्य परमात्मा को ध्यान में रखते हुये दोनों स्त्री-पुरुष वृद्धावस्थातक मिलते और बातचीत करते रहें। हे बहू! तू मैले कपड़ों को फेंक दें, वेद पढ़ने वाले पुरुषों को दान कर। गंदी रहने, गंदे कपड़े पहनने, प्रतिदिन स्नान न करने से और आलस्य में रहने से भाँति- भाँति के रोग हो जाते हैं और पत्नी की मलिनता पति में भी पहुँच जाती है। इसलिये पति का कल्याण चाहने वाली स्त्री को स्वच्छ रहना उचित है। मैलेपन से होने वाले रोग से शरीर कुरूप हो जाता है। शरीर की कान्ति नष्ट हो जाती है और जो पति ऐसी पत्नी के वस्त्र पहनता है उसका शरीर भी शोभाहीन और रोगी हो जाता है। हे बहू! सौभाग्य के लिये ही मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। पति रूप मेरे साथ ही तू बूढ़ी होना। हे परमात्मा! आप इस वधू को सुपुत्रवती और सौभाग्यवती बनायें। उसके गर्भ से दस पुत्र उत्पन्न करें और ग्यारहवें पति हों। हे बधू! तू अपने अच्छे व्यवहार से ससुर की सम्राज्ञी हो,

सास की सम्राज्ञी हो, ननदों की सम्राज्ञी हो और देवरों की सम्राज्ञी हो। अर्थात् अपने सुन्दर बर्ताव से और सेवा से सबको अपने वश में कर लें।

ब्रह्मवादिनी रोमशा –

रोमशा बृहस्पति जी की पुत्री थी और भावभव्य की धर्मपत्नी। उन्होंने ऋग्वेद संहिता के प्रथम मण्डल के 126 वें सूक्त की सात ऋचाओं का संकलन किया है। कहते हैं कि इनके सारे शरीर में रोमावली थी, इससे इनके पति इन्हें चाहते थे। यह भी कहते हैं कि जिन-जिन बातोंसे स्त्रियों की बुद्धि का विकास होता है, उन्हीं का प्रचार करती थी, इसीलिए ये रोमशा नाम से प्रसिद्ध हुई। वेद और शास्त्रों की शाखाएँ ही इनके शरीर के रोम हैं और वे इसका प्रचार करती थीं, इसी से रोमशा कहलायी।

वाचक्नवी गार्गी –

वैदिक साहित्य के जगत् में ब्रह्मवादिनी विदुषी गार्गी का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इनके पिता का नाम वचक्नु था, उनकी पुत्री होने के कारण इनका नाम वाचक्नवी पड़ गया। किंतु असली नाम क्या था, इसका वर्णन नहीं मिलता। गर्ग गोत्र में उत्पन्न होने से ही लोग इन्हें गार्गी कहते थे और इनका गार्गी नाम ही जन-साधारण में अधिक प्रचलित था। बृहदारण्यक उपनिषद् में इनके शास्त्रार्थ का प्रसंग इस प्रकार वर्णित है। विदेह देश के राजा जनक ने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया। उसमें कुरु और पाञ्चाल देश तक के ब्राह्मण एकत्रित हुए थे। राजा जनक बड़े विद्या-व्यसनी और सत्संगी थे। उन्हें शास्त्र के गूढ़ तत्वों का विवेचन और परमार्थ-चर्चा अधिक प्रिय थी। इसलिए उनके मन में यह जानने की इच्छा हुई कि यहाँ आये हुए विद्वान ब्राह्मणों में सबसे बढ़ कर तात्त्विक विवेचन करने वाला कौन है ? इस परीक्षा के लिए उन्होंने अपनी गोशाला में एक हजार गौएँ बँधवा दी। उनमें से प्रत्येक के सींगों में दस-दस पाद सुवर्ण बँधे हुए थे। यह व्यवस्था कर के राजा ने ब्राह्मणों से कहा- आप लोगों में जो सबसे बढ़ कर ब्रह्मवेत्ता हो, वह इन सभी गौओं को ले जाय। राजा की यह घोषणा सुनकर किसी भी ब्राह्मण में यह साहस नहीं हुआ कि उन गौओं को ले जाए। सबको अपने ब्रह्मवेत्तापन में संदेह हुआ। सब सोचनें लगे कि यदि हम गौएँ ले जाने को आगे बढ़ते हैं तो ये सभी ब्राह्मण

हमें अभिमानी समझेंगे और शास्त्रार्थ करने लगेंगे, उस समय हम इन सबको जीत सकेंगे या नहीं; इसका क्या निश्चय है ! यह विचार करते हुए सब चुपचाप ही रहे। सबको मौन देखकर याज्ञवल्क्य जी ने अपने ब्रह्मचारी से, जो सामवेद का अध्ययन करने वाला था, कहा सौम्य ! तू इन सब गौओं को हाँक ले चल। ब्रह्मचारी ने वैसा ही किया। यह देख ब्राह्मण लोग क्षुब्ध हो उठे। विदेहराज का होता अश्वल याज्ञवल्क्य से पूछ बैठा - क्यों? तुम्हीं हम सबमें बढ़कर ब्रह्मवेत्ता हो? याज्ञवल्क्य ने बड़ी नम्रता से कहा- नहीं, ब्रह्मवेत्ताओं को हम नमस्कार करते हैं, हमें केवल गौओं की आवश्यकता है, अत: ले जाते हैं। फिर क्या था, शास्त्रार्थ आरम्भ होगी। यज्ञ का प्रत्येक सदस्य याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछने लगा। याज्ञवल्क्य इससे विचलित नहीं हुए। उन्होंने धैर्यपूर्वक सबके प्रश्नों का उत्तर क्रमश: देना आरम्भ किया। अश्वल ने चुन-चुनकर कितने ही प्रश्न किए, किंतु उचित उत्तर पा जाने के कारण चुप होकर बैठ गये। तब जरत्कारु गोत्र में उत्पन्न आर्तभाग ने प्रश्न किया; उनको यथार्थ उत्तर मिल गया; अत: वे भी मौन हो गये। फिर क्रमश: लाह्यायनि भुज्यु, चाक्रायण, उषस्त और कौषीतकेय कहोल प्रश्न करके चुप बैठ गये। इसके बाद वाचक्नवी गार्गी बोलीं। उन्होंने पूछा- भगवन् यह जो कुछ पार्थिव पदार्थ है, वह सब जल में ओत-प्रोत है, किंतु जल किसमें ओत-प्रोत हैं? जल वायु में ओत-प्रोत है, याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया।

इस प्रकार क्रमश: वायु, आकाश, अन्तरिक्ष गन्धर्वलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्रलोक, देव-लोक, इन्द्रलोक ओर प्रजापतीलोक के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर होने पर जब गार्गी ने पूछा कि ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा यह तो अति प्रश्न है। गार्गी! यह उत्तर की सीमा है, अब इसके आगे प्रश्न नहीं हो सकता। वाचक्नवी विदुषी थी, उसने याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को समझ लिया और चुप हो रही। तदन्तर और कई विद्वानों ने प्रश्नोत्तर किये। उसके बाद गार्गी ने दो प्रश्न और किये। इन प्रश्नों के उत्तर में अक्षरतत्त्व का, जिसे पर परब्रह्म परमात्मा कहते हैं, भलीभाँति निरुपण किया। गार्गी याज्ञवल्क्य का लोहा मान गयी। उसने निर्णय कर दिया कि इस सभा में याज्ञवल्क्य से बढ़कर ब्रह्मवेत्ता कोई नहीं है, इनको कोई पराजित नहीं कर सकता। ब्राह्मणो! आपलोग इसी को बहुत समझें कि याज्ञवल्क्य को नमस्कार करने मात्र से आपका छुटकारा हो जा रहा है। इन्हें पराजित करने का स्वप्न देखना व्यर्थ है। गार्गी के प्रश्नों को पढ़कर उनके गम्भीर अध्ययन का पता लगता है; इतने पर भी उनके मने में अपने पक्ष को अनुचित रूप से सिद्ध करने का दुराग्रह

नहीं था। विद्वत्तापूर्ण उत्तर पाकर संतुष्ट हो गयीं और दूसरे की विद्वत्ता की उन्होंने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। गार्गी भारत वर्ष की स्त्रियों में रत्न थीं। आज भी उनकी - जैसी विदुषी एवं तपस्विनी कुमारियों पर देश गर्व है।

मैत्रेयी -

महर्षि याज्ञवल्क्य दो स्त्रियाँ थीं मैत्रेयी और कात्यायनी। इन में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, किंतु कात्यायनी की बुद्धि साधारण स्त्रियों की सी थी। मैत्रेयी ज्येष्ठ पत्नी थी और कात्यायनी छोटी। एक दिन याज्ञवल्क्य ने अपनी दोनों पत्नियों को अपने पास बुलाया और मैत्रेयी को संबोधित करके कहा- मेरा विचार अब संन्यास लेने का है; अतः इस स्थान को छोड़कर मैं अन्यत्र चला जाऊँगा, इसलिए तुम लोगों की अनुमति लेना आवश्यक है; साथ ही यह भी चाहता हूँ, कि घर में जो कुछ धन-दौलत है, उसे तुम दोनों को बराबर-बराबर बाँट दूँ, जिससे मेरे चले जाने के बाद तुममें परस्पर विवाद न हो।

यह सुनकर कात्यायनी तो चुप रही, किंतु मैत्रेयी ने पूछा- भगवन् यदि यह धन-धान्य से परिपूर्ण सारी पृथ्वी केवल मेरे ही अधिकार में आ जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ? याज्ञवल्क्य जी ने कहा- नहीं, भोग-सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वे लौकिक दृष्टि से जितने सुख और सुविधा में रहते है, वैसी ही तुम्हारा भी जीवन हो जायगा। किंतु धन से कोई अमर हो जाए, उसे अमृतत्व की प्राप्ति हो जाए, इसकी आशा कदापि नहीं है। मैत्रेयी बोली- भगवन्! जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँगी? यदि धन से ही वास्तविक सुख मिलता तो आप इसे छोड़कर क्यों जाते?

आप ऐसी कोई वस्तु अवश्य जानते हैं, जिसके सामने यह धन, यह गृहस्थी का सारा सुख तुच्छ प्रतीत होता है। अतः मैं भी उसी को जानना चाहती हूँ। **यदेव भवान् वेद, तदेव मे ब्रूहि**- केवल जिस वस्तु को श्रीमान् अमृतत्व का साधन जानते हैं, उसी का मुझे उपदेश करें। मैत्रेयी की जिज्ञासा पूर्ण बात सुनकर याज्ञवल्क्य को बड़ी प्रसन्नता हुई; उन्होंने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा धन्य! मैत्रेयी धन्य! तुम पहले भी मुझे बहुत प्रिय थीं और इस समय भी तुम्हारे मुख से प्रिय बचन ही निकला है। अतः आओ, मेरे समीप बैठो, मैं तुम्हें उपदेश करता हूँ। तुम सुनकर मनन और निदिध्यासन करो। मैं जो कुछ कहूँ, उस पर स्वयं भी विचार करके उसे हृदय में धारण करो। यो कहकर महर्षि याज्ञवल्क्य ने उपदेश आरम्भ किया- मैत्रेयी तुम जानती हो

स्त्री को पति और पति को स्त्री क्यों प्रिय हैं? इस रहस्य पर कभी विचार किया है? पति इसलिए प्रिय नहीं है कि वह पति है, बल्कि इसलिए प्रिय है कि वह अपने को संतोष देता है, अपने काम आता है। इसी प्रकार पति को स्त्री भी इसलिए प्रिय होती है कि उससे आत्मा को सुख मिलता है। इसी न्याय से पुत्र, धन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता, समस्त प्राणी अथवा संसार के स पूर्ण पदार्थ भी आत्मा के लिए प्रिय होने से ही जान पड़ते हैं; अत: सबसे बढ़कर प्रियतम वस्तु क्या है, अपना आत्मा। इसलिए-

"आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि आत्मानो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनदं सर्वं विदितम्।"

मैत्रेयी! तुम्हें आत्मा का ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये; उसी के दर्शन, श्रवण, मनन और यथार्थ ज्ञान से सब कुछ ज्ञात हो जाता है। तदनन्तर महर्षि याज्ञवल्क्य ने भिन्न-भिन्न अनेकों दृष्टान्तों और युक्तियों से ब्रह्मज्ञान का यथार्थ उपेदश देकर कहा- मैत्रेयी तुम निश्चय पूर्वक समझ लो, इतना ही अमृतत्व है। तुम्हारी प्रार्थना के अनुसार मैंने ज्ञातव्य तत्त्व का उपेदश कर दिया। ये कहकर याज्ञवल्क्य जी संन्यासी हो गये। मैत्रेयी यह अमृतमय उपदेश पाकर कृतार्थ हो गयीं। यही यथार्थ सम्पत्ति है, जिसे मैत्रेयी ने प्राप्त किया।

ब्रह्मज्ञानिनी सुलभा -

जनक ज्ञानी कहे जाते हैं। अनेक ब्रह्मवादी उनकी सभा को सुशोभित करते हैं। परंतु अभी भी वाद के द्वारा अपने मत की स्थापना और दूसरों के मत का खण्डन करने की प्रवृत्ति गयी नहीं। यह तो अपूर्णता का परिचायक है। आत्मस्वरूप की उपलब्धि के अनन्तर कौन किसका खण्डन करेगा। ऐसे विवेकी, साधुसेवी, नरेश को अपूर्ण नहीं रहना चाहिए। नैष्ठिक ब्रह्माचारिणी, ब्रह्मनिष्ठा, तपस्विनी सुलभा तक जनक की कीर्ति पहुँच चुकी थी। उनके कोमल हृदय में करुणा का स्रोत उमड़ा और महाराज विदेह की भ्रान्ति दूर करने का उन्होंने निश्चय कर लिया। योगबल से उन्होंने एक सुन्दर तपस्विनी स्त्री का वेष धारण किया और मिथिला पहुँची। महाराज जनक ने उनका स्वागत किया। पाद्य-अर्घ्यादि से सत्कार किया। उनके भोजन करके सन्तुष्ट होकर आसन पर विराजने के पश्चात् बड़ी नम्रता से महाराज ने पूछा, देवि! आप कौन हैं? आप क्या करना

चाहती हैं? प्रश्न किये बिना कोई किसी का परिचय जान नहीं सकता। मैं आपके साथ परमार्थ-सम्बन्धी चर्चा करना चाहता हूँ। संन्यासिनी को मौन देखकर महाराज ने कहा मैं अपना परिचय दे देता हूँ। मैं परमयोगी महात्मा पञ्चशिख का शिष्य हूँ। मेरे सम्पूर्ण संशयों को उन्होंने मूलोच्छेद कर दिया है। मैने योग तथा सांख्य-शास्त्र के सम्पूर्ण रहस्य प्राप्त कर लिये हैं। मोक्ष के साधन कर्म, ज्ञान तथा उपासना इन तीनों को मैं भली प्रकार जानता हूँ। महात्मा पञ्चशिख ने यहाँ चातुर्मास्य किया था। और उसी समय उन्होंने मुझे योगविद्या का शिक्षण दिया । उन्होंने मुझे राज्य त्यागकर वन में जाने की आज्ञा नहीं दी। मेरे गुरुदेव ने मुझे निष्काम कर्म की आज्ञा दी है। इसके पश्चात् महाराज ने अपनी अन्त-स्थितिका परिचय दिया ज्ञान से मोक्ष होता है। योग से ज्ञान होता है और ज्ञान से ही सुख-दुखादि द्वन्द्व दूर हो जाते हैं। यह ज्ञान मैंने प्राप्त किया है। इस सांसारिक जीवन से मुझे कोई आसक्ति नहीं । मेरे कर्मबीज गुरुवाक्यों की ज्ञानाग्नि में भूने जा चुके हैं। अब उनमें अंकुरित होने की शक्ति नहीं। कोई मेरे एक हाथ को चन्दन लगावे तथा दूसरे को लकड़ी की भाँति छीले, तो भी मेरे लिए दोनों समान हैं। मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में मुझे कोई वैषम्य नहीं जान पड़ता। कर्म से लाभ होता हो तो भी उसकी अपेक्षा न करना और कर्मों का प्रयोजन न रहा हो तो भी उनका त्याग न करना चाहिए। यह मुझे गुरु ने उपदेश किया है। प्रयत्न, नियम, राग-द्वेष, कामना, परिग्रह, मान, दम्भ, स्नेहादि सम्पूर्ण विषयों में समान रहने की मुझे शिक्षा मिली है। गैरिकवस्त्र, कमण्डलु, दण्ड धारणादि त्याग के बाह्य चिह्न हैं। ये मोक्ष का कारण नहीं। मोक्ष के लिए किसी वस्तु का त्याग या स्वीकार आवश्यक नहीं । ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। राज्य वैभवादि में होकर भी मैं उनसे अलिप्त हूँ। स्नेह बन्धन को मैंने विचार एवं त्याग के खड्ग से काट दिया है।

महाराज ने इस प्रकार अपना परिचय देकर पुनः पूछा, आप में योग का प्रभाव देखकर मेरा आप के प्रति आदर भाव है। आश्चर्य है कि आपका सौन्दर्य एवं अवस्था योग के अनुरूप नहीं। आप में संन्यासियों के योग्य यम, नियम, संयम स्पष्ट लक्षित हैं। आप ने आडम्बर तो नहीं किया है, आप क्यों आयी? आपका उद्देश्य क्या है? जो भी हो, मैं कहूँगा कि आप अपने संन्यास धर्म पर सदा स्थिर रहें। मुझे लगता है कि गुप्त वेष में आप मेरे ज्ञान की परीक्षा लेने पधारी हैं। आपका यहाँ आने का कारण, जाति तथा साधनाभ्यास मैं जानना चाहता हूँ। संन्यासिनी किसी रोष एवं असन्तोष का भाव व्यक्त नहीं किया। उसने प्रथम बतलाया कि कैसे बोलना चाहिये। बोलने में किस प्रकार के शब्दों का उपयोग करना चाहिए। वाणी ने नव दोष होते हैं और

नव दोष बुद्धि उत्पन्न करते हैं। इन अठारह दोषों से बचकर अठारह गुणों से युक्त वाणी ही श्रेष्ठ होती है। वाक्य कैसे होना चाहिए, यह उसने बताया। स्पष्ट अर्थयुक्त, द्वि-अर्थ दोष से रहित, आठ गुण वाला वाक्य होना चाहिए। इस प्रकार काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, गर्व, लज्जा, दया तथा मान के द्वारा प्रेरित वाक्य भी दूषित होता है। यह बड़ा सुन्दर एवं विशद विषय है। भाषा शास्त्र का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। महाभारत के शान्ति पर्व में जनक-सुलभा संवाद में ही इसे भली प्रकार देखना चाहिए। सुलभा ने वाक्य एवं भाषा के गुण-दोष का निरुपण करके महाराज से कहा, जैसे लाख और काष्ठ, जल और धूलि के संयोग से ये पदार्थ परस्पर सन्धीभूत होते हैं, इसी प्रकार देह से पृथक् आत्मा से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-ये तन्मात्राएँ अपनी इन्द्रियों के साथ संश्लिष्ट हैं। इस विषय में पूछने योग्य क्या है? तुम पूछते हो कि मैं कौन हूँ, पर यह प्रश्न निरर्थक है। जड़ एवं चेतन के संयोग से मिथ्याज्ञान से मेरे निर्माण की प्रतीति हैं। तुम्हारी भी प्रतीति ऐसी ही है। चेतन तो एक एवं अविभाज्य है तथा जड़, मेरे, तुम्हारे तथा सभी शरीरो में वही हैं। जैसे रेत के कण एक दूसरे से लगे होने पर भी परस्पर एक दूसरे को नहीं जानते, वैसे प्राणी भी परस्पर एक दूसरे को आत्मस्वरूप नहीं जानते। नेत्र अपने को देख नहीं पाता, रसना अपना स्वाद नहीं लेती। कोई अपने को पहचानता नहीं। इन्द्रियाँ भी एक दूसरी को नहीं जानतीं। जैसे नेत्र बाह्य से पदार्थों की अनुभूति के लिए गुणों की आवश्यकता होती है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन, बद्धि, सत्त्व, अहं, अविद्या, प्रकृति, व्यक्ति, द्वन्द्वानुभीति की शक्ति, काल, विधि, वीर्य बल तथा सप्तधा प्रकृति ये तीस गुण हैं। तीसों जहाँ सन्धिभाव में हों, उसे शरीर कहते हैं। अव्यक्त प्रकृति ने उपर्युक्त गुणों को स्वीकार करके जो व्यक्त रूप बनाया है, वही मैं हूँ। तुम और दूसरे शरीर धारी भी वही हैं। तुम कौन हो? तुम्हारा यह प्रश्न व्यर्थ है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान का विविध भाँति से उपदेश करने के अनन्तर संन्यासिनी ने बताया, मैं जाति से क्षत्रिया हूँ। मेरी उत्पत्ति शुद्ध है। मैंने योग्य वर न मिलने से विवाह नहीं किया। प्रधान नामक राजर्षि के कुल मैं उत्पन्न हूँ। मोक्ष धर्म प्रवृत्त होकर मैंने संन्यासियों के व्रत को स्वीकार कर लिया है। मैं एकाकी पर्यटन करती हूँ । किसी छल या कपट से मैं यहाँ नहीं आयी हूँ। मुझे किसी का धन-हरण नहीं करता है और न मैं धर्म भ्रष्ट हूँ। मैं अपने व्रत में स्थिर हूँ। तुम्हारी अत्यन्त कीर्ति सुनकर मैं यहाँ आयी। तुम्हारे विचारों की भ्रान्ति दूर कर तुमें योग्य मार्ग दिखलाने मैं यहाँ आयी हूँ। मैं तुम्हारे भले के लिये कहती हूँ। स्वपक्ष-समर्थन तथा परपक्ष-खण्डन की तुम्हारी प्रवृत्ति बतलाती है कि अभी तुम्हारा अपने स्वपक्ष में आग्रह

है। जहाँ एक ही आत्मतत्त्व है, वहाँ स्व और पर कहाँ? कहाँ पक्ष और विपक्ष? तुम उसी आत्मतत्त्व में स्थित होकर इस आग्रह से उपरत हो जाओ। सुलभा ने महाराज जनक को सत्कार प्राप्त कर एक रात्रि वहीं निवास किया और दूसरे दिन वहाँ से प्रस्थान किया।

चूडाला –

'यह शिखिध्वज आपको अभिवादन करता है।' मंदराचलकी एकान्त शान्त गुफा में देवताओं के निमित्त पुष्प चयन करके माला करते हुए तपस्वी ने एक गौरवपूर्ण तरुण तेजोमूर्ति ब्राह्मण को देखकर अभ्युत्थान दिया। अर्घ्य, पाद्य के अनन्तर पुष्पमाल्य अतिथि को पाकर सार्थक हो गया। ब्राह्मण आसनासीन हुए। तुम्हारा यह क्षीणकाय, ये जटाएँ, यह कठोर तपस्या और यह विस्तृत कर्मजाल किस लिये है। परिचय में ब्राह्मण ने आपको कुम्भ ऋषि बतलाया था और राजा से तपः कुशल का शिष्टाचार समाप्त हो चुका था। तुमने मेरा अत्यन्त सत्कार किया है। मैं प्रसन्न हूँ। तप संन्यासी तथा वानप्रस्थाश्रमी के लिये उपयुक्त है और तुम तरुण हो। यह विधर्म तुमने किस उद्देश्य से स्वीकार किया? सुख और दुःख तो मन के धर्म है, आत्मा के धर्म हैं नहीं। तुम्हारे राज्यसुख छोड़ने और तपःकष्ट उठाने का आत्मा से क्या सम्बन्ध। यदि तुम्हें मोक्ष की अभीष्ट है तो तुम्हें आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये। मिथ्या अज्ञाना-वरण को दूर करो। तुम्हारी पत्नी चूडाला ने तुम्हें ठीक ही उपदेश किया था। उसका अनादर करके जब तुम वन में ही आ गये तो फिर यहाँ भी तुमने सर्वस्य त्याग की पूर्ण प्राप्ति क्यों नहीं की?

धन, पुत्र, स्त्री, राज्यादि तो किसी के हैं नहीं। तात्त्विक दृष्टि से तो वे सर्वेश्वर के हैं। उनका त्याग त्याग नहीं है, यह समझाते ब्राह्मणकुमार को देर नहीं लगी। राजा ने आसन छोड़ा और उठ खड़े हुए। मैं अब कहीं भी पड़ा रहूँगा। मेरी कोई गुफा नहीं, कोई आश्रम नहीं। उन्होंने आसन, मृगछाला और कमण्डलु आदि भी छोड़ दिया। अभी भी बहुत कुछ छोड़ना है। ब्राह्मणकुमार मुस्कराये। हाँ, राजा ने सोचा। पाठ की पुस्तक, जप की माला उन्होंने छोड़ दी एक शिलापर। 'अभी भी....' नरेश ने जल उठाया और संकल्प किया, मैं अपनी समस्त तपस्या, जप-पूजादि का फल त्याग करता हूँ। 'अभी और!' राजा ने कुछ सोचा और एक शिखर पर जा खड़े हुए। वे कूदना ही चाहते थे कि विप्रकुमार ने पीछे से पकड़ लिया। तुम समझते हो कि शरीर-त्याग से ही सब हो जायेगा। तनिक स्वर कठोर था। आत्महत्या का पाप और मिलेगा। शरीर तो दूसरा धारण करना होगा।

जो शरीर को क्रियाशक्ति देता है, जो सारे संस्कारों को संभाले हैं, जो शरीर दिया करता है, उस अहंकार का त्याग तुम क्यों नहीं करते? मैं कर्त्ता हूँ, मैंने किया है, मैं त्याग करूँगा, क्या यह सत्य है? आत्मा तो साक्षी है, अकर्ता है। तुम इस अहंकार का त्याग किये बिना पूर्ण त्यागी कैसे बनोगे?

तपस्या ने अन्तःकरण शुद्ध का दिया था। मल नष्ट हो गया था। फल त्याग के संकल्प ने विक्षेप को शमन कर दिया था। इन बोध वाक्यों ने सहसा आवरण पर आघात किया। वह दूर हो गया। राजा ने चाहा कि वह अपने ज्ञान दाता के पैरों पर सिर रख दे। यह क्या? उनके ही पैरों पर सिर रखा यह कौन है? विप्रकुमार कहाँ गये? प्रभो! आप यह क्या कर रहे हैं! मैं तो आपकी दासी हूँ। उनकी पत्नी चूडाला मन्दस्मित से गुहा के द्वारदेशपर किसी देवी के समान जान पड़ती थी। सौराष्ट्र-राजकन्या चूडाला जितनी ही सुन्दर थी, उतनी ही नृत्य-संगीतादि ललित कलाओं में निपुण थी। शील और प्रतिभा उसे जन्म से ही प्राप्त थी। उज्जयिनी के महाराज शिखिध्वज के समान शूर, सुन्दर, सदाचारी एवं प्रतापी नरेश के द्वारा उसका पाणिग्रहण हुआ। दम्पति ने अपने हृदयों के साथ सद्गुणों का भी आदान-प्रदान किया और फलतः चूडाला धर्मशास्त्र एवं नीति में तथा महाराज ललित कलाओं में भी प्रवीण हो गये। यदि धर्मपूर्वक अर्थ और काम का सेवन हो तो धर्म स्वतः इनसे विरक्ति उत्पन्न करके मानव को उसके परम लक्ष्य की ओर प्रेरित कर देता है। चूडाला की प्रतिभा पति से धर्मशास्त्र ज्ञान प्राप्त करके पुष्ट हो गयी। अब उसमें जिज्ञासा उठी मैं कौन हूँ? संसार में क्यों आयी? यहाँ आने का उद्देश्य क्या है? जिज्ञासा ने हृदय भूमि में मनन का बीज डाला। सदाचार शुद्ध हृदय में वह बढ़ चला। निरन्तर मनन ने स्पष्ट कर दिया कि शरीर, इन्द्रियों, मन, प्राण, बुद्धि तथा अहं भी अपना स्वरूप नहीं। अन्ततः जो सबसे परे है, सबका बाध होने पर उस उपलब्ध स्वरूप में स्थिति तो होनी ही थी। परम तत्त्व की उपलब्धि के पश्चात् चूडाला ने चाहा कि पति को भी वह इस निःश्रेयस् स्थिति का साक्षात् करा दे। महाराज के हृदय में अब भी वासनाओं के बीज थे। संस्कार थे। पत्नी का बार-बार का प्रमोपदेश भी उन्हें मार्ग पर लाने के लिये उसने साधन प्रारम्भ किया और आकाश मार्ग से गमन की सिद्धि प्राप्त की। अन्ततः महाराज को भोगों से वैराग्य हुआ। उन्होंने वन में जाकर तप करने का निश्चय किया। चूडाला ने समझाया प्रत्येक कार्य यथावसर ही उपयुक्त होता है। आप गृहस्थ है। आपके लिये वनवास विधर्म है। लाभ कुछ नहीं हुआ। महाराज एक रात्रि को चुपचाप उठे और वन में चले गये। चूडाला के लिये महाराज का पता लगा लेना कठिन न था, पर उनसे

परिचय करना व्यर्थ था। समय की प्रतीक्षा करनी थी। उसने राज्य कार्य सम्भाला और अठारह वर्ष तक उसे चलाती रही। आप विरक्त होकर चले आये थे। आपका चित्त इस स्थिति में न था कि आप स्वस्थ विचार करें। तपस्या ने जब हृदय के मल को नष्ट कर दिया तो दासी ने सेवा में उपस्थित होने का अवसर पाया। चूडाला के नेत्र आनन्दाश्रु से भरे थे। अब क्या इच्छा है? महाराज ने पूछा। वन में रहना हो मेरे साथ तो मुझे आपत्ति नहीं। मेरी तपस्या आपको मेरे साथ इसी शरीर से स्वर्ग में भी रखने में भी समर्थ है। मुझे भोग आकर्षित नहीं करते। स्वर्ग का मुझे क्या करना है। चूडाला का आनन्द आज सीमातीत था। तपस्या से कुछ प्राप्त करना नहीं है। राज्य प्रारब्धवश स्वत: प्राप्त है। प्रजापालन का कर्तव्य आपको कर्म विधान से मिला है। उसका अस्वीकार आप क्यों करें। चूडाला पति के साथ राजधानी लौट आयी। आत्मदर्शन सम्पन्न पत्नी ने पति की इस स्थिति में भी सहधर्मिणी के कर्तव्य को पूर्ण किया। पर्याप्त समय तक दम्पति ने राज्य का संचालन किया। अन्त में तो उन्होंने परनिर्वाण प्राप्त कर ही लिया था। महाराज ने प्रसन्न होकर चूडाला को आशीर्वाद दिया था। तुम विश्व की श्रेष्ठ सतियों में सदा सम्मानित होओगी। पत्नी के लिये पति का हार्दिक आशीर्वाद तो ईश्वरीय वरदान है।

ब्रह्मवादिनी ममता -

ममता दीर्घतमा ऋषि की माता थी। ये बहुत बड़ी विदुषी और ब्रह्मज्ञानसम्पन्ना थी। अग्नि के उद्देश्य से किया हुआ इनका स्तुति पाठ ऋग्वेद संहिता के प्रथम मण्डल के दशम सूत्र की ऋचा में मिलता है। उसका भावार्थ यह है- हे दाशिमान्! असंख्य चोटियों वाले और देवताओं को बुलाने वाले अग्नि! दूसरे अग्नि की सहायता से प्रकाशित होकर आप इस मानव स्तोत्र को सुनिये। श्रोतागुण ममता के सदृश ही अग्नि के उद्देश्य से इस मनोहर स्तोत्र को पवित्र घृत की भाँति अर्पण करते हैं।

माता मैना (मेनका) -

पर्वतराज हिमालय की पत्नी मैना पर्वतराज के साथ ही आकल्प चिरजीवी हैं। सती ने दक्ष यज्ञ में शरीर छोड़ा तो पुन: देह धारण के लिये एक मात्र साध्वी मैना जैसी ही स्त्री उनकी माता बनने की अधिकारिणी

हो सकती थीं। मैना जी के अनेक गिरि पुत्र थे, अनेक सरितापुत्रियाँ थी, किन्तु पार्वती उनकी अन्तिम पुत्री थी और दिव्या। माता का अपार स्नेह अपनी बालिका पर था।

देवर्षि नारद ने आकर उनकी बालिका का हाथ देखा और पर्वतराज को पता नहीं क्या-क्या समझा गये। माता को तो यही चिन्ता थी कि पुत्री का विवाह अच्छे घर में, सुयोग्य वर से हो। पर्वतराज ने समझाया कि श्रेष्ठ पति प्राप्त करने के लिए पुत्री को तपस्या करने का आदेश दो। मेरी कुसुम-सुकुमार बालिका तप करेगी? एकाकिनी वन में रहेगी? माता का हृदय फटने लगा। अपने मुख से वे कैसे आदेश दें। उनकी बालिका ने ही उनकी गोद में बैठ कर बड़े मधुर सवर से कहा, माँ! स्वप्न में एक तेजस्वी ब्राह्मण ने मुझे तपस्या करने को कहा हे। मैं तप करूँगी। तुम प्रसन्नता से आज्ञा दो। हृदय को वज्र बनाकर आज्ञा देनी पड़ी। जिनका आयु कल्प और युगों में गिनी जाती है, उनके लिए शताब्दियों का क्या अर्थ होता है? फिर भी जब एक दिन पर्वतराज तपोवन जाकर कन्या को लौटा लाये तो माता को लगा कि उनकी बच्ची कल्पों के पश्चात् लौटी है। रात्रि-दिवस उन्होंने अपनी उमा की चिन्ता करते हुए ही बिताये थे।

नारद कर मैं काह बिगारा।

बसत भवन जिन्ह मोर उजारा॥

बारात आयी। बड़ी साध से मैना जी सखियों के साथ जा माता का परिछन करने गयी थी। मुण्डमाल, फुफकारते नाग, बैलपर बैठा वह पागल औघड़! भय से चीत्कार करके थाल फेंककर वे भाग आयी। पुत्री को गोद में बैठाकर विलाप करने लगी। हाय, हाय, मेरी हिम सी कोमल बच्ची ने तपस्या करते-करते अपने को सुखा दिया और परिणाम में मिला यह पागल वर।

नारद के घर-गृहस्थी तो है नहीं, बड़े निर्दय हैं। ऐसा भी परिहास किया जाता है। मैं इस मुण्डमाली को तो लड़की दूँगी नहीं। यदि पतिदेव ने बाध्य किया तो उमा को गोद में लेकर ऊपर से कूद पड़ूँगी या समुद्र में डूब जाऊँगी। संखिया और वत्सनाग भी मेरे ही यहाँ उत्पन्न होते हैं। पार्वती जी ने माता को बहुत समझाया, परन्तु वे अविचल रही। समाचार पाकर देवर्षि सप्तर्षियों को लेकर आये। माता! तुम्हारी पुत्री महाशक्ति जगद्धात्री हैं। ये भगवान् शंकर की नित्य अर्धाङ्गिनी हैं। वेद-शास्त्र भवानी, दुर्गा, महामाया कहकर इन्हीं की स्तुति करते हैं। देवर्षि ने पार्वती के पूर्वजन्म का परिचय दिया।

सप्तर्षियों ने अनुमोदन किया। जगज्जननी उमा ने माता के मोह को दूर किया। हृदय में भगवान् शंकर एवं पार्वती के वास्तविक स्वरूप प्रकाशित हो गये। माता ने जामाता की पार्वती के समर्पण में पति के साथ योग दिया।

ब्रह्मवादिनी उशिज –

ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि की पत्नी का नाम उशिज था। प्रसिद्ध महर्षि काक्षीवान् इन्हीं के सुपुत्र थे। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 116 से 121 तक के मन्त्र इन्हीं के द्वारा संकलित हैं। प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी घोषा इन्हीं की पौत्री थी। यह सारा ही कुटुम्ब ब्रह्मपरायण था। इनके दूसरे पुत्र का नाम था दीर्घश्रवा। वे भी प्रसिद्ध ऋषि थे।

सती लोपामुद्रा –

लोपामुद्रा महर्षि अगस्त्य की धर्मपत्नी हैं। ये भी अपने पातिव्रत्य, संयम, तपस्या और त्याग के लिए संसार में विख्यात हैं। इनकी उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है– एक समय मुनिवर अगस्त्य कहीं जा रहे थे। उन्होंने देखा, एक गड्ढे में कुछ व्यक्ति नीचे को सिर किए लटक रहे हैं। मुनि ने पूछा, आप लोग कौन है? उन्होंने उत्तर दिया, हम तुम्हारे ही पितर हैं और पुत्र होने की आशा लगाये इस गड्ढे में लटके हुए हैं। बेटा अगस्त्य! यदि तुम्हारे एक पुत्र हो जाए तो इस नरक से हमारा छुटकारा हो सकता है और तुम्हें भी सद्गति मिल सकती है। महर्षि अगस्त्य बड़े तेजस्वी और सत्यपरायण थे। उन्होंने पितरों से कहा, आप लोग चिन्ता छोड़ें। मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा। इस प्रकार पितरों को सान्त्वना दे अगस्त्य जी ने विचार किया कि वंशपरम्परा की रक्षा के लिए विवाह करना आवश्यक है किंतु उन्हें अपने योग्य कोई स्त्री न दिखायी दी।

उन्हीं दिनों विदर्भ देश के राजा सन्तान के लिए तपस्या कर रहे थे। मुनि ने राजा को एक श्रेष्ठ कन्या होने का आशीर्वाद दिया। समय आने पर ऋषि के वरदान से विदर्भराज के यहाँ एक तेजस्विनी कन्या उन्पन्न हुई। ब्राह्मणों ने उस कन्या के जन्म पर अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की और उसका नाम लोपामुद्रा रख दिया। जैसे पानी में कमलिनी और होमकुण्ड में प्रज्वलित अग्नि की शिख बढ़ती है, उसी प्रकार वह मनोहर रूप धारण करने वाली राजकुमारी शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगी। देखते-देखते लोपामुद्रा के शरीर में यौवन फूट

पड़ा। वह रूप में स्वर्ग की अप्सराओं को भी लज्जित करने लगी। उसमें विनय, सुशीलता, सदाचार, लज्जा और धर्मानुराग आदि सद्गुण स्वाभाविक रूप से विकसित हो रहे थे। पिता उसके सुन्दर स्वभाव और सद्व्यवहार से बहुत प्रसन्न रहते थे। कन्या को सयानी हुई देख पिता इस चिन्ता में पड़े कि कन्या का विवाह किसके साथ किया जाए। महर्षि अगस्त्य मन-ही-मन विदर्भराज की कन्या को अपनी सहधर्मिणी बनाने का निश्चय कर चुके थे। जब उन्हें मालूम हो गया कि लोपामुद्रा गृहस्थी का भार सँभालने योग्य हो गयी है, तब वे स्वयं जाकर विदर्भराज से मिले और इस प्रकार बोले- राजन् पुत्र की उत्पत्ति के लिए विवाह करना चाहता हूँ। इसके लिए तुम्हारी कन्या का ही वरण करता हूँ। तुम लोपामुद्रा का विवाह मेरे साथ कर दो। विदर्भराज-दम्पति अपनी प्राणाधिका प्रिय पुत्री का विवाह इनसे करना नहीं चाहते थे, पर शाप से डरते भी थे। पर इस प्रकार पिता-माता को दु:खी देख राजकुमारी लोपामुद्रा ने स्वयं उनके पास आकर कहा -महाराज ! आप मेरे लिए दु:खी न हों। मुझे अगस्त्य ऋषि को सौप दें और अपनी रक्षा करें। पुत्री की यह बात सुनकर राजा ने शास्त्र विधि के अनुसार अगस्त्य जी के साथ उसका विवाह कर दिया। विवाह के पश्चात् महर्षि ने कहा, देवि! तुम्हारे ये वस्त्र और आभूषण बहुमूल्य हैं। इनको यहीं उतार दो। वन में इनकी रक्षा कौन करेगा।

लोपामुद्रा का जन्म राजकुल में हुआ था। वह बाल्यकाल से ही राजोचित सुखभोग में पली थी। उसने अब तक अच्छे-अच्छे वस्त्रों और आभूषणों का मोह क्षणभर में त्याग दिया। उसने एक-एक करके दर्शनीय रत्नमय आभूषण और सुन्दर महीन वस्त्र उतार डाले तथा उनकी जगह चीर, वल्कल और मृगचर्म धारण कर लिया और अपने पति के समान ही व्रत एवं नियमों का पालन करने लगी। लोपामुद्रा तन,मन, प्राण से पति की अनुगामिनी बन गयी। महर्षि अगस्त्य नवोढा पत्नी के साथ हरिद्वार के क्षेत्र में आये और वही घोर तपस्या करने लगे। लोपामुद्रा बड़े ही प्रेम, उत्साह और तत्परता से पति की सेवा करती थी। महर्षि भी उसके प्रति बड़े प्रेम का बर्ताव करते थे। इस प्रकार वहाँ तपस्या करते-करते कितने ही वर्ष वीत गये। एक दिन महर्षि ने देखा, लोपामुद्रा ऋतु-स्नान से निवृत्त होकर सेवा में उपस्थित है। तपस्या ने उसकी कान्ति और बढ़ा दिया है। उसकी सेवा, पवित्रता, संमय, शान्ति और रूपलावण्य ने महर्षि को मुग्ध कर दिया था, अपने पिता के भवन में अट्टालिका के भीतर जिस प्रकार से रहा करती थी, लोपामुद्रा को प्रसन्न करने के उद्देश्य से वैसी ही व्यवस्था करने के लिए महर्षि अगस्त्य धन के निमित्त घर से निकले। महर्षि अगस्त्य धन माँगने के लिए पहले महाराज

श्रुतर्वा के पास गये। उनके आगमन का समाचार पाकर राजा श्रुतर्वा मन्त्रियोंसहित उनकी अगवानी के लिए अपने राज्य की सीम तक आया। उन्हें आदरपूर्वक नगर में ले जाकर विधिवत् अर्घ्य अर्पण किया। फिर उसने हाथ जोड़कर नम्रता पूर्वक महर्षि के आगमन का कारण पूछा। अगस्त्य जी ने कहा - राजन् ! तुम्हारे पास मैं धन के लिए आया हूँ, अत: दूसरों को कष्ट पहुँचाये बिना जो धन तुम्हें शेष बचता हो, उसी में यथा शक्ति मेरे लिए दो। अगस्त्य जी की बात सुनकर राजा ने अपना सारा आय-व्यय का हिसाब उनके आगे रख दिया ।

सती शाण्डिली -

प्रतिष्ठानपुर में एक कौशिक नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मण रहता था। वह पूर्वजन्म में किए हुए पापों के कारण कोढ़ी हो गया था। उसकी पत्नी का नाम शैब्या था, किंतु शाण्डिल्य-गोत्र में उत्पन्न होने के कारण उसे लोग शाण्डिली ही कहा करते थे। वह साध्वी और पतिव्रता थी। पति की सब प्रकार से सेवा करके उसे संतुष्ट रखना ही नारी का परम धर्म है; इस शास्त्र वाक्य पर उसको अटल विश्वास था। उसका पति अत्यन्त घृणित रोग से ग्रस्त था तो भी वह देवता की भाँति उसकी पूजा करती थी। शाण्डिली अपने पति के पैरों में तेल मलती, उसका शरीर दबाती, उसे अपने हाथ से नहलाती, कपड़े पहनाती और भोजन कराती थी। इतना ही नहीं, उसके थूक, खँखार, मल-मूत्र और रक्त भी वह स्वय धोकर साफ करती थी। वह एकान्त में भी पति की सेवा करती और मीठी वाणी से प्रसन्न रखती थी। इस प्रकार अत्यन्त विनीत भाव से वह सदा अपने स्वामी की सेवा किया करती, तो भी अधिक क्रोधी स्वभाव का होने कारण वह निष्ठुर प्राय: अपनी पत्नी को फटकारता ही रहता था। इतने पर भी वह उसके पैरों पड़ती और उसे देवता के समान समझती थी। यद्यपि उसका शरीर अत्यन्त घृणा के योग्य था, तो भी वह साध्वी उसे सबसे श्रेष्ठ मानती थी, कौशिक से चला-फिरा नहीं जाता था, तो भी उसने एक दिन अपनी पत्नी से कहा- धर्मज्ञे ! घर पर बैठे ही-बैठे सड़क पर जिस वेश्या को जाते देखा था, उसके घर में आज मुझे ले चलो, मुझे उससे मिला दो। उस वेश्या को बहुत लोग चाहते हैं और मुझमें उसके पास तक जाने की शक्ति नहीं इसलिए आज मुझे तुम उसके पास पहुँचा दो।

अपने स्वामी का यह वचन सुनकर उत्तम कुल में उत्पन्न हुई इस परम सौभाग्यशालिनी पतिव्रता पत्नी ने अपनी कमर खूब कस ली, और अधिक शुल्क लेकर पति को कंधे पर चढ़ा लिया। फिर धीरे-धीरे वेश्या के

घर की ओर प्रस्थान किया। रात्रि का समय था, आकाश मेघों से आच्छन्न हो रहा था। केवल बिजली के चमकने से मार्ग दिखायी दे जाता था। ऐसी वेला में वह ब्राह्मणी अपने का अभीष्ट साधन करने के लिए राजमार्ग से जा रही थी। मार्ग में शूली थी, जिसके ऊपर चोर न होते हुए भी चोर के सन्देह से माण्डव्य नामक ब्राह्मण को चढ़ा दिया गया था। वे दु:ख से आतुर हो रहे थे, कौशिक पत्नी के कंधे पर बैठा था। उस अन्धकार में देख न सकने के कारण उसने अपने पैरों से छूकर सूली को हिला दिया। इससे कुपित होकर माण्डव्य ने कहा जिसने पैर से हिलाकर मुझे इस कष्ट की दशा में पहुँचा दिया और मुझे अत्यन्त दुखी कर दिया, वह पापात्मा नराधम सूर्योदय होने पर विवश होकर अपने प्राणों से हाथ धो बैठेगा। सूर्य का दर्शन होते ही उसका विनाश हो जायगा। इस दारुण शाप का सुनकर उसकी पत्नी व्यथित हो उठी और बोली अब सूर्य का उदय ही नहीं होगा।

तदनन्तर सूर्योदय न होने के कारण बराबर रात ही रहने लगी। कितने ही दिनों के बराबर समय रातभर मे ही बीत गया। सारे धर्म-कर्म का लोप हो गया। इससे देवताओं को बड़ा भय हुआ। सब देवता आपस में बात करने लगे। यज्ञों के विनाश की आशङ्का से वहाँ एकत्रित हुए देवताओं के बचन सुनकर प्रजापति ब्रह्मा जी ने कहा पतिव्रता के माहात्य से इस समय सूर्योदय नहीं हो रहा है और सूर्योदय न होने से मनुष्यों तथा तुम देवताओं की भी हानि है; अत: तुम लोग महर्षि अत्रि की पतिव्रता पत्नी तपस्विनी अनसूया के पास जाओ और सूर्योदय की कामना से उन्हें प्रसन्न करो। तब देवताओं ने जा कर अनसूया जी को प्रसन्न करके पूर्ववत् दिन होने लगे। यह याचना की। अनसूया ने कहा देवताओं ! पतिव्रता का माहात्य किसी प्रकार कम नहीं हो सकता; इललिए मैं उस साध्वी को मनाकर दिन की सृष्टि करूँगी। मुझे ऐसा उपाय करना है, जिससे पूर्व की भाँति दिन-रात की व्यवस्था चलती रहे और उप पतिव्रता के पति का भी नाश न हो। देवताओं से यह कहकर अनसूया देवी उस ब्राह्मणी के घर गयी और बोलीं- कल्याणी ! तुम अपने स्वामी के मुख का दर्शन करके प्रसन्न तो रहती हो न? पति को सम्पूर्ण देवताओं से बड़ा मानती हो न? पति की सेवा से ही मुझे महान् फल की प्राप्ति हुई है तथा सम्पूर्ण कामनाओं और फलों की प्राप्ति के साथ ही मेरे सारे विघ्न भी दूर हो गये। साध्वी! मनुष्यों को पाँच ऋण सदा ही चुकाने चाहिएँ।

अपने वर्णधर्म के अनुसार धन का संग्रह करना आवश्यक है। उसके प्राप्त होने पर शास्त्र विधि के अनुसार उसका सत्पात्र को दान करना चाहिए। सत्य, सरलता, तपस्या, दान, और दया से सदा युक्त रहना चाहिए। राग-द्वेष का परित्याग करके शास्त्रोक्त कर्मो का अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन श्रद्धा पूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य अपने वर्ण के लिए विहित उत्तम लोकों को प्राप्त होता है। पतिव्रते! इस प्रकार महान् क्लेश उठाने पर पुरुषों को प्राजापत्य आदि लोकों की प्राप्ति होती है। परन्तु स्त्रियाँ पति की सेवा करने मात्र से पुरुषों के दु:ख अनसूयाजी का वचन सुनकर पतिव्रता ब्राह्मणी ने बड़े आदर के साथ उनकी पूजन किया और इस प्रकार कहा - स्वभावत: सबका कल्याण करने वाली देवी ! स्वयं आप यहाँ पधारकर पतिसेवा में मेरी पुन: श्रद्धा बढ़ा रही हैं। इससे मैं धन्य हो गयी। यह आपका मुझ पर बहुत बड़ा अनुग्रह है। इसी से देवताओं ने भी आज मुझपर बहुत बड़ा अनुग्रह है। इसी से देवताओं ने मुझ पर कृपादृष्टि की है।

मैं जानती हूँ कि स्त्रियों के लिए पति के समान दूसरी कोई गति नहीं हैं। पति में किया हुआ प्रेम इहलोक और परलोक में भी उपकार करने वाला होता है। महाभागे ! आज मेरे घर पर पधारी हैं। मुझसे अथवा मेरे इन पतिदेव से आप को जो भी कार्य हो, उसे बताने की कृपा करें। अनसूया बोली- देवि ! तुम्हारे वचन से दिन-रात की व्यवस्था का लोप हो जाने के कारण शुभ कर्मों का अनुष्ठान बंद हो गया है; इसलिए ये इन्द्र आदि देवता मेरे पास दु:खी होकर आये हैं और प्रार्थना करते हैं कि दिन-रात की व्यवस्था पहले की तरह अखण्ड रूप से चलती रहे । मैं इसके लिए तुम्हारे समस्त यज्ञ कर्मों का अभाव हो गया है और यज्ञों के अभाव से देवताओं की पुष्टि नहीं हो पाती हैं; अत: तपस्विनि! दिन के नाश से सृष्टि में बाधा पड़ने के कारण इस संसार का ही उच्छेद हो जाएगा। अत: यदि तुम इस जगत् को विपत्ति से बचाना चाहती हो तो सम्पूर्ण लोकों पर दया करो, जिससे पहले की भाँति सूर्योदय हो। ब्राह्मणी ने कहा- महाभागे! माण्डव्य ऋषि ने अत्यन्त क्रोध में भरकर मेरे स्वामी- मेरे ईश्वर को शाप दिया हैं कि सूर्योदय होते ही तेरी मृत्यु हो जाएगी। अनसूया बोली- कल्याणी! यदि तुम्हारी इच्छा हो और तुम कहो तो मैं तुम्हारे पति को पूर्ववत् शरीर एवं नया स्वस्थ कर दूँगी। मुझे पतिव्रता स्त्रियों के लिए माहात्म्य का सर्वथा आदर करना है। इसीलिए तुम्हें मनाती हूँ। ब्राह्मणी के तथास्तु कहकर स्वीकार करने पर तपस्विनी अनसूया ने अर्घ्य हाथ में लेकर सूर्यदेव का आवाहन

किया। उस समय तक दस दिनों के बराबर रात बीत चुकी थी। तदनन्तर भगवान् सूर्य लिखे हुए कमल के समान अरुण आकृति धारण किए अपने महान् मण्डल के साथ गिरिराज उदयाचल पर आरुढ़ हुए। सूर्यदेव के प्रकट होते ही ब्राह्मणी का पति प्राणहीन होकर पृथ्वी पर गिरा; किन्तु उसकी पत्नी ने गिरते समय उसे पकड़ लिया। अनसूया बोली- भद्रे ! तुम विषाद न करना। पति की सेवा से जो तपोबल मुझे प्राप्त हुआ है, उसे तुम अभी देखो, विलम्ब की क्या आवश्यकता? मैने जो रूप, शील, बुद्धि एवं मधुर भाषण आदि सद्गुणों में अपने पति के समान दूसरे किसी पुरुष में कभी नहीं देखा है, उस सत्य के प्रभाव से यह ब्राह्मण रोगमुक्त हो फिर से तरुण हो जाए और अपनी स्त्री के साथ सौ वर्ष तक जीवित रहे। यदि मैं स्वामी के समान किसी और देवता को नहीं समझती, तो उस सत्य के प्रभाव से यह ब्राह्मण रोगमुक्त पुनः जीवित हो जाए। यदि मन, वाणी एवं क्रिया द्वारा मेरा सारा उद्योग प्रतिदिन स्वामी की सेवा के लिए ही होता हो, तो यह ब्राह्मण जीवित हो जाए। अनसूया देवी के इतना कहते ही वह ब्राह्मण अपनी प्रभा से उस भवन को प्रकाशमान करता हुआ रोगमुक्त तरुण शरीर से जीवित हो उठा; मानो जरावस्था से रहित देवता हो। तदनन्तर दुंदुभि आदि देवताओं के बाजों की आवाज के साथ वहाँ फूलों की वर्षा होने लगी।

ब्रह्मवादिनी घोषा -

घोषा काक्षीवान् ऋषि की कन्या थी। इनको कोढ़ का रोग हो गया था, इसी से योग्य आयु में इनका विवाह नहीं हो पाया। अश्विनी कुमारों की कृपा से इनका रोग नष्ट हुआ, तब इनका विवाह हुआ। ये बहुत प्रसिद्ध विदुषी और ब्रह्मवादिनी हो गयी हैं। इन्होंने स्वयं ब्रह्मचारिणी के रूप में ब्रह्मचारिणी कन्या के समस्त कर्तव्यों का उल्लेख दो सूक्तों में किया है। इन्होंने कहा है- हे अश्विनी कुमारों आपके अनुग्रह से आज घोषा परम सौभाग्यवती हुई है। आपके आशीर्वाद से घोषा के स्वामी के भले के लिये आकाश से प्रचुर वर्षा हो जिससे खेत लहलहा उठें। आपकी कृपादृष्टि घोषा के भावी पति को शत्रु की हिंसा से रक्षा करें।

हे अश्विनी कुमार ! पिता जैसे सन्तान को शिक्षा देते हैं, वैसे ही आप भी मुझ को सत् शिक्षा दें। मैं ज्ञान बुद्धिहीन नारी हूँ। आपका आशीर्वाद मुझ को दुगर्ति से बचावे। आपके आशीर्वाद से मेरे पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि सुप्रतिष्ठित होकर जीवन यापन करें। पतिगृह में मैं पति की प्रियपात्री बनूँ।

सती अनसूया-

भारत वर्ष की सती साध्वी स्त्रियों में अनुसूया जी का स्थान बहुत ऊँचा है। इनका जन्म अत्यन्त उच्च कुल में हुआ था। स्वायंभुव मनु की पुत्री देवी देवहूति इनकी माता और ब्रह्मर्षि कर्दम इनके पिता थे। भगवान् विष्णु के अवतार सिद्धेश्वर कपिल इनके छोटे भाई हैं। अनसूया जी में अपने वंश के अनुरूप ही सत्य, धर्म, शील, सदाचार, विनय, लज्जा, क्षमा सहिष्णुता तथा तपस्या आदि सद्गुणों का स्वाभाविक रूप से विकास हुआ है। ब्रह्मा जी के पुत्र मानस पुत्र परम तपस्वी महर्षि अत्रि को इन्होंने पतिरूप में प्राप्त किया था। अपनी सतत सेवा तथा पावन प्रेम से अनसूया ने महर्षि अत्रि के हृदय को जीत लिया था।

भगवान् को अपने भक्तों का यश बढ़ाना होता है तो वे नाना भाँति के स्वाँग रचते हैं, ऐसी-ऐसी अद्भुत क्रीड़ाएँ करते है कि जिनको स्मरण करके साधारण मनुष्य चकित हो जाते हैं कि भगवान् ने ऐसी क्रीड़ा क्यों की? हम साधारण अज्ञ पुरुष भगवान् की अचिन्त्य लीलाओं को अपने तर्क की तुला पर तौलें, तो हमारा यह प्रयास असफल ही न होगा, अपितु यह हमारी अनधिकार चेष्टा भी समझी जाएगी।

कहते हैं कि भगवती श्रीलक्ष्मी जी, श्रीसती जी और श्री सरस्वती जी को अपने वातिव्रत्य का बड़ा अभिमान था, भगवान् और किसी के अभिमान को चाहे सहन कर लें, किन्तु वे अपने भक्तों के हृदय में उठे हुए अभिमान के अंकुर का तुरंत नाश कर देते हैं। भगवान् ने देखा कि इन चराचर जगत् की वन्दनीया देवियों को बड़ा गर्व हो गया है तो उनको गर्व को खर्च करने के निमित्त कौतुकप्रिय भगवान् नारद के मन में प्रेरणा की। नारद जी तो भगवान् की इच्छा को जानने वाले ही ठहरे।

वे भगवान् की प्रेरणा से चले। वीणा बजाते, रामकृष्ण गुण गाते नारद जी को अपने यहाँ आते देखकर लक्ष्मी जी का मुखकमल खिल उठा। बड़ी प्रसन्नता से वह बोली- आइये नारद जी। अब के बहुत दिनों में आये, कहाँ चक्कर लगाते रहे? कुछ रुककर नारद जी बोले- माता जी। हमारा क्या ठिकाना? रमते राम ठहरे जिधर चल दिये, चल दिये। यह सुनकर लक्ष्मी जी बड़े ज़ोर से हँस पड़ी और बोली- नारद जी। आपने वैष्णव की ऊँट के साथ तुलना बड़ी सुन्दर की। ऊँट भी नीमा को बिना पत्ती के बना देता है और ये वैष्णव भी तुलसी को बिना पत्ती की बना देता है। खैर, यह तो बताइये, आप कहाँ से आ रहे है?

नारद जी बोले माता जी क्या बताऊँ, कुछ बताते नहीं बनता। अब के मैं घूमता-फिरता चित्रकूट की ओर चला गया। वहाँ से पयस्विनी के किनारे भगवान् अत्रि के आश्रम पर पहुँच गया। वहाँ उनकी पवित्रता पत्नी भगवती अनसूया के दर्शन करके कृतार्थ हो गया। आज संसार में उनके समान पतिव्रता कोई भी नहीं है। आज संसार की सभी सती-साध्वी पतिव्रताओं की वे शिरोमणि हैं।

यह सुनकर तो लक्ष्मी जी को बड़ा बुरा लगा। यह मेरे ही घर का बच्चा, मेरे ही सामने ऐसी बातें कर रहा है। यह तो मेरा प्रत्यक्ष अपमान है। अत: बात को स्पष्ट करके पूछने लगी- नारद! तुमने अनसूया के पातिव्रत्य की बड़ी प्रशंसा की, नाम तो उनका मैंने भी सुना है, किन्तु क्या वे मुझ से भी बढ़कर हैं? नारद जी ने तो उनके मन को फेरना ही था, बोले- माता जी! आप बुरा न माने तो मैं इसका उत्तर दूँ? लक्ष्मी जी बोली- बुरा मानने वाली कौन सी बात है, तुम निर्भय होकर उत्तर दो।

नारद जी बोले- माता जी! सच बात तो है, आप उन देवी अनसूया के प्रसंग के बराबर भी नहीं। इतना सुनते ही लक्ष्मी जी का मुख फीका पड़ गया। वे नारद जी से ऐसे उत्तर की स्वप्न में भी आशा नहीं रखती थी। प्रसन्न होकर तीनों देवों ने कहा- तथास्तु! अच्छी बात है, हम तीनों अपने-अपने अंशों से आकर तुम्हारे पुत्र होंगे। अनसूया को इस प्रकार वरदान देखकर सम्मुख लज्जा से नीचा सिर किये हुए लक्ष्मी जी, सती जी और ब्रह्माणी जी को देखकर तीनों ने पूछा- बताओ, आजकल सबसे श्रेष्ठ सती कौन है?

लजाते हुए तीनों ने एक स्वर में कहा- पुण्यश्लोका प्रात: स्मरणीया भगवती अनसूया देवी ही सर्वश्रेष्ठ सती हैं। इनसे बढ़कर पतिव्रता संसार में दूसरी कोई नहीं है। पति को परमेश्वर मानकर जो देवी अपनी समस्त इच्छाओं को पति की इच्छा में ही मिला देती है, वह क्या नहीं कर सकती?

पति जैसा हो, वह उसके गुणों के कारण नहीं, अपने प्रभाव के कारण, अपनी साधना के सहारे, अपनी एकनिष्ठा के आधार पर जो-जो चाहे सो कर सकती हैं।

<u>सती शकुन्तला -</u>

राजन्! आपका मंङ्गल हो। यह महात्मा कण्व का आश्रम है। आप ऋषि का आतिथ्य स्वीकार करें। महाराज दुष्यन्त मृगया को निकले थे और एक मृग का पीछा करते हुए वे आश्रम के समीप पहुँच गये थे।

आश्रम में पहुँचकर वल्कल पहने, सखियों के साथ लताओं को सींचती हुई शकुन्तला को उन्होंने देखा। वे उस अपूर्व सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये। यह पाद प्रक्षालनार्थ जल है। ये कुछ मधुर कन्द तथा फल हैं। आप आचमन करें और इन्हें स्वीकार करें। मेरे पिता महर्षि कण्व आश्रम पर नहीं है। किसी ग्रह शान्ति के लिये वे सोम तीर्थ गये हैं। शकुन्तला जी ने अतिथि का स्वागत करते हुए कुयाल-प्रयन किया। पुरुवंशियों का चित्त अधर्म में प्रवृत्त नहीं होता। मेरा मन तुम्हें देखकर क्षुब्ध हो रहा है। तुम मुनि कन्या तो नहीं जान पड़ती। दुष्यन्त ने आतिथ्य-ग्रहण के अनन्तर पूछा। मैं महर्षि विश्वामित्र की पुत्री हूँ। मेरी माता मेनका ने उत्पन्न होते ही मेरा त्याग कर दिया। नदी किनारे वन में शकुन्त पक्षी मेरे ऊपर छाया घेरे थे। महर्षि कण्व ने मुझे देखा और दयावश उठा लाये। उन पक्षियों के कारण ही मेरा नामकरण हुआ। महर्षि ने बड़े ही स्नेह से मेरा पालन किया। आप अतिथि हैं। मैं आपकी क्या सेवा करूँ। शकुन्तला ने परिचय दिया। तुम राजर्षि के कुल में उत्पन्न हो। मेरा मन तुम्हें देखकर आकर्षित हो गया है। मुझे स्वीकार करके मेरे ऊपर कृपा करो और महारानी बनो।

महाराज! मैं स्वाधीन नहीं हूँ। मेरे पिता को आने दीजिए। आप उनसे ही प्रार्थना कीजिए। शकुन्तला ने लज्जा पूर्वक निवेदन किया। राजकन्याएँ स्वयं पति चुना करती हैं। महात्मा कण्व इससे असन्तुष्ट न होंगे। दुष्यन्त प्रतीक्षा करने को प्रस्तुत न थे। शकुन्तला का हृदय भी आकर्षित हो चुका था। शकुन्तला ने स्वीकार कर लिया। गान्धर्व विधि से महाराज दुष्यन्त ने उसे ग्रहण कर लिया। अपनी मुद्रिका देकर तथा शीघ्र उसे राजधानी बुलाने को कहकर चले गये। शकुन्तला एक दिन पति के ध्यान में निमग्न थी।

आश्रम में दुर्वासा ऋषि आये, परन्तु उसे पता न था। ऋषि ने क्रोध करके शाप दिया कि जिसके ध्यान में लगकर तू मेरे स्वागत को नहीं उठी है, वह तुझे भूल जाएगा। सखियें ने शाप सुना। उन्होंने ऋषि की प्रार्थना की। किसी प्रकार वे प्रसन्न हुए। उन्होंने शाप का परिहार किया कि किसी चिन्ह के दिखलाने से महाराज को स्मरण हो जाएगा। शकुन्तला इस घटना से अनभिज्ञ ही रही। महर्षि कण्व लौटे। उन्हें शकुन्तला की सखियों से सब ज्ञात हुआ। वे प्रसन्न हुए। उन्होंने विवाहिता कन्या को आश्रम में रखना उचित न समझा। उनका अनुमान था कि महाराज राजकार्य में लगकर इधर का ध्यान भूल गये हैं। दो शिष्यों को साथ करके, उन्होंने शकुन्तला को महाराज के समीप भेजा। महर्षि कण्व ने आपकी मंङ्गलकामना की है। उनकी पालित पुत्री शकुन्तला, जिसे आपने आश्रम में आकर गान्धर्व विधि से स्वीकार किया था, उसे उन्होंने आपके समीप भेजा है। ऋषि ने

कहलाया है कि राजकार्य में लगकर आपका विस्मृत होना स्वाभाविक था। अब आप अपनी धर्मपत्नी को स्वीकार करें और हम लोगों को आश्रम जाने की आज्ञा दें। मुझे भी स्मरण नहीं। मैं इस कल्याणी को जानता तक नहीं हूँ। आप लोग क्या कह रहे हैं? मैं कुछ भी समझ नहीं पाता। महाराज दुर्वासा के शाप से सब कुछ भूल चुके थे। राजन्! तब क्या आपने मुझे भ्रष्ट करने के लिये ही वे मधुर बातें की थीं। आप नरेश होकर भी एक बालिका का धर्म लेकर उसे अस्वीकार करते लज्जित नहीं होते। तुम व्यर्थ ही मुझे कलङ्कित कर रही हो। मुझे स्मरण तक नहीं कि मैंने तुम्हें कभी देखा भी है। महारानी बनने के लोभ में यदि तुम ऐसा कर रही हो तो वह व्यर्थ है। पुरुवंशी पर स्त्री की ओर भूलकर भी नहीं देखते। महाराज ने कठोरता पूर्वक उत्तर दिया।

तुमने मुझे अपनी मुद्रिका दी है प्रेम के चिह्नस्वरूप। शकुन्तला ने मुद्रिका को दिखाना चाहा, परन्तु वह तो मार्ग में आचमन करते समय याचीतीर्थ में गिर गई थी। मुद्रिका तो गिर गई, परन्तु तुम्हें अपने शब्द तो स्मरण होंगे। अनेक प्रकार से शकुन्तला ने प्रार्थना की, रोयी, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। दुष्यन्त उसे किसी प्रकार भी स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हुए। ज्योतिषियों ने कहा है कि आपका प्रथम पुत्र चक्रवर्ती होगा। सन्तान होने तक यह मेरे यहाँ सुरक्षित रहे। यदि इसके गर्भ से उत्पन्न हुआ पुत्र चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त हुआ तो समझा जाएगा कि यह सत्य कहती है और तब श्रीमान् स्वीकार कर लेगें। दयालु राजपुरोहित ने एक मार्ग निकाला। महाराज ने इसे स्वीकार कर लिया।

शकुन्तला राजपुरोहित के पीछे रोती हुई उनके घर की ओर चली। मार्ग में एक ज्योतिर्मयी नारी सहसा आकाश में आयी और शकुन्तला को लेकर अदृश्य हो गई। स्वर्ग में असुरों से देवताओं का युद्ध छिड़ गया। महेन्द्र ने अपने सारथि मातलि को भेजकर सहायता के लिये महाराज दुष्यन्त को बुलाया। महाराज देवरथ में बैठकर स्वर्ग गये और अपने अद्‌भुत पराक्रम से उन्होंने संग्राम में असुरों को पराजित किया। असुर पाताल भाग गये। महाराज को मातलि रथ में बैठाकर राजधानी पहुँचाने लौटा। अरे मूर्ख खोल, मुख। मैं तेरे दाँत गिनूँगा। एक सुन्दर दिग बर तेजस्वी बालक एक सिंहशावक को एक वक्ष में दबाये था और दूसरों को हाथों से पकड़कर उसका मुख खोलने में लगा था। महाराज विस्मित होकर उस बालक को देखने लगे। तू क्यों गुर्राती है? चुप रह, नहीं तो सिर फोड़ दूँगा। बच्चों के मुँह से गुर्राती सिंहनी समीप आ गयी थी। बालक ने एक सूखी लकड़ी उठाकर उसे इस प्रकार डाटा, जैसे वह कोई बकरी हो। सचमुच सिंहनी ने नेत्रों में क्रोध के बदले

याचना थी। मानो वह अपने बच्चों पर दया करने की प्रार्थना कर रही हो। अरे सर्वदमन, छोड़ दे शेर के बच्चे को। तू बड़ा चंचल हो गया है। क्यों सताता है उसे? एक तपस्विनी ने बालक को डाटा। माँ शकुन्तला कहाँ है? बालक ने केशरी-शावकों को छोड़ दिया और तपस्विनी की ओर चल पड़ा। महाराज ने देख लिया था कि बालक में महापुरुषों के लक्षण हैं। उसकी माता का नाम सुनकर वह चौंके। तपस्विनी के पास आकर उन्होंने परिचय जानना चाहा। उन्हें ज्ञात हुआ कि वह उन्हीं का पुत्र है और शकुन्तला को उसकी माता मेनका आकाश मार्ग से लेकर यहाँ छोड़ गई है। इसी समय शकुन्तला पुत्र को ढूँढ़ते हुए वहाँ पहुँची।

महाराज को देखकर वह उनके चरणों में गिर पड़ी। मुझे क्षमा करो। बड़ी कठिनता से महाराज ने इतना कहा। आप मुझे अपराधिनी न बनावें। उस नारी को धिक्कार है, जो पति के प्रति असत् विचार करती है और जिससे पति को क्षमा माँगनी पड़ती है। आप मेरे आराध्य हैं। मैंने सदा आपके मङ्गल का चिन्तन किया है। वह तो मेरे किसी पूर्वकृत पाप का फल था जो मुझे भोगना पड़ा। शकुन्तला ने पति के चरणों में पुनः मस्तक रखा। महर्षि कश्यप का दर्शन करके तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त कर महाराज पत्नी तथा पुत्र के साथ राजधानी लौटे। शकुन्तला के यही पुत्र सर्वदमन आगे चलकर भरत नाम परमपराक्रमी यशस्वी नरेश विख्यात हुए।

सती प्रातिथेयी-

देवी प्रातिथेयी महर्षि दधीचि की धर्मपत्नी थीं। भारत वर्ष की पतिव्रता देवियों में इनका बहुत ऊँचा स्थान है। पुराणों में इनके दो नाम और मिलते हैं, गभस्तिनी और बड़वा। ये विदर्भदेश के राजा की कन्या तथा लोपामुद्रा की बहिन थीं। प्रातिथेयी सदा कठोर तपस्या में लगी रहती थीं। ये पति की अनन्य अनुरागिणी तथा उन्हीं की सेवा में सदा संलग्न रहने वाली थीं। प्रातिथेयी के लिए तपोवन का प्रत्येक प्राणी पुत्र की भाँति पालनीय था। वृक्षों और लताओं पर भी ये माता की भाँति पालनीय था। वृक्षों और लताओं पर भी माता की भाँति स्नेह रखतीं और सब प्रकार से उनकी संभाल करती थी। उनकी इस साधना का फल भी प्रत्यक्ष देखा जाता था। आश्रम वासी वृक्ष और लताएँ दूसरों के लिए भले ही जड़ वस्तु हों, प्रातिथेयी के लिए सभी चेतन थे। सभी उनसे बोलते तथा अपने अधिकार के अनुसार उनकी आज्ञा का पालन भी करते थे। तपोवन में जितने वृक्ष थे, वे सभी माता प्रातिथेयी को माँगे ही आवश्यकता के अनुरूप फल-फूल अर्पण करते थे।

परम साध्वी कान्तिमती-

आज तुममे धर्मजिज्ञासा उत्पन्न हुई , यह इस पुण्य का प्रभाव है जो परम पवित्र वैशाख मास में ब्राह्मणों को चरण पादुका एवं छाते का दान करके तुमने अर्जित किया है। महामुनि शङ्ख ने अपने स मुख हाथ जोड़कर नम्रता पूर्वक बैठे हुए कल्याणकामी व्याध से कहा तुम्हारी धर्म में रुचि तुम्हारी पूर्वजन्म की पत्नी के पुण्य का प्रताप है। उसकी सद्भावना से ही तुम कल्याण मार्ग की ओर प्रवृत्त हुए हो।

तपस्विनी धर्मव्रता-

बेटी ! पति के बिना स्त्री का जीवन व्यर्थ है और अयोग्य पति को पाकर भी स्त्री का जीवन व्यर्थ हो जाता है। अपने योग्य पति की प्राप्ति के लिए तू तपस्या कर। तप समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। धर्मरता, परम सुन्दरी सुशीला तथा विद्यावती कन्या वयस्का हो गयी थी और बहुत श्रम करके भी विप्र धर्म उसके योग्य वर नहीं ढूँढ पाये थे।

उस धर्मिष्ठा ने पिता की आज्ञा स्वीकार की। माता विश्वरूपा ने उसे आशीर्वाद दिया। वन में जाकर वह कठोर नियमों का पालन करती हुई भगवान् आराधना करने लगी। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने अपने मानसपुत्र ऋषि मरीचि को प्रजा वृद्धि का आदेश दे रखा था। प्रजापति मरीचि अनुकूल पत्नी के अन्वेषण में तीर्थाटन कर रहे थे। उन्होंने घूमते हुए एक दिन तपस्या-निरत परमसुन्दरी धर्मव्रता को देखा। उसके रूप लक्षण तथा कर्म को देखकर वे मुग्ध हो गये। परिचय के पश्चात् उन्होंने आग्रह किया कि वह उनकी पत्नी बने।

शिवभक्ता घुश्मा-

आप अपना दूसरा विवाह कर लें। मेरी छोटी बहिन घुश्मा अत्यन्त सुशील और धर्मपरायण है। उससे आपको कोई कष्ट न होगा। हम दोनों बहनें परस्पर एकत्र रहकर सुखी होंगी। सुदेहा ने बार-बार अपने पति से अनुरोध किया। दक्षिण में देवगिरि पर्वत के निकट विप्र सुधर्मा पत्नी के साथ बड़े सुखपूर्वक रहते थे। सम्पन्न घर था और पत्नी अनुकूला थी। केवल एक ही कष्ट था कि उन्हें कोई सन्तति न थी। सुदेहा बार-बार सन्तान प्राप्ति के लिए पति को दूसरा विवाह करने का आग्रह किया करती थी। अन्त में विप्र सुधर्मा ने पत्नी के

अनुरोध को मानकर उसकी छोटी बहिन से विवाह कर लिया घुश्मा बचपन से ही शिवभक्ता थी। भगवान् शङ्कर में उसकी अपार श्रद्धा थी। नित्य मृत्तिका से वह 101 शिवलिङ्ग निर्मित करके उनकी विधिपूर्वक पूजा करती और पूजा के पश्चात् उन्हें समीप के सरोवर में विसर्जित कर आती । पतिगृह में ही उसका यह उपासनाक्रम बना रहा। धार्मिक पति ने उसकी उपासना को सदा प्रोत्साहित किया। दोनों बहनों में बड़ा प्रेम था। वे बड़ी मैत्रीपूर्वक रहती थीं ।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:- जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ सम्पूर्ण देवता प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं, जहाँ इनका आदर नहीं वहाँ सम्पूर्ण क्रियाएँ निष्फल होती हैं। नयी रोशनी के लोग यह आक्षेप करते हैं कि आर्थिक दृष्टि से हिंदू-स्त्रियाँ अधिक गिरी हुई हैं। उनको दीन-हीन और पराधीन बना रखा गया है। परंतु वेदों से लेकर स्मृतियों तक बात डंके की चोट कही गयी है कि घर की स्वामिनी स्त्रियाँ हैं। व्यास स्मृति में नारी के लिए कर्तव्य का उपदेश इस प्रकार दिया गया हैं - स्त्री को चाहिए कि वह पति के सोकर उठने से पहले ही उठ कर स्नादि से निवृति होकर अग्निहोत्र की तैयारी कर ले। सायंकालीन दीप-दान और शङ्ख -ध्वनि आदि गृह के नित्य-कृत्य समाप्त करके स्वयं भोजन करे। कन्या के विवाह के विषय में मनु जी कहते हैं कि यदि कन्या के विवाह की अवस्था में कमी है और सुयोग्य वर मिल जाए तो विवाह कर देना चाहिए, क्योंकि सुयोग्य वर के मिलने में कितनी कठिनाई होती है, यह भुक्तभोगी ही जानता है। इस प्रकार आर्ष समाज नारी के प्रति अपनी उदार सोच के लिए जाना जाता था। वह नारी के विविध क्षेत्रों में प्रभुत्व अधिकार प्रदान करने का पक्षधर था। उसने इस दिशा में विविध उदार नियमों का परिनिर्माण भी किया था। वह परिवार में गृह स्वामिनी थी एवं साम्राज्ञी थी। सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय थी। सैन्य-संचालन करने वाली शूरमा थी और ब्रह्मविद्या विज्ञान की अध्येता साध्वी थी। विविध आश्रमों के संचालन में साध्वी भूमिका प्रदान करती थी जिसका निर्देशन उसके इस रचित मन्त्रों से स्वतः प्राप्त हो जाता है। तत्कालीन समाज में ब्रह्मवादिनियों का विशिष्ट सम्मान था।

भारत वर्ष में समाज में नारियों को बहुत गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। प्राचीन समय में स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा की सुन्दर व्यवस्था थी और वे सामाजिक कार्यों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। वे अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त युद्धों तक में जाती थीं और अपनी वीरता की अमिट छाप छोड़ती थी। वेदों में ऋषिकाओं के दृष्ट

मन्त्रों की संख्या 422 हैं। न गृहं गृहमित्याहु: गृहिणी गृहमुच्यते। गृहिणी ही घर है। स्त्री को सरस्वती का रूप माना गया है और उसे विराट् विशेष तेजोमयी कहा गया है। वह अपने ज्ञान से प्रतिष्ठित हो और विष्णु की तरह आदर प्राप्त करे, स्त्री की प्रतिष्ठा अप्ने गुणों और योग्यता के अधार पर है। उषा देवी का वर्णन एक युवती के रूप में करते हुए कहा गया है कि वह किसी प्रकार का संकोच न करते हुए निर्भीक और साहसी युवती समाज का नेतृत्व करती है।

इन्द्राणी को एक सेनानी के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसके प्रयास का वर्णन है कि उनका पैर शत्रुमर्दन के लिए आगे बढ़ने के लिए अधीर है। वह शिव के पिनाक धनुष की तरह धनुष धारण करती है। शत्रुओं की सभी आकांक्षाओं पर पानी फेर देती है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णन है कि स्त्री अबला नहीं सबला है। मैं स्वयं वीर हूँ और वीर पुत्रों की माता हूँ । मरुत् मेरे सहयोगी हैं (मंत्र 46) यजुर्वेद का कथन है कि स्त्री में सहस्रों प्रकार का बल है। अत: उसे सहस्रवीर्या कहते हैं।

उपनिषद् और थेरीगाथाओं में साध्वियों की -

भारत में उपनिषद् काल से ही गार्गी, मैत्रेयी जैसी स्वतन्त्र चेता स्त्रियों का हमें परिचय मिलता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी याज्ञवल्क्य से सवाल करती हैं, तर्क करती हैं तो याज्ञवल्क्य की चेतावनी यह थी कि "गार्गी, मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्द्धा न्यपतत्....(री गार्गी मुझसे बहुत सवाल पूछेगी तो मेरा सिर नीचे गिर जायेगा) ।" गजब है कि स्त्री सवाल उठा नहीं सकती। लगता है कि प्राचीन काल से ही ऐसी एक धारणा हमारे समाज में प्रचलित थी कि स्त्री को तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए। फिर भी उपनिषद् की गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषियों के बारे में जो उल्लेख प्राप्त होता है उससे स्पष्ट होता है कि अनेक दार्शनिक समस्याओं पर भी स्त्रियों ने गहन चिन्तन किया था। प्राचीनकाल की स्त्री प्रज्ञा के विषय में थेरीगाथाओं से काफी जानकारी मिलती है। थेरीगाथा नारी स्वतन्त्रता को प्रकट करने वाला दस्तावेज है। त्रिपिटक के निकाय ग्रन्थों में थेरीगाथा खुद्दक निकाय के पन्द्रह ग्रन्थ समूहों में से क्रम संख्या नौ पर समाहित है। बौद्धकाल में थेरीगाथाओं में महिलाएँ खुलकर स्त्री स्वतन्त्रता की चर्चा करती हैं। भगवान् बुद्ध के समकालीन भिक्षुणियों के जीवनानुभव उनकी अपनी वाणी में अभिव्यक्त हुए हैं। पुरानी मान्यताओं की परवाह किये बगैर ये महिलाएँ भगवान् बुद्ध

की शरण में आने की हिम्मत दिखा सकीं। अपने अन्तर्मन की भावनाओं की खुली अभिव्यक्ति सामने रख सकीं। अबला समझी जाने वाली नारी का क्रान्तिकारी रूप इसमें मौजूद है। प्राचीन भारतीय समाज में नारी की स्थिति, वास्तविक स्थिति और उसके प्रति समाज के दृष्टिकोण का यथार्थ रूप आपके सामने थेरीगाथा के जरिए स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए भिक्षुणी सुमंगला माता भिक्षुणी बनाने के पहले और बाद में अपने अनुभवों को यों रेखांकित करती हैं। वह कहती हैं-

अहो! मैं मुक्त नारी। मेरी मुक्ति कितनी धन्य है! पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी, आज उससे मुक्त हुई। मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे-छोटे बर्तन। जिनके बीच में मैं मैली-कुचैली बैठती थी, और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों से भी तुच्छ समझता था। जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था। अब उस जीवन की आसक्तियों और मैलों को मैंने छोड़ दिया है। मैं आज वृक्ष मूलों में ध्यान करती हूँ। अहो! अब मैं कितनी खुश हूँ।

कष्टमय घरेलू जीवन में गरीबी से जूझनेवाली कैसे अपने पति की अवहेलना सहकर जी रही थी और बाद में कैसे मुक्त होकर सुखी होने का आनन्द पा रही थी। इसकी झलक इन पंक्तियों में है उब्बीरी थेरीगाथा में पुत्री की मृत्यु के बाद मातृ हृदय पर आघात पड़ता है, उस आघात पर मर्मस्पर्शी चित्र है। पुत्री जीवन्ती की शोक में विलाप करने वाली उब्बीरी की आँखों तब खुल गई थीं जब बुद्ध ने उससे पूछा था- उब्बीरी इसी श्मशान में तेरी चौरासी हजार कन्याएँ जलाई गयी हैं। बता, तू उनमें से किस कन्या के लिए विलाप कर रही हैं? मातृ हृदय से विस्तार की भावना यहाँ परिदर्शित है। महिलाएँ बुद्ध के विचारों से प्रभावित थीं। नारी मुक्ति का तीखा स्वर इन गाथाओं में सुनायी पड़ता है। थेरियों ने अपने सामाजिक जीवन को सही मायने में व्यक्त किया है। स्त्री के रूप में समाज में अपने स्थान को और पारिवारिक जीवन में अपनी स्थिति को खुलकर व्यक्त करने में थेरियों को सफलता मिली है। नारी की ओर देखने का समाज का क्या तरीका था, क्या दृष्टिकोण था। इन सारी बातों की सारी जानकारी थेरीगाथाओं से हमें मिलती है। डॉ. विमल कीर्ति ने अपनी पुस्तक में व्यक्त किया है कि "जो नारी पुरुष समाज में किसी प्रकार की आधिकारिणी नहीं थी, उसको सभी प्रकार के अधिकारों की अधिकारिणी घोषित करना बहुत क्रान्तिकारी बात थी।" डॉ. अम्बेडकर की अंग्रेजी में लिखी पुस्तक The Buddha and his Dhamma का अनुवाद डॉ. भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने हिन्दी में

'भगवान् बुद्ध और उनका धम्म' नाम से किया। "स्त्रियों की धर्म शिक्षा के सन्दर्भ में डॉ. अम्बेडकर ने व्यक्त किया है कि महाप्रजापति गौतमी ही स्त्रियों की अगुआ थी जो संघ में प्रवेश करना चाहती थी। स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने की अनुमति देने से बुद्ध ने इन्कार किया था। लेकिन स्त्रियों ने सोचा कि तथागत के इन्कार से उनका अन्तिम निर्णय नहीं मानेंगी और किसी-न-किसी तरह तथागत को राजी करेंगी। बाद में आनन्द के साथ इसकी चर्चा हुई। आनन्द के पूछने पर तथागत ने कहा-मेरा मत है कि पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी निर्वाण प्राप्त कर सकती हैं। आनन्द मुझे गलत तौर पर मत समझो। मैं पुरुषों को स्त्रियों की अपेक्षा किसी भी तरह विशेष नहीं मानता। महाप्रजापति गौतमी की प्रार्थना को जो मैंने स्वीकार नहीं किया है, वह स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा हेय समझने का कारण नहीं, बल्कि व्यवहारिक कारणों से ही।" बाद में महाप्रजापति गौतमी के साथ 500 स्त्रियाँ भी भिक्षुणियाँ बन गयीं।

धर्मशिक्षा के मामले में बुद्ध ने कोई जाति-पाति का बन्धन नहीं समझा, और प्रकृति नामक चण्डालिका को भी उन्होंने दीक्षा दी। तथागत ने कहा-"हे प्रकृति! यद्यपि तू चाण्डाल कन्या है किन्तु तू श्रेष्ठ, पुरुषों और स्त्रियों के लिए आदर्श का काम देगी। ब्राह्मण भी तुझसे शिक्षा ग्रहण करेंगे। न्याय तथा धर्म के पक्ष से विचलित न होना। तेरी कीर्ति राजसिंहासन पर बैठी हुई रानियों की कीर्ति से बढ़ जायेगी।" बौद्ध धर्म में स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था इसके पतन के बाद वह नहीं रहा। परवर्ती युग में भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति बिगड़ गयी थी जिसके कई ऐतिहासिक और सामाजिक कारण हैं। तत्त्कालीन समाज में प्रकृति जैसी दलित नारी अपने अर्न्तमन की इच्छापूर्ति के लिए ज्ञान प्राप्ति के लिए कितनी उत्सुक रही है। तथागत के तर्क से लौकिकता की सारहीनता का तत्त्व समझने की क्षमता प्रकृति में थी। बुद्ध ने असल में अपने कार्य से नारी जीवन की प्रतिष्ठा बढ़ायी।

इस सम्पूर्ण विवेचन से यही ध्वनित होता है कि उपनिषद् काल तथा थेरीगाथा काल में नारी संन्यास परम्परा का पालन करने की अधिकारिणी थी। यह विधि सम्भव था। विविध दिक प्रकृति नारियों के निर्देशन उपलब्ध भी हैं जिन्होंने अपनी पाण्डित्य-परम्परा का सम्यक् निर्वहन भी किया, तथा आने वाले युग के लिए सुन्दर आदर्श छोड़ा। यह भी उल्लेखनीय है कि कमजोर वर्ग की नारी को भी आत्मलाभ के अवसर से वञ्चित नहीं रखा गया। इस प्रकार थेरीगाथाओं में भी भारतीय नारी के उज्जवल चरित की झाँकी मिलती है।

(ख) स्मृति युग-

वैदिक युग की नारी संत परम्परा समाज के लिए आदर्श थी। इस युग में अनेक प्रकार की ऋषिकाओं ने अपने त्यागमय जीवन से समाज का उत्थान किया। समाज के विभिन्न सम्प्रदायों में अनेक प्रकार की स्त्रियाँ संन्यास ग्रहण किया। स्मृति युग में सनातन धर्म परम्परा में अनेक साध्वियाँ तो थीं परन्तु दूसरे सम्प्रदायों में भी अनेक स्त्रियों ने संन्यास को अंगीकार किया। हिन्दू धर्म सभी सम्प्रदायों का श्रेष्ठ धर्म था। हिन्दू धर्म की वैज्ञानिक प्रकृया समाज पर अपनी छाप छोड़ रही थी। यह दूसरे धर्म के महागुरुओं के लिए बहुत बड़ी चुनौती थी। इसी आधार पर आज हम बौद्ध एवं जैन धर्म में अनेक साध्वियों का जीवन देखते हैं।

प्रारम्भिक बौद्ध परम्परा में नारी-

छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व का काल प्राचीन विश्व के इतिहास में एक व्यापक बौद्धिक और धार्मिक क्रान्ति का युग था। भारत में इसकी अभिव्यक्ति श्रमण-दर्शन में दिखाई देती है जिसके फलस्वरूप निवृत्तिपरक धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ और बौद्ध धर्म का उदय तथा जैन धर्म का उत्थान हुआ। इस युग को प्राय: भौतिक संस्कृति के विस्तार का युग माना जाता है और यह रेखांकित किया जाता है कि ग्रामीण और आरण्यक वैदिक सभ्यता छठी शताब्दी ई. पू. में नगरीकरण की ओर उन्मुख थी। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि समृद्ध भौतिक संस्कृति का सबसे लिए समान उपयोग सम्भव नहीं था। नारी सम्बन्धी विचार की दृष्टि से प्रारम्भिक बौद्ध परम्परा विशेषत: महात्मा बुद्ध के दृष्टिकोण का प्रश्न विवादास्पद रहा है। प्राय: यह माना जाता है कि भगवान् बुद्ध जैसा महान् व्यक्तित्व भी स्त्रियों को संघ में ससंकोच ही प्रवेश दे पाया। जैन भिक्षुणी-संघ के विपरीत बौद्ध भिक्षुणी-संघ की स्थाना भिक्षु-संघ के साथ नहीं हुई थी। अपितु बुद्ध के ज्ञान प्राप्ति एवं भिक्षु-संघ की स्थापना के पर्याप्त अन्तराल के बाद हुई थी। वैशाली के महावन कूटागारशाला में शंकित मन से बुद्ध द्वारा स्त्रियों को संघ में दीक्षित करने के निर्णय की कथा मनोरंजक है जिसके अनुसार भिक्षुणी-संघ की स्थापना में बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द का महत्त्वपूर्ण योगदान था, अन्यथा बुद्ध तो महाप्रजापति गौतमी को स्पष्ट रूप से मना कर चुके थे। विनय पिटक चुल्लवग्ग के विवरण से ज्ञात होता है कि महात्मा बुद्ध की क्षीरदायिका माता एवं मौसी महाप्रजापति गौतमी ने दो बार संघ में प्रवेश करने का प्रयत्न

किया था। प्रथम अवसर पर बुद्ध चारिका करते हुए कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार कर रहे थे जहाँ जाकर महाप्रजापति गौतमी ने उनसे स्त्रियों को गृहस्थ जीवन से वैराग्य लेकर बौद्ध धर्म में प्रव्रज्या लेने की अनुज्ञा माँगी जिसे उन्होंने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि इसमें उनकी रुचि नहीं होनी चाहिए। गौतमी इससे निराश नहीं हुई और वे प्रवृज्या प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयासरत रहीं। जब बुद्ध वैशाली के महावन कूटगारशाला में ठहरे हुए थे तब गौतमी कपिलवस्तु से वैशाली तक पैदल चलकर वहाँ पहुँची। वे सूजे हुए पैरों, धूल भरे शरीर एवं अश्रुमुखी हो द्वार-कोष्ठक के बाहर जा खड़ी हुई। इस बार का उनका आचरण भिक्षुणियों के जैसा था। उन्होंने अपने बालों को कटा कर काषाय वस्त्र धारण कर लिया था। कदाचित् वे अपने उक्त आचरण के द्वारा यह प्रमाणित करना चाहती थी कि परवर्ती जीवन में सुख-सुविधाओं का उपयोग करने वाली स्त्रियाँ भी उच्च उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कठोर जीवन व्यतीत कर सकती हैं। बौद्ध साहित्य में उपलब्ध विवरण यह संकेत करता है कि बुद्ध प्रथमत: स्त्रियों की संघ में दीक्षा के पक्ष में नहीं थे और उन्होंने उक्त कूटगारशाला में भी प्रजापति गौतमी एवं उनके साथ दीक्षा के पक्ष में नहीं थे एवं उनके साथ दीक्षा की इच्छुक स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने के आग्रह को अस्वीकार कर दिया था। इसी अवसर पर गौतमी की आनन्द से भेंट हुई। आनन्द नें स्वयं बुद्ध से स्त्रियों को संघ में प्रवेश देने की प्रार्थना की। आनन्द ने प्रश्न किया "भन्ते! क्या तथागत् प्रवेदित धर्म में स्त्रियाँ स्रोतापत्तिफल, सकृदागामिफल, अनागामिफल और अर्हत्वफल को साक्षात् कर सकती हैं? बुद्ध इस उत्तर पर कुछ **कर सकती है,** आनन्द ने कहा, यदि "भन्ते। तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में प्रव्रज्जित हो, स्त्रियाँ अर्हत्वफल को साक्षात् करने योग्य हैं, तो भन्ते, अभिभाविका, पोषिका, क्षीरदायिका हो, भगवान् की मौसी महाप्रजापति गौतमी बहुत उपकार करने वाली हैं। जननी के मरने पर (उसने) भगवान् को दूध पिलाया। भन्ते! अच्छा हो स्त्रियों को प्रव्रज्या मिले। आनन्द के तर्क से बुद्ध चुप हो गये तथा बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश की अनुमति उन्होंने दे दी। स्त्रियों के लिए प्रव्रज्या की अर्हता को स्वीकार करते हुए भी महाप्रजापति गौतमी और उनके साथ की शाक्य नारियों को बुद्ध ने आठ कठिन नियमों (अट्ठ गुरुधम्म या अष्ट गुरधर्म) के स्वीकार कर लेने पर ही उसे सम्पदा देकर बौद्ध-संघ में ग्रहण किया।

उल्लेख्य है कि बुद्धकालीन श्रमण-परिव्राजकों में स्त्रियों को प्रव्रज्या अविदित नहीं थी। जैन धर्म में भिक्षु-संघ एवं भिक्षुणी-संघ की स्थापना साथ-साथ की गयी थी। पार्श्व की परम्परा के भिक्षु एवं भिक्षुणियों

को विधिवत् रूप से पंचमहाव्रत ग्रहण करवा कर महावीर के संघ में सम्मिलित करने का उल्लेख है। सारनाथ में बुद्ध द्वारा धर्मचक्रप्रवर्तन एवं पंचवर्गीय भिक्षुओं की प्रव्रज्या के साथ बौद्ध-संघ की स्थापना हुई। तत्पश्चात् वाराणसी के सम्पन्न श्रेष्ठी-पुत्र यश ने प्रव्रज्या ली। बौद्ध संघ के विस्तार के साथ-साथ उपासिकाओं की संख्या में वृद्धि होना स्वाभाविक था। बौद्ध-संघ के प्रारम्भिक काल में ही प्राय: निश्चित पहचान वाले काशी के अनुयायियों में नौ भिक्षुओं, दो उपासकों और तीन उपासिकाओं का उल्लेख मिलता है। अंगुत्तर निकाय में अष्टशील उपासिकाओं की सूची में अनेक नाम मिलते हैं जैसे बोन्झा, पदुमा, सुतना, मनुजा, उत्तरा, सोणा, सोणामाता, विशाखा, निगारमाता, खजुत्तरा, मुत्ता, खेमा, रुचि, बिम्बा, तिस्सा, तिस्समाता, सुप्पवासा, कोलियधीता, सुप्रिया, नकुलमाता आदि।

महात्मा बुद्ध के पास महाप्रजापति गौतमी के साथ अनेक अन्य स्त्रियों का भिक्षुणी-संघ की स्थापना की याचना का दृढ़ निश्चय लेकर जाना यह प्रदर्शित करता है कि वे बौद्ध धर्म की प्रतिबद्ध उपासिकायें थीं जो प्रव्रज्या लेकर पूर्ण संन्यास में प्रवेश करना चाहती थीं। बौद्ध संघ में प्रवेश के लिये वर्ग और जाति का बन्धन प्रारम्भ से ही अविदित था। भिक्षुणी-संघ के निर्माण में महात्मा बुद्ध के सम्भावित संकोच तथा भिक्षुणियों के लिए अनुलंघनीय अष्ट गुरुधर्मों की व्यवस्था के आधार पर कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि नारी सम्बन्धी विचारों में बुद्ध परम्परा से पूर्णत: प्रभावित थे और स्त्रियों की स्वतन्त्रता के समर्थक नहीं थे। महाप्रजापति गौतमी तथा अन्य स्त्रियों को प्रव्रज्या देने के पूर्व बुद्ध द्वारा निम्नलिखित 8 नियमों (अष्ट गुरुधर्ण) के बन्धन का प्रतिपादन करने का उल्लेख मिलता है।

1. सौ वर्ष की उपसम्पन्न भिक्षुणी को सद्य: उपसम्पन्न भिक्षु का अभिवादन करना चाहिए, उसके सम्मान में खड़ा होना चाहिए तथा अञ्जलि जोड़ना चाहिए और समीचीकर्म (कुशलक्षेम) पूछना चाहिए।

2. अभिक्षु-कुल में भिक्षुणियों का वर्षावास नहीं होना चाहिए अर्थात् वर्षाकाल में भिक्षुरहित ग्राम या नगर में किसी भी भिक्षुणी को वर्षावास नहीं करना चाहिए।

3. हर पखवारे भिक्षुणी को भिक्षु-संघ से उपोसथ तथा धर्मोपदेश (उवाद) की तिथि पूछनी चाहिए।

4. वर्षावास के अनन्तर भिक्षुणी को दोनों संघों के समक्ष दृष्ट, श्रुत एवं परिशंकित दोषों की प्रवारणा करनी चाहिए।

5. गम्भीर दोष करने पर भिक्षुणी को दोनों संघो के समक्ष पक्ष-मानत (प्रायश्चित) करना चाहिए।

6. दो वर्ष से षड्धर्मों में शिक्षित भिक्षुणी को दोनों संघों से उपसम्पदा प्राप्त करनी चाहिए।

7. भिक्षुणी को आक्रोश-परिभाषण नहीं करना चाहिए।

8. भिक्षुणियों के लिए भिक्षुओं को कुछ कहने का मार्ग निरुद्ध है, भिक्षुओं के लिए निरुद्ध नहीं है।

महात्मा बुद्ध की स्त्रियों के निर्वाण-प्राप्ति की योग्यता की स्वीकारोक्ति और उनकी इस मान्यता कि कुछ स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक योग्य होती हैं। भिक्षुणी संघ की स्थापना के प्रारम्भिक चरण में प्राय: प्रत्येक कृत्य सम्पादन में भिक्षुओं का सहयोग अपरिहार्य रहा होगा। भिक्षुणी-संघ में विभिन्न नियमों और परम्पराओं के व्यवस्थित एवं पुष्ट होने तक ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इसका परिणाम यह हुआ कि संघ प्रवेश एवं कई अन्य नियमों के सन्दर्भ में भिक्षुणी-संघ भिक्षु-संघ पर औपचारिक रूप से आश्रित बना रहा। उदाहरणार्थ प्रारम्भ में यह नियम था कि भिक्षुणियों की उपसम्पदा भिक्षुओं द्वारा ही हो सकती है। उपसम्पदा देने के लिए अनुभव एवं वरिष्ठता आवश्यक थी और प्रारम्भ में ऐसी भिक्षुणियाँ उपलब्ध नहीं थीं अत: इस प्रकार की व्यवस्था स्वाभाविक थी। पीछे यह नियम बना कि 12 वर्ष तक भिक्षुणी का जीवन व्यतीत कर चुकी प्रवर्तिनी (उपाध्याया) इच्छुक शिक्षमाणा को उपसम्पदा दे सकती है। अष्ट गुरुधर्मों में प्रथम नियम के अनुसार स्थविर भिक्षुणी को भी नव प्रव्रजित भिक्षु का अभिवादन करना उसके सम्मान में खड़ा होना, अञ्जलि जोड़ना और कुशल-क्षेम पूछना आवश्यक बताया गया है। थेरीगाथा में भिक्षुणियों के साथ बुद्ध के वार्तालाप के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जिनमें बुद्ध के द्वारा उन्हें निर्वाण-प्राप्ति के लिए प्रेरित करने का विवरण है। मुत्ता और पुण्णा जैसी भिक्षुणियों ने बुद्ध के व्यक्तिगत प्रोत्साहन से ही निर्वाण प्राप्त किया था। महात्मा बुद्ध को बौद्ध धर्म की आयु घटने की आशंका जितनी स्त्रियों से थी, उतनी ही पुरुषों से भी थी। अंगुत्तर-निकाय के नीवरण वर्ग में पाँच भावी भय का उल्लेख करते हुए बुद्ध ने कहा था कि आगे चल कर ऐसे भिक्षु होंगे, जिन्होंने न शरीर संयम रखने का अभ्यास किया होगा, न सदाचार को पालन करने का, न चित्ताभ्यास किया होगा और प्रज्ञा का। ये अच्छे जेवर, अच्छे भोजन और अच्छे शयनासन की इच्छा करने वाले होंगे। भिक्षुओं के आचार-विचार की मर्यादाओं को भी कठोरतापूर्वक नियन्त्रित करने का प्राय: समानान्तर प्रयास देखा जा सकता है। वास्तव में बुद्ध न तो यह चाहते थे कि स्त्रियों को पुरुषों द्वारा हेय समझा जाए या उन्हें घृणा का पात्र समझा जाये न ही उनका

यह मन्तव्य था कि पुरुषों के सम्बन्ध में स्त्रियाँ इस प्रकार की किसी धारणा को प्रश्रय दें। उनका एक मात्र लक्ष्य था कि पुरुष हो या स्त्रियाँ, सभी निर्वाण-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर हो। यहाँ इस महत्त्पूर्ण तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि बौद्ध परम्परा में कुत्सित भावनों के प्रतीक मार की परिकल्पना पुरुष-रूप में की गयी है न कि स्त्री के रूप में। इसके विपरीत हिन्दू परम्परा में मार के समकक्ष माया को स्त्री के रूप में ही परिकल्पित किया गया है। इन तथ्यों के प्रकाश में महात्मा बुद्ध को नारी-द्वेषी या नारी-विरोधी मानना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। महावंस में थेरी संघमित्रा द्वारा निर्वाण-पद प्राप्त करने का विवरण मिलता है। इसी प्रकार संयुत्त-निकाय ने नन्दा तथा अशोका नामक भिक्षुणियों के निर्वाण-पद प्राप्त करने का उल्लेख हुआ है। महावंस से 18000 भिक्षुओं तथा 14000 भिक्षुणियों के अर्हत-पद प्राप्त करने की सूचना मिलती है। इस ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि पाटलिपुत्र की अशोक कालीन तीसरी बौद्ध सभा में 1000 आस्रवमुक्त भिक्षुणियाँ सम्मिलित हुई थीं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है वैदिकोत्तर काल, विशेषत: सूत्रों महाकाव्यों और स्मृतियों के युग (लगभग 800-500 ई.पू.) में नारी सम्बन्धी विचारों और उनकी स्थिति में ह्रास का जो क्रम उभरने लगा था उसको रोकने में बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान था। नारी के प्रति बुद्ध के दृष्टिकोण के क्रम न केवल स्त्रियों की उपेक्षा में कमी आई, वरन् उनकी दशा में महत्त्पूर्ण आपेक्षिक सुधार हुआ। इस दृष्टि से भिक्षुणी-संघ की स्थापना का उनका निर्णय साहसिक तो था ही सामयिक भी था। भिक्षुणी संघ की स्थापना से प्राय: सम्पूर्ण उत्तर भारत में तीव्र गति से प्रसारत बौद्ध धर्म को एक ओर जहाँ व्यापक आधार मिला वहीं दूसरी ओर बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय के बौद्ध आदर्शों को चरितार्थ करने का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। तत्कालीन समाज को विभिन्न रूपों में दिया गया भिक्षुणी-संघ का योगदान क्रान्तिकारी कहा जा सकता है।

(ग) आधुनिक युग-

संत कवियित्रियाँ एवं उनका कृतित्व-

मध्यकाल में साध्वियों ने तप के बल पर अपने को ऊपर उठाया। इस युग में श्रूतिमूलक ज्ञान का आश्रय-आधार स्वीकार किया और शास्त्र के विपरीत लोक की आकांक्षाओं-वेदनाओं को उन्हीं की भाषा

(जन भाषा) में, उन्हीं के बोध-स्तर पर उतर कर संवाद स्थापित किया। उनके समकक्ष बैठकर दु:ख-दर्द बाँटा। नारी संतों के भी न कोई गुरु हुए न परम्परा। केवल ज्ञान-संवेदन लोक की गोद में पले-बड़े इन सन्तों ने अपनी व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं में लोक और उसकी आत्मा को सहेजा और अपने-आप में लोक-समुदाय का विश्वास धारण कर विराट-व्यक्तित्व हो गये। इस प्रकार के विराट् व्यक्तित्व की श्रेणी में आने वाली संत नारी की विवेचना इस प्रकार है-

सन्त आंडाल-

सन्त कवयित्री आंडाल का मूल नाम गोदावरी है। अपने इष्ट भगवान् कृष्ण के साथ स्वप्न में विवाह करने वाली, उसे सत्य मानकर फूलों और स्व-रचित प्रेमपूर्ण माधुर्य रसयुक्त गीतों की मालाएँ पहनाने और फिर इष्ट द्वारा स्वीकार किये जाने वाली होने से अर्थात् इष्ट पर शासन करने से उसे 'आंडाल' नाम मिला। आंडाल का अर्थ होता है 'शासिका'। वह तमिल की नारी-सन्तों में विशिष्ट स्थान तो रखती हैं, तमिल के वैष्णव सन्तों में भी अत्यन्त सम्मानित सन्त हैं। आलवार भक्त कवयित्री आंडाल ने सन् 716 ई. में 'तिरुमोलि-श्रीव्रतम्' की रचना की थी। उनकी दूसरी रचना का नाम 'नाच्चियारु तिरुमोलि' है। मीरा को ध्यान में रखते हुए, उससे कई सौ साल पहले होने वाली इस अनन्य कृष्णभक्त सन्त को बखूबी पहचाना जा सकता है। वह आठवीं शताब्दी में सगुण कृष्ण को अपना पति मानकर तथा उसे अपना वशवर्ती बनाकर उनकी शासिका बन बैठी थी। सम्प्रदाय ग्रन्थों में विद्वानों ने आंडाल को भू देवी माना है। इस अनोखी सन्त के जन्म की घटना भी अनोखी है। श्रीविल्लिपुत्तूर गाँव के निवासी विष्णुभक्ति के अनन्य साधक पोरियलवार विष्णुचित्त नाम के साधक अपने उपवन में भगवान् को पूजा के लिए फूल चुन रहे थे। उन्हें तुलसी के पौधे के पास एक कन्या पड़ी हुई मिली। इसे वे अपने घर ले आये और बड़े स्नेह से उसका पालन-पोषण करने लगे। इस कन्या के मन में बचपन में ही भगवान् कृष्ण के प्रति प्रेम व्याप्त हो गया। वह कृष्ण को अपने से इतना अभिन्न मानती थी कि प्रतिदिन कृष्ण को पहनाई जाने वाली माला स्वयं पहन लेती और अपने में ही कृष्ण के सौन्दर्य एवं रूप को निहारकर मुग्ध होती। कहते हैं कि पिता ने एक दिन ऐसा करते देखकर भगवान् कृष्ण को दूसरी नयी माला अर्पित की, तब भगवान् ने स्वप्न में विष्णुचित्त से कहा कि गोदा की पहनी हुई माला उन्हें

अतीव प्रिय है। तब से पिता अपनी इस पालित पुत्री गोदा को अनुशासित करने वाली, अपने प्रेमपाश में बाँधने वाली शासिका-'आंडाल'-कहने लगे। आज भी मार्गशीर्ष महीने में अविवाहित कन्याएँ सूर्योदय से पूर्व नदियों में पुण्यस्नान करके मनोकामना की पूर्ति का व्रत रखती हैं, योग्य वर की प्राप्ति की मनौती मानती हैं। 'तिरुप्पावै-श्रीव्रतम' तमिल भाषियों का साहित्य-प्रेमियों का प्रिय ग्रन्थ है। इसमें तीस पद्य 'पावै व्रत' (कात्यायनी व्रत) से सम्बन्धित हैं, जिनमें उद्देश्य का विविध फल आदि का वर्णन है। दूसरा ग्रन्थ आंडाल का स्वप्न-द्रष्ट विवाह के वर्णन को लेकर है, जो विवाहादि शुभ अवसरों पर गाया जाता है। इसमें आंडाल के रचे 143 पद हैं। कहते हैं कि आंडाल के आग्रह पर ही पिता विष्णुचित्त ने उसका विवाह श्रीरंग में स्थित भगवान् श्रीरंगनाथ से करवाया तथा उसी शुभ अवसर पर प्रेमाविष्ट भाव में आंडाल श्रीरंग की ज्योति में विलीन हो गयी। आंडाल की रचनाओं में वेदवाणी एवं उपनिषदों के रहस्यमय तत्त्वों को देखकर बाद में विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक श्री रामानुजाचार्य आंडाल के गीतों में भाव-विभोर हो जाते थे। श्री वेदान्त देशिकाचार्य ने आंडाल को आधार बनाकर 'गोदा स्तुति' नामक ग्रन्थ लिखा। राजा श्रीकृष्णदेवराय ने भी आंडाल के जीवन एवं भक्ति को विषय बनाकर तेलुगु भाषा में 'आमुक्तमाल्यदा' महाकाव्य लिखा। आंडाल के एक पद का भावार्थ यहाँ दे देना उपयुक्त होगा, जिससे उसकी देशप्रेम की भावना, लोक-संग्रही चेतना, धार्मिकता एवं नैतिक आचरण को अनुकरणीय बनाती है। आंडाल का कथन है-"यदि हम त्रिविक्रम विष्णु के नाम पर कीर्तन करते हुए व्रतादि के लिए स्नानादि करके सद् आचरण करेंगी ते समस्त देश कष्ट रहित हो जायेगा। महीने में तीन बार वर्षा होगी। देश लहलहाते खेतों से सुन्दर बनेगा, सरोवरों में कमल के फूल सुशोभित होंगे, रंग-बिरंगी मछलियाँ होंगी तथा देश अक्षय धन-धान्य से परिपूर्ण होगा। गायों के नीचे दूध भरपूर होगा, ग्वाले दिन-रात दोहन में व्यस्त रहेंगे, उनकी गागरें दूध से लबालब भरी रहेंगी।"

किन्तु यहीं यह देखा जा सकता है कि अपने इष्ट के लिए मधुर-भक्ति में सराबोर आंडाल अपने आस-पास के जीवन और समाज से, उसकी पीड़ाओं से, हर्ष-विषाद से कटी हुई भी नहीं थीं। यह पक्ष उसके व्यक्तित्व को अन्य बाद में हुए कृष्ण भक्तों से विशिष्ट बना देता है। उस वाणी में जीवन को नित्य क्रियाओं-कार्यों-कर्मों के निर्वाहण के उपदेश भी मिलते हैं। वह देश- समाज के कष्टों को दूर करने के लिए भी इष्ट से प्रार्थना करती है। वह प्रार्थना करती है कि देश को धन-धान्य से तथा आठ प्रकार की सिद्धियों से परिपूर्ण

किया जाये। आंडाल का यह विश्वास कि देश को, लोगों की सुख-समृद्धि भी तभी मिल सकती है जबकि उनमें धर्म-भावना (सब के हित-चिन्ता की भावना) तथा नैतिक उच्च आचरण की चेतना विकसित हो। आंडाल की उक्त विचारणा की साक्षी उनके कई पदों में लक्षित की जा सकती है।

सन्त मुक्ताबाई-

महाराष्ट्र की सन्त परम्परा में 'नाम-चतुष्टय' के रूप में विख्यात निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव तथा मुक्ताबाई अपनी विशिष्ट उपस्थिति रखते हैं। महाराष्ट्र में बड़े आदर-सम्मान के साथ चारों को स्मरण किया जाता है। एक ही परिवार के चारों सदस्य, चारों ही उच्चकोटि के सन्त। इनके पिताश्री ने लगता है कि किसी दैवी अनुभूति या प्रेरणा से इनके आध्यात्मिक-प्रतीकात्मक नामकरण किये थे। संसारिकता से 'निवृत्ति' से लेकर 'ज्ञान' के 'सोपान' चढ़ते हुए 'मुक्त' होने तक की प्रतीकात्मक यात्रा! मुक्ताबाई अपने बचपन में ही आध्यात्मिक वातावरण में पली। चारों ओर आठों याम अध्यात्म। आत्म और परम-आत्म के संसर्ग में संस्कारित बालिका शीघ्र ही तलहटी से शिखरों की ओर प्रस्थान की उत्साहप्रद प्रेरणाओं के सहारे तीव्र डग भरती हुई। साथ ही तीनों भाईयों का अध्यात्म-अभियान! क्या कहने! विश्व के आध्यात्मिक इतिहास की अनूठी मिसाल ! मुक्ताबाई अध्यात्म अनुभूतियों एवं आत्मिक ऊर्जा से ओत-प्रोत अपने व्यक्तित्व को सार्थक करने की दिशा में अग्रसर! उसकी कविताएँ भी नारी मन की कोमलता, कल्पनाशीलता एवं अन्तरयामिता से रू-ब-रू करती हुई। मुक्ताबाई के अभंग मात्रा में भले ही कम हों-गिनती के पचपन, किन्तु उनमें अध्यात्म, भक्ति, नाम स्मरम एवं कीर्तन की उपलब्धियों से प्राप्त 'आनन्द' के भाव व्यक्त हुए हैं। मुक्ताबाई के गुरु सबसे बड़े भाई निवृत्तिनाथ थे। उन्हीं से उसने उपदेश व नाम प्राप्त किया था। तत्पश्चात् अपनी भावना कुछ इस प्रकार व्यक्त किया कि निवृत्ति जी ने मुझे शक्ति प्रदान कर दी है। मेरे चित्त को अब शान्ति मिल गयी है। मन उन्मन हो गया है। पूरे ब्रह्माण्ड में ब्रह्म चेतना ही व्याप्त है। उससे बाहर कुछ नहीं। सारा संसार मेरे लिए मधुर है। ऐसे अहोभावपूर्ण उद्‌गार मुक्ताबाई के हृदय की मुक्त दशा एवं आनन्दानुभूति का परिचय देते हैं।

मुक्ताबाई आयु में छोटी होते हुए भी कभी-कभी अग्रजा का भूमिका निभाती थी। एक बार की घटना है कि लोक-निन्दा को सहन न कर सकने के कारण ज्ञानेश्वर अत्यन्त क्रोधित होकर एक कमरे में चिटकनी

लगाकर स्वयं को भीतर बन्द कर बैठ गये। तब मुक्ताबाई आगे बढ़ी, अपने बड़े भाई ज्ञानेश्वर को सांसारिक-व्यावहारिक ज्ञान देने लगी, किन्तु अत्यन्त स्नेहपूर्ण, विनम्र वाणी में कि इस संसार में सन्त को विरक्त की भाँति ही रहना होता है, लोभ-अहंकार से रहित एवं दयाभावना तथा क्षमाभाव से युक्त होकर। दुनियावी लोगों की निन्दारूपी अग्नि को सन्त जलवत ठण्डा कर देते हैं। आप स्वयं भी तरो और दूसरों को भी तारो। यही सन्त का जीवन और कर्म है। मुक्ताबाई ने उलटबासियाँ भी लिखी। उनमें से एक तो अति प्रसिद्ध है, जिसमें उसने अपने उत्कट आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्त किया है-"चींटी ने आसमान में उड़कर सूर्य को निगल लिया। आश्चर्य देखो, बाँझ औरत ने पुत्र को जन्म दिया। बिच्छु पाताल लोक में गया और शेषनाग ने उसके चरणों पर अपना शीश झुका दिया। मक्खी ने चील को जन्म दिया। इन अद्‌भुत घटनाओं को देखकर मुक्ताबाई को हँसी आयी।" इस उलटबासी में मुक्ताबाई ने योग की रहस्यानुभूतियों को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है। नाथपंथी योगियों की वाणी में भी यही पद्धति अपनाई जाती थी। उलटबासी पद्धति से अलग मुक्ताबाई ने ग्राम गीतों की पद्धति भी अपनाई। उसके झूलने के गीत महाराष्ट्र में खूब प्रसिद्ध हैं। इनमें मुक्ताबाई ने ग्राम गीत में 'योगमार्ग' की प्रक्रिया, दशा एवं अनुभव का अनुभूत चित्र प्रस्तुत किया है। मुक्ताबाई में अपने आध्यात्मिक अनुभवों को मधुर एवं सरस वाणी में व्यक्त करने की क्षमताएँ भी थीं अपने शिष्य चांगदेव के लिए उपदेशात्मक अभंगों की रचना करना। इससे मुक्ताबाई के सन्त एवं मातृत्वपूर्ण चरित्र की झलक मिलती है। कहते हैं शक संवत 1219 वैशाख 12 के दिन जब मुक्ताबाई भौतिक देह से मुक्त हो रही थी, तब प्राकृतिक वातावरण भी बहुत विक्षुब्ध था। आकाश में भयंकर मेघ गर्जन, बिजली का प्रताड़ित आघात। जनमानस की विक्षुब्ध आहत मानसिकता को प्रतिबिम्बित कर रहा था।

<u>सन्त सोयराबाई-</u>

सन्त सोयराबाई वारकरी पंथ के विख्यात सन्त 'चोखामेला' की पत्नी हैं, किन्तु दोनों-पति-पत्नी की भक्ति, सेवा और वारकरी सम्प्रदाय के प्रचाक-प्रसार में योगदान को देखते हुए भी वारकरी-रूपक में कोई स्थान नहीं दिया गया। वारकरी रूपक को भक्ति मन्दिर के रूप में-एक भवन माना गया है, जो अपनी सटीक कल्पना के लिए अति विख्यात रहा है। पंथ में समय-समय पर विख्यात सन्तों के योगदान को इस प्रकार

उल्लेखित किया गया है- इस मन्दिर की नींव सन्त ज्ञानेश्वर हैं तो नामदेव इस मन्दिर का परिसर है। एकनाथ इसके स्तम्भ हैं तो तुकाराम इसका कलश है। बहिणाबाई इस मन्दिर के ऊपर फहराती हुई ध्वजा है। कुछ विद्वान् सोयराबाई को मन्दिर में होने वाली आरती, कीर्तन, पूजा से उठने वाले 'स्वर' के रूप में देखने की बात कहते हैं। चोखामेला-चोखोबा ने ही अपनी पत्नी को भी भक्ति के पथ की ओर प्रेरित-प्रोत्साहित किया। चोखोबा का परिवार 'मंगलवेढ़ा' गाँव में रहता था। इस पति-पत्नी के जन्मकाल का यों तो कोई सुनिश्चित पता नहीं चलता, हाँ चोखोबा की मृत्यु का समय शालिवाहन शक 1250, वैशाख वदी (वद्य) 5 माना जाता है। इस तथ्य का उल्लेख सोयराबाई के अभंगों में हुआ है। सोयराबाई सन्तान के लिए पांडुरंग (भगवान्) से सदा प्रार्थना करती रहती थी। कहा जाता है कि एक बार पांडुरंग एक ब्राह्मण का रूप धरकर उसके घर पधारे और भोजन करने की इच्छा व्यक्त की। सोयराबाई चिन्ता में पड़ गयी कि स्वयं दलित होते हुए वह ब्राह्मण को भोजन करवाकर उसका धर्म भ्रष्ट करने का पाप कैसे करे और लोग भी देखेंगे तो क्या सोचेंगे। फिर ब्राह्मण की भूख का विचार करके, वह दही-भात ले आयी और ब्राह्मण को खाने को दे दिये। ब्राह्मण भोजन पाकर प्रसन्न हुआ, किन्तु उसने देखा कि सोयराबाई उसकी बची जूठन को खाने में मग्न है। तब ब्राह्मण ने उसे पुत्रवती होने का आर्शीवाद दिया। चोखोबा जब घर आया तो यह भोजन की बात जानकर सोयराबाई पर क्रुद्ध हुआ कि तूने एक ब्राह्मण का धर्म भ्रष्ट कर दिया है। तब सोयराबाई ने एक अभंग में कहा कि आप व्यर्थ में ही छूत-अछूत की बात मत करें। हम केवल शरीर से ही वर्ण के विचार में बँधे हुए हैं। आत्मा तो इन सब बातों से परे और मुक्त रहती है। और धर्म तो केवल पूजा-पाठ की पद्धति मात्र है। वास्तविक धर्म तो छोटे-बड़े का भेद नहीं रखता। सोयराबाई ने इस प्रकार जाति-पाँति के विचार को नकार कर एक सजग आध्यात्मिक नारी का अपना परिचय दिया। एक अन्य चामत्कारिक घटना यह हुई कि प्रसूति के निकट पाकर चोखोबा अपनी बहन को कार्य सम्पन्न करने के लिए बहन निर्मलाबाई के घर चला गया किन्तु इधर अकेली सोयराबाई की टहल करने विट्ठल स्वयं निर्मलाबाई बनकर वहाँ सेवा करते रहे। समय पर पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम कर्ममेला रखा गया। नामकरण संस्कार के भी प्राय: एक माह पश्चात् जब चोखोबा बहन को लेकर घर पहुँचा तो उससे पूर्व ही विट्ठल वहाँ से जा चुके थे। सारी स्थिति जान कर चोखोबा विट्ठल की कृपा के आगे नतमस्तक हो गया। इसके पश्चात् गाँव के एक छोर पर कुछ हरिजन एक दीवार बना रहे थे कि दीवार

अचानक गिर पड़ी। उसके नीचे चोखोबा तथा अन्य कई लोग दबकर मर गये। कहते हैं कि स्वयं नामदेव के सन्त चोखोबा की समाधि बनायी। सोयराबाई ने अपने अभंगों में अपने दलित होने की पीड़ा का दर्शन भगवान् के प्रति किया है और शिकायत की है कि उसके पति को सन्तों की कृपा का प्रसाद मिला, किन्तु मुझे उसकी पत्नी होते भी वंचित रहना पड़ा है। सोयराबाई के अभंग 'सकल सन्तगाथा' में संकलित है। सांसारिक प्रपंचों के सम्बन्ध में सोयराबाई लिखती हैं कि कितना विचित्र लगता है कि लोग सुख में तो साथ आते हैं, किन्तु दुख में कोई सहायक नहीं होता। सारे पारिवारिक सम्बन्ध-पति, पत्नी, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन आदि मात्र सुख के रिश्ते हैं। सबसे बड़ा सत्य, जीवन का, यह है कि अन्तिम समय व्यक्ति अकेला ही रह जाता है। कोई साथ नहीं देता। इस प्रकार सांसारिक जीवन यथार्थ के कई चित्र सोयराबाई ने अपने अभंगों में उतारे हैं। अपनी भक्ति, निष्ठा, निर्भय कथन और सत्यता तथा जाति-पाँति के भेदभाव के विरुद्ध अपने विचार व्यक्त करके सोयराबाई ने जहाँ एक ओर अध्यात्म धर्म निभाया तो वहीं अपना सामाजिक दायित्व-निर्वाह भी किया। इस कारण सन्तों में उसे विशेष स्थान प्राप्त है।

सन्त लल्लेश्वरी-

कश्मीर की सुविख्यात सन्त लल्लेश्वरी (लल, ललद्यद, जन्म नाम पद्मावती) का नाम बड़े पूज्य भाव से हर कश्मीरी की जुबान पर अंकित है। उसका जन्म विवादों के बावजूद अधिकांश लोगों द्वारा मान्य है कि सन् 1335 ई. पांपोर (पामापुर) के निकट सिमपुरा गाँव में एक ब्राह्मण कुल में इसने जन्म लिया। 12 वर्ष की आयु में उसका विवाह सोन पण्डित से कर दिया गया। किन्तु लल्लेश्वरी का मन बचपन से ही सांसारिक में न होकर ईश्वर की ओर लगा था। विवाह के उपरान्त ससुराल का जीवन अत्यन्त कष्टों-क्लेशों से भरा रहा। सौतेली सास ने बड़े जुल्म ढाये। एक बार सिद्धमोल के साथ लल्लेश्वरी के घर पर एक विषय पर चर्चा हुई। जिसमें सोन पण्डित भी शामिल हुए कि सभी प्रकाशों में सर्वश्रेष्ठ प्रकाश कौन सा है? इसी भाँति सभी तीर्थों तथा सभी परिजनों एवं सभी वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ किसे माना जाय। सर्वप्रथम सोन पण्डित ने सूर्य प्रकाश को कथा गुरु सिद्धमोल ने नेत्र-प्रकाश को सर्वश्रेष्ठ बताया, किन्तु लल्लेश्वरी ने आत्म प्रकाश को सर्वश्रेष्ठ बताया, जिज्ञासा को सर्वश्रेष्ठ तीर्थ, ईश्वर को सर्वश्रेष्ठ परिजन तथा ईश-भय को सबसे सुखद वस्तु बताया। इसे

सुनकर पति एवं गुरु दोनों हतप्रभ रह गये। शेष प्रश्नों के उत्तर भी दोनों से अति श्रेष्ठ व अलग थे। इससे लल्लेश्वरी के चिन्तन-दर्शन की ऊँचाइयों का पता चलता है।

एक बार की घटना है कि सास द्वारा भड़काये गये सोन पण्डित लाठी लेकर पानी भरने के घाट पर ही जा पहुँचा कि लल्लेश्वरी जल भरने जाती है तो अनावश्यक बातों में समय अधिक लगाती हैं। सोन पण्डित उधर गया, देखा तो लल्लेश्वरी पानी का भरा घड़ा सिर पर रखे सामने से आ रही थी। गुस्से में भरे सोन पण्डित ने घड़े पर जोर से लाठी मारी। घड़ा तो फूट गया। मिट्टी का था। किन्तु कहते हैं, पानी ज्यों का त्यों लल्लेश्वरी के सिर पर टिका रहा। घर आकर उसने इस पानी से बर्तन आदि धोये और शेष बचा जल खिड़की से बाहर फेंक दिया। थोड़े ही दिनों बाद उस स्थान पर एक तालाब बन गया। वह तालाब बाद में 'ललत्राग' (लल का तालाब) नाम से जाना जाने लगा। सास द्वारा अन्य यातनाओं के अतिरिक्त भोजन भी भरपेट न दिये जाने, थाली में भात डालने से पहले एक पत्थर रखकर ऊपर भात डालकर बढ़ाकर दिखाने जैसे कार्य से तंग आकर लल्लेश्वरी बन-बन घूमने लगी। अब से यातनाएँ पाकर अन्तर्ज्ञान के रहस्यों नें ऐसी डूबी कि देह ढँकने की सुध-बुध गँवा बैठी। वह भावोन्मत्त हो नाचती-गाती। कुछ स्त्रियाँ जब कहतीं तुम नग्न होकर घूमती हो, तुम्हें पुरुषों से लाज नहीं आती। इस पर वह कहती "यहाँ कौन पुरुष है? मुझे तो कोई पुरुष यहाँ दिखाई नहीं देता।" आशय यह भी है कि यहाँ, इस समाज में पुरुषों जैसा लज्जावान और समझदार ईशभक्त मुझे कोई दिखाई नहीं देता और फिर एक दिन लल्लेश्वरी को एक सूफी फकीर मीर सैयद हमदानी सामने से आते हुए दिखाई दिये। वह चिल्लाती हुई दौड़ी कि पुरुष आ रहा है। पहले उसने पास ही एक बनिये से कपड़ा माँगा। बनिये द्वारा मना करने पर वह निकट ही नानबाई के जलते हुए तंदूर में कूद पड़ी। निकट आकर सन्त ने लोगों से बात सुनी और लल्लेश्वरी को पुकारा 'लल्ला बाहर आ जाओ।' तो कहते हैं उसी क्षण लल्लेश्वरी बाहर आ गयी। उसने दिव्य वस्त्र धारण किये हुए थे। लल्लेश्वरी भक्ति के ऊँचे सोपान पर पहुँच चुकी थी जिसे सिद्धावस्था कहा जाता है। सब प्रकार के भेद-भाव, सांसारिकता, मान-अपमान, राग-विराग से परे वह आनन्द-स्फुरणों में स्थित हो बिल्कुल निरपेक्ष को जीती थी। इस अनुभूति को उसने अपने एक वाख में इस प्रकार प्रकट किया है- 'इस असार संसार में व्याप्त विविध विभिन्नताओं विसंगतियों को देखती हुई, मेरा मन व्यथित हो उठा है।' एक अन्य वाख में कहती है-'चाहे कोई मेरी कितनी ही अपेक्षा करे, अपमानित करे, मैं

कभी उसका बुरा न मानूँगी। जब मेरे इष्ट मेरे शिव का मुझ पर स्नेह है ते लोगों के भला-बुरा कहने से क्या होता है।' एक मत है कि सन्त लल्लेश्वरी ने श्रीनगर से 28 मील दूर राजमार्ग पर स्थित बिज बिहाड़ा (बेजिब्रोर) गाँव में जुम्मा-मस्जिद की दीवार के पीछे अपने प्राण त्याग दिये। उसके शरीर से एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई और आकाश में विलीन हो गयी। लगभग साठ वर्ष इस धरा धाम पर व्यतीत करने वह ईश-इच्छा से आयी और कार्य-सम्पन्न कर वापिस लौट गयी। बाद में हुए शेख नूरुद्दीन वली ने कवयित्री के सम्बन्ध में अपने भावों को व्यक्त करते हुए कहा है कि उस पदमानपोर की लला ने दिव्यामृत छक कर पिया, वह हमारी अवतार थी-प्रभु ! वही वरदान मुझे भी देना।

सन्त मीरांबाई-

भारतीय सन्त-परम्परा में मीरां का नाम बड़े आदर भाव से लिया जाता है। महिला सन्त होने के कारण जहाँ सन्तों-भक्तों में वह अत्यधिक आदर और मान प्राप्त कर पायी, वहीं उसके समकालीन समाज में उसके व्यक्तित्व और चरित्र को लेकर उतना प्रभाव नहीं देखा जाता। इसका एक कारण तो उसका राजघराने से सम्बन्धित होना और राजघराने द्वारा उसके विरक्त-रूप का विरोध था तो दूसरा कारण तत्कालीन सामन्ती समाज-व्यवस्था एवं मूल्यों के कारण एक नारी का उन्मुक्त रूप से संगति में उठना-बैठना-घूमना पसन्द न किया जाना था। मीरां का जन्म संवत् 1555 (सन् 1498 ई.) में हुआ माना जाता है। कुड़की नामक ग्राम में जन्मी मीरां की माता का देहान्त हुआ जब वह केवल दो वर्ष की बालिका थी। मीरां के दादा राव दूदा मेड़ता के नरेश थे। उनके छोटे बेटे रतनसिंह की पुत्री थी मीरां। मीरां की माता के देहान्त के उपरान्त मीरां के दादा राव दूदा उसे मेड़ते में अपने पास ले आये और उसका पालन-पोषण इन्हीं के देख-रेख में होने लगा। उसके दादा राव दूदा बड़े धार्मिक स्वभाव के व्यक्ति थे। वह भगवान् चतुर्भुज के उपासक थे। उन्होंने चतुर्भुज भगवान् का भव्य मन्दिर भी बनवाया था। अत: स्वाभाविक ही परिवार का झुकाव धर्म-भावनाओं की ओर था। फिर उनके घर साधु-सन्तों का आना भी लगा रहता। कहते हैं, एक बार एक साधु उनके घर आया। उनके पास गोपाल कृष्ण की एक अति सुन्दर, आकर्षण मूर्ति देख मीरां उसे लेने के लिए मचल उठी। साधु सहज ही उस मूर्ति को देना नहीं चाहता था। इधर मीरां की हठ कि वह खाना-पीना ही छोड़ बैठी। साधु वहाँ से चला

तो गया किन्तु मीरां की बाल-हठ देख पुनः लौटकर आना पड़ा। उसने वह मूर्ति मीरां को दे दी। यही कृष्ण-प्रेम का बीज बाद में पल्लवित-पुष्पित हुआ और मीरां, मीरां कहलाई। मीरा का परिवेश राजघराने के मूल्यों-मर्यादाओं से बना-घिरा तो था ही, तत्कालीन राजनीति भी सामन्तवाद की पोषक थी। सामाजिक परिस्थिति के अन्तर्गत ही हिन्दुओं में जातिवाद, ऊँच-नीच की भावना भी गहरे में जमी थी। उच्च वर्ग विलासी, अन्यायी तथा क्रूर एवं अत्याचारी था। इस्लाम धर्म के प्रभाव ने हिन्दू धर्म-व्यवहार में बड़े परिवर्तन और तनाव उपस्थित कर दिये थे। इन सब के परिणामस्वरूप हिन्दू समाज में संकीर्णता ने उग्र रूप धारण कर समाज को जकड़ रखा था। ऐसी विरोधी घुटनभरी, संकीर्ण परिस्थितियों में मीरां ने अपने बालपन में ही जिस कृष्ण के साथ लौ लगा ली, उसने तो द्वापर युग में ही खुली सामाजिक स्थितियों में नारी-स्वातन्त्र्य की स्थापना कर दी। वह महलों से उतरकर गलियों-चौराहों पर आ गयी। राजदरबार से, जिन्हें दूरी पर रखा जाता, मीरां उन साधु-सन्तों के निकट आ गयी। उसने दूरी मिटा दी।

मीरां आत्मा-परमात्मा के मार्ग पर बढ़ चली, जहाँ सांसारिक जीवन-मूल्यों से ऊपर अस्तित्व का स्वाधीन अधिष्ठान है। और यह भी कह दिया-'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।' अतः वह निर्द्वन्द्व होकर 'मान-अपमान दोउ घर पटके निकसी ग्यान-गरी।' ज्ञान की गली में निकल पड़ी इस मीरां को सभी रोकते हैं, बरजते हैं कि इस मार्ग पर न जाओ। परिवार की, कुल की मर्यादा का कुछ ध्यान रखो, किन्तु मीरां कहाँ मानने वाली थी। मीरां की गति अपने मूल की ओर है, बीज की ओर है। भक्ति,निष्ठा, अभिव्यक्ति-सभी स्तरों पर मीरां ने अपने अस्तित्व को, मूल को अर्जित किया है। आत्मिक, परम-आत्मिक उत्स (कृष्ण) से जुड़कर जीवन को उत्सव बनाने में वह धन्य हुई। अस्तित्व की गति, लय, छन्द को उसने निर्बन्ध के मंच पर गाया है, जीया है। मीरां उफनती आवेगी बरसाती नदी की भाँति वर्जनाओं की चट्टानें तोड़ती, राह बनाती अपने गंतव्य की ओर बोरोक बढ़ती चली गयी। वर्जनाओं के टूटने की झंकार से मीरां की कविता उत्पन्न हुई। वह हर स्तर पर लगातार वर्जनाओं को क्रम-क्रम तोड़ती चली गयी।

राजपरिवार की, रनिवासे की, सामन्ती मूल्यों की, पुरुष-प्रधान समाज द्वारा थोपे नियमों की कितनी ही वर्जनाओं की शृंखलाएँ मीरां ने तोड़ फेंकी और मुक्त हो गयी। इतना ही नहीं, तत्कालीन धर्म-सम्प्रदाय की वर्जनाओं को **भी** अस्वीकार कर दिया। तभी मीरां, मीरां बनी।

सन्त बहिणाबाई-

सत्रहवीं सदी के मध्य में अपनी अपूर्व अध्यात्म-निष्ठा के कारण विख्यात महाराष्ट्र की सन्त कवयित्री बहिणाबाई सन्त तुकाराम की शिष्या है। सुविख्यात एवं विशिष्ट सन्त परम्परा वारकरी को एक रूपक देने, विशाल मन्दिर मानने वाली बहिणाबाई स्वयं उस भव्य भवन के ऊपर लहराती हुई ध्वजा हैं। उन्होंने मराठी और हिन्दी दोनों भाषाओं में वाणी की रचना की है। तीस वर्ष के अधेड़ व्यक्ति से इनका तीन वर्ष की अवस्था में विवाह हुआ। बहिणाबाई अपने पति के जुल्मों का शिकार बनी, लेकिन फिर भी उसने पति को त्यागा नहीं। सन्त तुकाराम जाति के शूद्र थे, उनकी शिष्या होने के जितने भी उलाहने, अत्याचार, अपमान आदि मिले उन्हें बहिणाबाई ने हँसते हुए स्वीकार किया। बहिणाबाई जाति की ब्राह्मण थी। उनका तुकाराम की शिष्या होना किसी को भी असहाय नहीं हुआ। बहिणाबाई का जन्म शक सं. 1551 में महाराष्ट्र के बैजपुर तालुका के देवगाव नामक गाँव में हुआ था। एक दिन हिरंभट नामकर व्यक्ति को स्वप्न में आदेश हुआ कि तम्हारे पास एक गाय और बछड़ा है, उसे बहिणाबाई के पति रत्नाकर के पति को दे दो। हिरंभट ने ऐसा ही किया उसने गाय और बछड़ा रत्नाकर को सौंप दिया। वह जहाँ भी जाती बछड़ा उसके साथ-साथ रहता। अगली बार बहिणाबाई बछड़े को लेकर मन्दिर में भजन-कीर्तन सुनने के लिए गयी। हरिकीर्तन समाप्त होने पर सभी लोग जयराम स्वामी जी के चरणों पर माथा टेककर एक-एक कर जाने लगे। पीछे-पीछे बछड़ा भी आया। उसने अपने अगले दोनों पैर झुकाकर स्वामीजी को नमस्कार किया। जयराम की आँखों से आँसू बहने लगे। उन्होंने ममता से बछड़े को सहलाया। बहिणाबाई ने कृष्ण भक्ति के सम्बन्ध में अनेक निबन्ध लिखे हैं। उसका कहना था कि भक्त को पतिव्रता स्त्री की तरह अपना हृदय पति रूपी परमेश्वर को अर्पित करना चाहिए। तुकोबा की कृपा से उनका जीवन सार्थक हुआ। बहिणाबाई का लड़का विट्ठल घर-गृहस्थी में रम गया था और एक अच्छे कीर्तनकार के रूप में प्रसिद्ध था। उसकी पत्नी का निधन बहिणाबाई के निर्वाण से 18 दिन पूर्व हुआ था। तभी बहिणाबाई का पत्र आया- तेरही से निवृत्त होते ही यहाँ तुरन्त चले आओ। मेरे जीवन का अन्तिम दिन आश्विन शुद्ध प्रतिपदा है। बहिणाबाई ने अपने पुत्र को सहलाया उसके बाद वह इस लोक से चली गयीं। सन्त बहिणाबाई की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने विस्तार से अपनी आत्मकथा जिज्ञासुओं के लिए प्रस्तुत की है। उन्होंने बड़े नि:संकोच भाव से अपने को वारकरी सम्प्रदाय के मन्दिर की ध्वजा माना है।

सन्त जनाबाई-

महाराष्ट्र की सन्त परम्परा में सन्त जनाबाई का अपना एक विशिष्ट स्थान है। जिस प्रकार फूल की सुगन्ध से उस स्थान की मिट्टी भी महक उठती है उसी प्रकार नामदेव के साथ रहकर जनाबाई की जन्मजात प्रतिभा का विकास हुआ। जनाबाई के अभंगों पर नामदेव और ज्ञानेश्वर की वाणी की छाप स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। इनके अभंगों में दोनों का माधुर्य तो है ही, साथ ही उसमें जनाबाई के अपने अन्तर की मिठास भी है। जनाबाई के सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है। एक बार जनाबाई पर भगवान् का पदक चुराने का आरोप लगा था। उसे सूली पर चढ़ाने के लिए सैनिक आये। जनाबाई ने विट्ठल को पुकार लगायी। देखते ही देखते सूली का रूपान्तर पानी में हो गया है।

एक दिन विट्ठल जनाबाई के केश सँवार रहे थे तो बालों में से काली जूँ के ढेर जमीन पर गिरने लगे। भगवान् एक-एक जूँ को मारते और वह जूँ दिव्य रूप धारण करके बैकुण्ठ की ओर चली जाती। जनाबाई की जन्म की तारीख, उसने विवाह किया था या नहीं आदि बातों की कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। लेकिन जनाबाई नामदेव जी के साथ अपना सम्बन्ध बहुत पुराना मानती हैं। जनाबाई के अनुसार, हिरण्यकश्यप के कुल में नामदेव प्रह्लाद थे और वे पद्मिनी नाम की उनकी दासी थीं। दूसरे जन्म में नामदेव रामभक्त अंगद थे और वे मंथरा थीं। द्वापर युग में नामदेव ने कृष्ण के सेवक उद्धव का अवतार लिया था, उस समय जनाबाई कुब्जा नाम की दासी थीं। कलियुग में नामदेव विट्ठल भक्त हो गये और जनाबाई उनकी दासी। जनाबाई ने अपने काव्य की रचना साधारण रूप से की है। इसलिए कविता में बाह्य सजावट या आलंकारिता दिखायी नहीं देती। जीवन के यथार्थ, जो उन्होंने भोगा था, उसे कविता के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें शीतलता, माधुर्य, प्रेम, थके हुए व्यक्ति को तृप्त करने का सामर्थ्य है।

जना जीवन भर माता-पिता के प्रेम के लिए तरसती रही। माता-पिता की तड़पन ने उसे जीवन भर दासी के रूप में रहकर विट्ठल को पुकारा। ज्ञानेश्वर जैसी विभूतियों की पूजा आदि अनेर भाव उसकी कविता में अभिव्यक्त हुए हैं। वह अपने मनोभावों को बड़ी सरलता से व्यक्त करती हैं। जनाबाई के हृदय में मातृत्व की भूख इतनी तीव्र थी कि वह स्वप्न में गोकुल के कान्हा के साथ खेलती है और जब नामदेव को पुत्र रत्न

की प्राप्ति होती है तो वह आनन्द-विभोर हो जाती है। जनाबाई ने अपना सम्पूर्ण जीवन दासी के रूप में बिताया। जनाबाई हर समय विट्ठल की छवि को निहारा करती थी।

सन्त सहजोबाई-

जो मुक्त होगा, वह सहज भी होगा। मुक्ति सहजता का पर्याय है। बड़े-बड़े सन्त, भक्त मुक्त है., इसीलिए सहज हैं। मनुष्य-सभ्यता के बड़े भाव एवं कलाएँ भी हमें मुक्त करके सहज बनाते हैं। वे अपनी मूल प्रकृति में स्त्रैण हैं। भक्ति, करूणा, दया हो या फिर कविता, संगीत, नृत्य। ये मुक्तिमुखी हैं, इसी कारण स्त्रैण भी हैं। हिन्दी और उर्दू में भी इसी अन्तर को गहरे में देखा जा सकता है। जैसे स्त्री-पुरुष अपने बाहरी रूप में भिन्न हैं, ऐसे ही हिन्दी और उर्दू भी।

हिन्दी मूलत: और बाह्यत: एक जैसी है। उभयपक्षी स्त्रैण है। हाँ, उर्दू शायरी जो बाह्यत: पुरुषता लिये होती है, अपनी गहरी-ऊँची शायरी के अन्तिम सोपानों पर, परिणति पर स्त्रैण ही होती है। जैसे नारी-पुरुष जन्म से पहले भी एक ही उत्स से जुड़े हुए अभिन्न होते हैं और मृत्यु के बाद भी एक ही विराट से जुड़कर पुन: अभिन्न हो जाते हैं । सूफी मत में, पुरुष सन्तों में, पुरुषभाव होता है। किन्तु इसी मत की नारी सन्तों में, पुरुष सन्तों में, पुरुषभाव होता है। हिन्दी की नारी सन्तों में सर्वाधिक ख्यात नाम मीरांबाई का है। वैसे दक्षिण में आंडाल, बहिणाबाई और कश्मीर में लल्लेश्वरी के नाम भी कम विख्यात नहीं।

ये सन्त कवयित्रियाँ अपने मूल से, प्रकृति-स्वभाव से ही स्त्रैण होकर भारतीय मूल की अध्यात्म-अनुभूति से, जिस प्रगाढ़ता से जुड़ी हैं, वह उन्हें मुक्ति की सहज अन्त:प्रकृति की हिलोर पर आरूढ़ कर देती है। कबीर, तुलसी, सूर को जो आयाम, भक्ति में, गहरे डूबकर प्राप्त हुए, वे नारी सन्तों को, जन्मत: ही उपलब्ध हो जाते हैं।

सहजोबाई के साथ कुछ अजीब घटना हुई। वह आरम्भिक शिक्षा पूरी कर चुकी थी। माता-पिता ने 11-12 वर्ष की आयु में ही सहजो का विवाह भार्गव कुल के एक सम्पन्न परिवार में निश्चित किया। विवाह के अवसर पर सजी-सँवरी बैठी सहजोबाई को आर्शीवाद देने के लिए उसके मामा के पुत्र एवं प्रसिद्धि पा चुके सन्त चरणादास आये और सहजो को देखकर कहा-

सहजो तनिक सुहाग पर, कहा गुदाएं शीस।

मरना है रहना नहीं, जाना बिस्वे बीस॥

सहजोबाई का जन्म दूसरा भार्गव कुल में संवत् 1782 वि. की श्रावण पंचमी, तदनुसार रविवार 15 जुलाई, सन् 1725 ई. को दिल्ली के परीक्षितपुरा नामक स्थान पर हुआ। इनका एक मात्र वाणी-ग्रन्थ 'सहजप्रकाश' उपलब्ध है। दयाबाई इनकी गुरु-बहन थीं। माघ शुक्ल 5 सं. 1862 वि. तदनुसार दिनांक 24 जनवरी, 1805 को सहजोबाई ने देह त्याग दी। सहजो कहती हैं-गुरु चरणदास इतने सामर्थ्यवान गुरू हैं कि उनके भीतर चारों प्रकार के गुरूओं का कौशल है। जैसा भी शिष्य मिल जाये उसे, उसी की योग्यता-सम्भावना से उत्तीर्ण कर देते हैं। किसी को खाली हाथ नहीं जाने देते।

सहजो स्वयं यदि गुरु के प्रति ऐसी सजग-तीखी नजर रखती है, तो परमात्मा के प्रति भी न स्वयं अन्धविश्वासी हो सकती है, न दूसरों को अन्धविश्वासी बना सकती हैं। ऐसी सजग-सचेत सन्त हैं सहजोबाई। सहजोबाई क्योंकि निर्गुणपंथी, निराकार की उपासिका है, भले ही वह राधा-कृष्ण के युगल रूप को आधार बनाकर चली है, तथापि वह अपने दर्शन को, निर्गुणिया सन्तों की भाँति 'सुन्न समाधि' पर टिकाती है।

सन्त दयाबाई-

सन्त चरणदास की शिष्या सहजोबाई की गुरुबहन दयाबाई जी की जन्म तिथि भी निश्चित रूप में नहीं प्राप्त होती। यह सहजोबाई की सम्बन्धी भी मानी गयी हैं। और उनसे आयु में कुछ छोटी भी। अतः अनुमान के अनुसार, संवत् 1785 वि. के आसपास इनका जन्म माना जाता है। यह भी अपने गुरु चरणदास तथा गुरुबहन की भाँति ढूसर भार्गव वंशीय हैं। उच्चकोटि की कविता करके इन्होंने भी बड़ी ख्याति अर्जित की। 'दयाबोध' नामक ग्रन्थ की रचयिता ब्रह्मचारिणी दयाबाई का जन्म डेहरा गाँव (मेवात-राजस्थान) में हुआ। इनकी 'दयाबोध' ग्रन्थ चैत्र सुदी 7, संवत् 1818 को समाप्त किया। दोहा और चौपाई छन्दों में गुरुमहिमा, सुमिरन, सूरातन, प्रेमभक्ति, बैराग, साधु, अजपा आदि अंगों की रचना की। उक्त सात अंगों में कुल 136 साखियों की रचना की। यह संख्या और उल्लेख दयाबाई के गुरु भाई जागेजीत ने अपने ग्रन्थ लीलासाप में किया है। दयाबाई, सहजोबाई से भी, गुरु के प्रति निष्ठा के कथन में, कुछ आगे बढ़ गयी हैं। गुरु के प्रति

एकनिष्ठ और परमात्म भाव से साधनारत रहने के साथ ही दयाबाई साधक को, संसारी लोगों के व्यंग्य कथन और कलंक सहने को भी तैयार रहने को कहती हैं। उसे युद्धक्षेत्र में जूझ रहे शूरवीर की भाँति नि:शंक और घायल होकर भी साधना क्षेत्र में अविचलित रहना चाहिए।

दयाबाई के दो ग्रन्थ मिलते हैं। एक 'दयाबोध' और दूसरा 'बिनय मालिका'। 'दयाबोध' में गुरुमहिमा का अंग, सुमिरन का अंग, सूर का अंग, वैराग का अंग, साध और अजपा का अंग संकलित हैं, तो बिनय-मालिका में परमात्मा से विनती के विविध उल्लेख हैं तथा भगवान् के विविध अवतारों-प्रकरणों के उल्लेख हैं, जैसे कच्छप अवतार, रावण को मारने वाले अवधेश, कंश का बध करने वाले कृष्ण, हिरण्यकश्यप को मारने वाले नरसिंह आदि। इनके साथ ही द्रोपदी, सुदामा की सहायता करने वाले कृष्ण की दयालुता के सन्दर्भ हैं। विनय मालिका में दयाबाई ने चार वेद, छ: उपनिषद, और अट्ठारह पुराणों के अपने अध्ययन-ज्ञान का वर्णन किया है। तथा अब उसका कहना है कि जो व्यक्ति इस विनयमाल को दूसरों को पढ़कर कह सुनाएगा तथा स्वयं भी तन-मन एवं धन से बड़े प्रेम-श्रद्धा सहित अपने जीवन में अपनाएगा, वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चार काम्य पदार्थों को सहज ही प्राप्त कर लेगा। ऐसा व्यक्ति सचमुच बड़ा भाग्यवान होगा।

सन्त करमाबाई-

करमाबाई वात्सल्य रस से पूर्ण हृदय वाली भक्त थीं। वह जगन्नाथपुरी में प्रतिदिन बिना किसी नियम के भगवान् को खिचड़ी का भोग लगाया करती थीं। भगवान् भी करमाबाई की भक्ति से इतने प्रसन्न थे कि बालक का रूप धारण करके प्रात:काल ही उसके घर जाकर खिचड़ी का भोजन कर आते थे।

जगन्नाथजी को एक से बढ़कर भोग लगाये जाते, लेकिन भगवान् को उन सबसे अधिक करमाबाई की खिचड़ी अच्छी लगती थी। करमाबाई प्रतिदिन बिना नहाये और बिना चौका लगाये भगवान् की खिचड़ी बनाती थी।

एक दिन एक सन्त करमाबाई के घर आये हुए थे। उन्होंने करमाबाई को देखा कि वह बिना नहाये और चौका लगाये बिना ही खिचड़ी भगवान् को भोग लगा रही है। उन्होंने करमाबाई को कहा-विना विधि भोजन बनाना और भोग लगाना अपराध है।

सन्त ने साम्प्रदायिक आचार का उपदेश दिया। यह सुनकर करमा डर गयी और सन्त के कथानुसार करने से बहुत समय लग गया। बाई ने भोग लगाया और इधर मन्दिर के पट खोले तो भगवान् के हाथों में और मुख पर खिचड़ी लगी हुई देखी। देर हो जाने से भगवान् बिना हाथ-मुख धोये ही जल्दी से चले आये। पंडो ने प्रार्थना की कि आप कहाँ जाकर खिचड़ी जीमते हैं। भगवान् ने कहा, एक करमाबाई है, वह प्रतिदिन मुझे खिचड़ी जिमाती है। उसकी प्रीति से मैं उसके यहाँ प्रतिदिन खिचड़ी खाने जाता हूँ, और खिचड़ी जीमकर आ जाता हूँ। किन्तु उसके यहाँ कल एक साधु गये थे उसने उसे आचार एवं नियमों के जाल में फँसा दिया। इससे आज खिचड़ी बनाने में देर हो गयी। वे साधु प्रेम की रीति नहीं जानते। मुझे आचार प्रिय न होकर प्रेम ही प्रिय है। तुम उस साधु को जाकर कहो कि वह करमाबाई को बोल आये कि जिस तरह से करमाबाई खिचड़ी बनाती है वैसे ही बनाये। इसके लिए किसी नियम, आचार की जरूरत नहीं है। वह साधु-पंडो को देखकर डर गया और शीघ्र ही करमाबाई को कह आया। तब वह पुन: उसी प्रकार प्रभु को जिमाने लगी। अब तक भी जगन्नाथपुरी में जगन्नाथ के सर्वप्रथम खिचड़ी को भोग लगता है। करमाबाई वात्सल्य भक्ति करने वाली नारी सन्त थीं।

सन्त श्रीमाँ-

श्रीमाँ के नाम से जगत प्रसिद्ध बालिका का जन्म फ्रांस में 21 फरवरी, सन् 1878 को हुआ था। इनके पिता प्रसिद्ध बैंकर श्री मरिस अलफासो ने पुत्री का नाम मीरा रखा था। यह अजब संजोग ही है कि भारत में मीरा नाम की सुविख्यात भक्तिकाल की मीरा के नाम पर बालिका का नाम रखा गया जो बाद में अध्यात्म क्षेत्र की श्रीमाँ बनीं। श्रीमाँ को यों अन्य नामों से-माताजी, मदर, डुसमैर भी पुकारा जाता रहा। मीरा बचपन से ही अन्तर्मुखी बालिका थी। उसे मौन चिन्तन की मुद्रा में देखकर उनकी माता प्राय: पूछ बैठती है कि बेटी तुम हर समय इतनी गम्भीर क्यों बनी रहती हो? तुम्हें क्या चिन्ता है? क्या दुनिया जहान की चिन्ताएँ तुम्हें ही घेरे हुए हैं? उत्तर में बालिका कहती-हाँ माँ, मुझे अपनी नहीं संसार की ही फिक्र है। मैं कई-कई बातें सोचती हुई गम्भीर हो जाती हूँ। मेरी चिन्ताएँ एवं सोच के विषय उस चार वर्ष की छोटी-सी उम्र में वृक्ष, पशु, पक्षी, आदि थे, जिन्हें वह बहुत चाहती थी। वह वृक्षों के नीचे बैठकर अनुभव करती कि इन वृक्षों से उसका आन्तरिक लगाव था, कोई सम्बन्ध है। युवा होने पर मीरा का विवाह फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान पल रिशा से कर दिया गया। तब मीरा का नाम मैडम क्यासा हो गया, परन्तु वह मीरा कहलाना पसन्द करती थीं। विवाह के

कुछ समय उपरान्त गुप्त विद्या प्राप्त करने के उद्देश्य से अलजीरिया के अतीन्द्रिय साधक मसियो तेंओ के पास आयीं। मसियो तेंओ ने मीरा की अलौकिक शक्ति तथा रुचि देखकर उन्हें अपनी शिष्या बना लिया। मीरां के पति पल रिशा फ्रांस सरकार के पांडिचेरी में गवर्नर नियुक्त होकर सन् 1910 में भारत आये। जब मीरा ने उन्हें एक योगचक्र देकर कहा कि भारत में जो कोई इसकी व्याख्या कर पायेगा, वही मेरा गुरु होगा। जब वह पांडिचेरी पहुँचे, तब श्रीअरविन्द बंगाल से निष्कासित होकर पांडिचेरी में ही आये हुए थे। जब दोनों की भेंट हुई तब पल रिशा की योगचक्र सम्बन्धी जिज्ञासा जानकर श्री अरविन्द ने उत्तर दिया कि यह सत्य, चित्त, आनन्द का प्रतीक है जो प्रकाश और प्रेम का सूचक है- चैतन्य प्रवाह का प्रतीक है। श्री अरविन्द ने भी पाया कि उनके सामने एक विराट शक्ति उपस्थित है। मानवी तन में ऐसा भगवत-समर्पित प्राणी आज तक उनकी दृष्टि में कोई नहीं आया। 24 नवम्बर, 1926 को आश्रम में 'सिद्धि-दिवस' के रूप में मनाया गया तथा उसके बाद श्री अरविन्द गहन- गम्भीरता साधना हेतु अन्तराल में चले गये। तब तो आश्रम का सारा प्रबन्ध श्रीमाँ के ऊपर आ गया, जिसे उन्होंने पूर्ण विश्वास, श्रद्धा और सफलतापूर्वक निभाना आरम्भ कर दिया।

5 दिसम्बर के दिन अरविन्द आश्रम के सभी द्वार खोल दिये ताकि श्री अरविन्द के सभी भक्त-अनुयायी उनके दर्शन प्राप्त कर लें। उन्हें अपना प्रणाम कर सकें। वह अपने गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर अभिनव साधना करती रहीं। और अन्ततः 15 फरवरी, 1956 के दिन श्री अरविन्द की इच्छित ज्योति को माँ पृथ्वी पर साकार कर पायीं। श्रीमाँ ने 'आरोविल' का स्वप्न बहुत पहले ही सन् 1912 ई., में देखा था कि क्या अच्छा हो धरती पर एक प्रकाश की नगरी हो, जहाँ कभी रात या अँधेरा न घिरे। 'आरोविल' का यही वास्तविक अर्थ है। यह प्रातः की नगरी, भोर की नगरी जब भी आप पांडिचेरी जाकर देख सकते हैं। श्रीमाँ की यह अति महत्त्वपूर्ण देन है। इसके स्थापना के लिए सन् 1966, 1968 तथा 1970 की अपनी बैठकों में युनेस्को ने सर्व सम्मति से प्रस्ताव पारित करके सहायता दी थी। सन् 1973, 21 मई के दिन श्रीमाँ अन्तराल में चली गयीं। बाहरी कामकाज ने स्वयं को बिलकुल पृथक कर लिया, 15 अगस्त, 1973 को सबको दर्शन दिये। 9 नवम्बर को फिर से समाधि में नहीं गयीं। 10 नवम्बर को अचानक अस्वस्थ हो गयीं। 17 नवम्बर के दिन 7 बजकर 25 मिनट पर उन्होंने अन्तिम श्वास लिया और परमब्रह्म में लीन हो गयीं।

(घ) उत्तर आधुनिक युग-

माँ अमृतानन्दमयी-

श्रीरामकृष्ण परमहंस ने जिस विश्वमातृत्व की परिकल्पना की है, उसका मूर्तिमान रूप हम समकालीन भारत में माता अमृतानन्दमयी में देखते हैं। सामाजिक जागरण के लिए कर्मरत महिला के रूप में उन्हें पुरुष वर्चस्ववाले समाज से काफी विरोध झेलना पड़ा। स्वयं वे जिस समुद्री तट के मछुआरे परिवारों के माहौल से आयीं, उसमें भी पुरुष वर्ग ने प्रारम्भ में उनका बड़ा विरोध किया था। लड़की होने से अपने घर में भी अनेक तकलीफें झेलनी पड़ी। आध्यात्मिकता को भौतिकता के साथ जोड़कर वह वात्सलयमयी माता पूरे विश्व को अपना प्रेम बाँटती हैं। इसलिए अम्मा के नाम से ही उन्हें सर्वत्र जाना जाता है। वे विश्वभर की जनता को अपने सन्तान के रूप में देखती हैं। अम्मा का विचार है कि स्त्री और पुरुष समान हैं और वे एक पक्षी के दो पंखों के समान है। अमृतानन्दमयी अम्मा भारत में स्त्री शक्ति को जगाने के पक्ष में है और इसके लिए कई कार्यक्रम कर रही हैं। विश्वभर में पुरुष और स्त्री के बीच विभेदीकरण किया जाता है। उनका कहना है कि कम से कम ईश्वर के सामने यह विभेदीकरण नहीं होना चाहिए। वे कहती हैं कि अगर तीसरा विश्वयुद्ध होगा तो वह गरीबी के खिलाफ होना चाहिए क्योंकि गरीबी ही आज दुनिया का सबसे बड़ा शत्रु है। उनके अनुसार सारा लूट-पाट उग्रवाद, स्त्रियों का शोषण और वेश्या प्रथा, गरीबी के कारण ही पनपते हैं। गरीबी शरीर को ही नहीं मन को भी दुर्बल बनाती है। इसलिए उनका विचार है कि अगर गरीबी मिटा सकें तो मानवराशि की अस्सी प्रतिशत से ज्यादा समस्याओं का समाधान भी संभव हो सकेगा। बीते हुए युग की छान-बीन करना कभी-कभी निरर्थक साबित होता है। गतकाल का राग अलापना भी निरर्थक लगता है। बदला लेने की भावना और ऊँच-नीच की घिसी पिटी धारणाएँ नये विश्व की प्रगति की राह खोजनी चाहिए। एक महान गुरु और समाज कार्यकरता के रूप अम्मा का योगदान समाज के मार्गदर्शकों, विशेषकर स्त्री स्वयंसेवकों को तैयार कर समाज को शिक्षित करने और बदलने का है। उन्होंने एक तिरस्कृत बालिका का बालपन बिताया। अपने जीवन के माध्यम से ही उन्होंने पद-दलितों के दुख दर्दों को जाना। तीन दशकों की छोटी अवधि में अम्मा ने विश्व भर में आध्यात्मिक पुनर्जागरण का सूत्रपात किया। हमारे पुराण ग्रन्थों में जगन्माता का जो वर्णन किया गया है, उसका अम्मा मूर्त रूप है।

ब्रह्मवादिनी स्वामी कृष्णकान्ता जी महाराज-

16 अक्तूबर, 1938 को पंजाब प्रान्त के लुधियाना जिले में स्वामी कृष्णकान्ता जी महाराज का जन्म हुआ था। इनके माता-पिता पक्के सनातन धर्म में विश्वास रखते थे। बचपन से इनका गीता और रामायण के प्रति झुकाव था। इनका शिक्षा का क्षेत्र में विशेष स्थान रहा है। परमाराध्य गुरुदव ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज की प्रेरणा से 3 मई, 1966 को हरिद्वार के पावन तट पर संन्यास ग्रहण किया। आपके द्वारा देश-विदेश में अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र स्थापित किये गये।

धर्म रक्षा, राष्ट्र रक्षा एवं गौ रक्षा आपके जीवन का महत्त्पूर्ण अभियान है। वर्तमान समय में आप अन्तर्राष्ट्रीय ब्रह्मर्षि मिशन की अध्यक्षा हैं। आप भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का प्रचार-प्रसार भारत के अनेक प्रान्तों में करती रहती है। आज आप नारी समाज को राष्ट्र के सचेत कर रही हैं। आप संत नारी परम्परा के जागृत उदाहरण है जिन्होंने प्रारम्भिक काल में संन्यास परम्परा में आने के पूर्व पुरुष संत समाज के अनेक विरोधाभास का सामना किया था। आज आप सनातन धर्म की वैज्ञानिक जीवन पद्धति सम्पूर्ण विश्व में प्रचार-प्रसार कर रही हैं।

स्वामी डॉ. मनीषा जी महाराज-

10 जनवरी, 1944 को पंजाब प्रान्त के लुधियाना जिले में स्वामी डॉ. मनीषा जी महाराज का जन्म हुआ था। इनके माता-पिता संत सेवा और सत्संग के बड़े प्रेमी थे। बचपन से इनका नारी जागरण के प्रति विशेष झुकाव था। आपका शिक्षा का क्षेत्र में विशेष स्थान रहा है। परमाराध्य गुरुदव ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज की प्रेरणा से जून, 1984 को बद्रीनाथ के पावन धाम में संन्यास ग्रहण किया। आप समय-समय पर विश्व के अनेक देशों में भ्रमण करती रहती हैं। आप अन्तर्राष्ट्रीय ब्रह्मर्षि मिशन की महामंत्री पद का कार्यभार देखते हुए श्रीरामकथा के माध्यम से समाज में अध्यात्म की प्रतिष्ठा कर रही हैं। आप भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के आधार पर जीवन जीने के लिए भारतीय युवा-पीढ़ी को समय-समय पर प्रेरित करती रहती हैं। धर्म रक्षा, राष्ट्र रक्षा एवं गौ रक्षा आपके जीवन का महत्त्पूर्ण अभियान है। आज आप नारी समाज को

राष्ट्र के प्रति सचेत कर रही हैं। वर्तमान समय में आप पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा सम्बद्ध ब्रह्मर्षि योग ट्रेनिंग कॉलेज की निर्देशक पद पर शोभायमान हो रही हैं।

साध्वी ऋतम्भरा दीदी माँ-

2 जनवरी, 1964 को पंजाब प्रान्त के लुधियाना जिले के मंडी दोराहा गाँव में साध्वी ऋतम्भरा जी का जन्म हुआ। इनका बचपन का नाम निशा था। इनके पिता का नाम प्यारे लाल और माता का नाम कलावती देवी था। इनके माता-पिता बड़े ही धार्मिक और भगवान् में आस्था रखने वाले थे। बचपन से इनका बच्चों के पालन-पोषण प्रति विशेष झुकाव था। इनका शिक्षा का क्षेत्र में विशेष स्थान रहा है।

परमाराध्य गुरुदेव युगपुरुष स्वामी परमानन्द जी महाराज की प्रेरणा से 1980 में संन्यास ग्रहण किया। आप समय-समय पर विश्व के अनेक देशों में भ्रमण करती रहती है। वर्तमान समय में आप वात्सल्य ग्राम, वृन्दावन की संचालिका के पद पर शोभायमान हैं। आप भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का प्रचार-प्रसार एवं धर्म रक्षा, राष्ट्र रक्षा एवं गौ रक्षा अभियान से संकल्पित हैं। आप वात्सल्य ग्राम के माध्यम से समाज में बेसहारा एवं अनाथ बच्चों का लालन-पालन कर रही हैं। आप साक्षात् ममता की मूर्ति हैं इसीलिए बच्चें आपको दीदी माँ के नाम से पुकारते हैं। आप समाज की सेवा करने को जो व्रत धारण किया है वह आपके गुरुदेव का आदेश है। वर्तमान समय में आप श्री वृन्दावनधाम में विराजमान हैं।

साध्वी उमा भारती जी महाराज-

3 मई, 1959 को मध्य प्रदेश प्रान्त के टिकमगढ़ नामक स्थान पर साध्वी उमाभारती जी का जन्म हुआ। इनके माता-पिता राजघराने से सम्बन्ध रखते थे। बचपन से इनका राजनैतिक क्षेत्र में विशेष झुकाव था। अल्प आयु में परिव्रज्या ग्रहण करके अपने जीवन को राष्ट्र की सेवा में लगा दिया। सन् 1984 में आपको लोकसभा के लिए चुना गया। यह राजनैतिक क्षेत्र में प्रथम उपलब्धि थी। सन् 1992 में बाबरी मस्जिद तोड़ने के कार्य में आपकी विशेष भूमिका थी। इस अवसर पर नारी समाज के शक्ति का विशेष परिचय देते हुए अपने धर्म की रक्षा के लिए प्रेरणा दी। इस कार्य के लिए आप सम्पूर्ण विश्व में विख्यात हो गयीं। धर्म के रक्षा से

ही राष्ट्र की रक्षा संभव है यह आपके जीवन का नारा है। आप भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का प्रचार-प्रसार एवं धर्म रक्षा, राष्ट्र रक्षा एवं गौ रक्षा अभियान से संकल्पित हैं। वर्तमान समय में आप गंगा सेवा अभियान के माध्यम से समाज को जागृति प्रदान कर रही हैं।

स्वामी डॉ. अमृता जी महाराज

14 अक्तूबर, 1974 को हरियाणा प्रान्त के जींद नामक स्थान पर आपका जन्म हुआ। आपका बचपन का नाम सोनिया शर्मा था। आप शिक्षा के क्षेत्र में बहुत तेज थीं। आपके जीवन में एक घटना हुई जिसके कारण आपके मन में सामाधि की स्थिति तक पहुँचने की जिज्ञासा पैदा हो गई। एक बार आप चण्डीगढ़ में परमाराध्य गुरुदेव ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज का प्रवचन सुन रही थीं तो गुरुदेव के द्वारा समाधि की अवस्था को प्राप्त करने का जो दिशा प्रदान की गई वो आपके अन्तरतम् को स्पर्श कर गयी। इसका यह परिणाम हुआ कि आप अपने परिवार का त्याग करके परम् ब्रह्म परमात्मा की खोज में परमाराध्य गुरुदेव के पास ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर, पिंजौर आ गईं। भगवान् की कृपा से आपके अन्दर वैराग्य की धारा प्रवाहित हुआ और 3 मार्च, 2003 को माँ भागीरथी के पावन तट पर (हरिद्वार) में परिव्रज्या ग्रहण की। आज आप संत नारी के लिए एक आदर्श रूप में विख्यात हैं। आपके निर्देशन में एजूकेशन कॉलेज, संस्कृत महाविद्यालय एवं छात्रावास चल रहे हैं। वर्तमान समय में आप अपने मधुर मीठे स्वर में भारत की जनता को श्रीमद्भागवत् कथा का पान करा रहीं है। आप भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के आधार पर जीवन जीने के लिए भारतीय युवा-पीढ़ी को समय-समय पर प्रेरित करती रहती हैं। धर्म रक्षा, राष्ट्र रक्षा एवं गौ रक्षा आपके जीवन का महत्त्पूर्ण अभियान है। आज आप नारी समाज को राष्ट्र की रक्षा के लिए आगे आने के लिए विशेष रूप से प्रेरणा दे रही हैं।

आधुनिक युग में समकालीन वृत्तियों ने सन्यास आश्रम को भी प्रभावित किया है। दूर-संचार क्रान्ति ने जिस परिवेश का निर्माण आज किया है वह सर्वत्र एवं सर्वतोभावेन अपना विधेयात्मक तथा निषेधात्मक प्रभाव छोड़ रहा है। यदि हम सन्यास आश्रम के पुरातन रूप को खोजने लगें तो आज दुर्लभ है। आज की साध्वी अत्याधुनिक सुख-संसाधनों से लैस है। वह व्यास भूमिका में अधिक मुखरित है। जिन वस्तुओं के परिग्रह का

निषेध था, उनका आज के आश्रमों में प्राचुर्य है। यह सत्य है कि उनका उपयोग परहित के लिए हो रहा है। जहाँ तक वैदुष्य और प्रति का प्रश्न है आज की साध्वियाँ अधिक प्रखर, पंण्डिता और प्रगलभ हैं।

सन्दर्भ-

1- ऋग्वेद- 5, 28।

2- वही, 1, 179, 1-2।

3- शत. ब्राह्मण- V, 1-6, 10।

4- महा. अनु.- 43, 19-20।

14. चुल्लवग्ग, पृ 373 (पालि त्रिपिटक के सन्दर्भ नालन्दा देवनागरी संस्करण से दिये गये हैं)।

15. वही पृ. 374 व आगे।

16. उत्तराध्ययन सूत्र, 23, 87, सूत्रकृतांग 2.7.71.80।

17. अंगुत्तर-निकाय, जिल्द-3 पृ. 428।

18. महावग्ग- पृ.23।

19. चुल्लवग्ग- पृ. 374-75।

20. संयुत्त-निकाय, जिल्द-1, पृ.174।

21. चुल्लवग्ग- पृ. 377।

22. दीघ-निकाय, जिल्द-2 पृ.109।

23. अंगुत्तर-निकाय, जिल्द-2 पृ. 87।

24. वही जिल्द-2, पृ. 218।

25. थेरीगाथा गाथा 231, तुलनीय गाथा 235, संयुत्त-निकायय जिल्द-1 पृ.104।

26. संयुत्त-निकायय जिल्द-1, पृ. 74।

27. महावंस (स मा एन. के भागवत, द्वितीय संस्करण बम्बई, 1959)।

28. महावंस 29.6।

29. वही 5.188।

30. थेरीगाथा गाथा-55।

31. अगंत्तर निकाय जिल्द-1 पृ.-25-26।

32. संयुत्त-निकाय, जिल्द-1, पृ 58, 230-31।

33. सुद्दक-निकाय, जिल्द-1, पृ. 308।

34. चुल्लवग्ग, पृ. 399-400,

35. भारतीय स्त्री- पृ. 77-11।

36. भारतीय संत परम्परा- पृ. 44-46, 55-57, 61-63, 69-72, 81-85, 96-99।

****

अध्याय- 4

वर्तमान युग के कतिपय मुख्य धर्म संघ-
साध्वियों की स्थिति, भूमिका,
रहन-सहन एवं उपासन
कर्त्तव्य एवं अधिकार

वर्तमान युग के कतिपय मुख्य धर्म संघों में साध्वियों के लिए आचार विधि -

वर्तमान युग में प्रमुख धर्म संघों में साध्वियों के लिए अनेक प्रकार की विचार, धाराएं एवं परम्पराएं विद्यमान हैं जिनके आधार पर उस सम्प्रदाय के साध्वियों की जीवन दर्शन निर्भर होता है। भारतीय दार्शनिक शिक्षा प्रणाली की आधार नारी के जीवन का विशेष प्राकट्य प्रस्तुत करता है। विभिन्न धर्म संघों में साध्वियों के लिए सिद्धान्ततः निम्न प्रकार की आचार विधि है जो इस प्रकार है-

शैव धर्म संस्था-

यद्यपि वैष्णव धर्म के समान भक्ति-प्रधान, शैव-धर्म की भी लोकप्रियता पौराणिक युग से विशेष रूप से बढ़ती है तथापि शैव-धर्म मूलतः अधिक प्राचीन है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि शैव-धर्म शिव की प्राचीनता के प्रमुख अंगों का विकास सिन्धु-घाटी सभ्यता के काल में ही हो चुका हो। सिन्धु घाटी की मुद्राओं में एक योगी को पशुओं के बीच आसन लगाये बैठा दिखाया गया है। मार्शल के अनुसार यह मूर्ति योगीराज और पशुपति के रूप में शिव का चित्रण है।

शैव धर्म का एक निश्चित सम्प्रदाय के रूप में उत्थान, जिसमें शिव को सर्वोच्च देवता माना जाता था और जिसका अपना एक विशिष्ट दर्शन था, ईसा के जन्म के पूर्व की शताब्दियों में हुआ। रामायण और महाभारत के समय तक शिव-रुद्र की उपासना लोकप्रिय हो चुकी थी और उनके नाम के साथ बहुत से आख्यान जुड़ चुके थे। रामायण में शिव के परिवार शिव-उमा-विवाह, मदन-दहन, कार्त्तिकेय-जन्म, गंगावतरण, सागर मंथन और शिव द्वारा विष-पान इत्यादि बहुत से आख्यानों का उल्लेख है। महाभारत में इन सभी का और विस्तार से वर्णन है। इतना ही नहीं, एक स्थान पर तो स्वयं कृष्ण को शिव की स्तुति करते हुए दिखाया गया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से शिव-पूजा का प्राचीनतम उल्लेख मेगस्थनीज ने किया है। यह विश्वास किया जाता है कि उसके द्वारा उल्लिखित डियोनाइसस शिव का ही यूनानी नाम है। पतंजलि ने शिव भागवत सम्प्रदाय का उल्लेख किया है और बताया है कि मौर्य राजा शिव और स्कन्द की मूर्तियाँ बनवा कर बेचते थे। अशोक का एक उत्तराधिकारी जालौक शैव था। कालान्तर में बहुत से विदेशियों ने भी शैव धर्म स्वीकार किया।

सम्प्रदाय और सिद्धान्त

शैव सम्प्रदायों और उनके सिद्धान्तों का ज्ञान, वायु, लिङ्ग, कूर्म और शिवपुराणों से तथा शैव आगमों से होता है। शैव आगमों का रचनात्मक साधारणत: सातवीं शताब्दी ई. के आस-पास माना जाता है। जहाँ तक कि उपलब्ध साक्ष्यों से संकेत मिलता है, शैवों का प्रचीनतम सम्प्रदाय पाशुपात था जिसका जन्म डॉ. भण्डारकर के मतानुसार ईसापूर्व की दूसरी शताब्दी में हुआ। महाभारत में पाशुपात का उल्लेख सांख्य, योग, पाञ्चरात्र और वेद के साथ हुआ। साथ ही यह भी कहा गंया है कि पाशुपात धर्म के प्रतिपादक स्वयं शिव थे। वास्तव में शैव धर्म के सभी सम्प्रदाओं का यह विश्वास रहा हैं कि उनके मत का सर्वप्रथम प्रतिपादन स्वयं शिव ने किया था। पाशुपात सम्प्रदाय में महेश्वर ने जीवों की मुक्ति के लिए पाँच बातों का निर्देश किया है।

1. परतन्त्रकार्य
2. स्वतन्त्रकार्य- यह दोनों गहन दार्शनिक सिद्धान्त हैं।
3. योग- जिसकी सहायता से जीव चित्त के माध्यम से ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है।
4. विधि- वह उपाय है जिनके द्वारा उपासक धर्म अथवा ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण विधियाँ जिसमें शरीर पर भस्म लगाना, भस्म में लेटना, मंत्रजप और प्रदक्षिणा इत्यादि सम्मिलित हैं।
5. दु:खान्त, दु:ख से मुक्ति पाने का नाम है। इसके दो प्रकार हैं- अनात्मक और सात्मक। अनात्मक दु:खान्त का अर्थ होता है दु:ख से पूर्णरूपेण मुक्ति पाना और सात्मक का अर्थ होता है अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाशुवत सम्प्रदाय के अनुयायी अलौकिक शक्तियों के अस्तित्व और उनको प्राप्त कर सकने की सम्भावना में विश्वास करते थे। शैवों की कापालिक शाखा में शमशान में साधना करने का विधान कर दिया गया। परन्तु वामाचारी शैव सम्प्रदाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी अस्तित्व में आये जिनके सिद्धान्त अधिक स्वस्थ थे।

शिव का मूर्तरूप-

शिव का पशुपति रूप और शिवलिङ्ग सिन्धु घाटी सभ्यता में ज्ञात थे। ऐतिहासिक काल में शिव का मूर्त रूप ईसापूर्व की प्रथम कुछ शताब्दियों में सिक्कों पर प्राप्त होता है। पतंजलि के अनुसार मौर्य राजे स्कन्द

की मूर्तियाँ बनवाकर बेचते थे। ऐसा सम्भव है कि मन्दिरों की लोकप्रियता बढ़ने पर पहले शिव की मानवरूप मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया गया। बाद में शिव का प्रतीक शिवलिङ्ग अधिक लोकप्रिय हुआ। शिवलिङ्ग प्रारम्भ में अपने मूल प्रतिरूप से मिलते-जुलते होते थे, कालान्तर में उन्हें परम्परागत रूप दे दिया गया जो आज भी शैव मन्दिरों में मिलता है।

वैष्णव धर्म संस्था-

वैष्णव सम्प्रदाय जैसा कि इसके नाम से ज्ञात होता है कि हिन्दू-धर्म का वह सम्प्रदाय है जिसके उपास्य देव विष्णु हैं। यद्यपि प्रमुख देवता के रूप में विष्णु की उपासना सर्वप्रथम पुराणों में मिलती है, तथापि वह एक बहुत ही प्राचीन देवता है। उनका ऋग्वेद में न केवल उल्लेख मिलता है परन्तु उनकी भावी महानता के भी पर्याप्त संकेत मिलते हैं। उत्तर-वैदिक काल में कम से कम जनता का एक अंश अवश्य ही उन्हें सर्वोच्च देवता मानकर पूजता था। परन्तु इस समय विष्णु का सम्बन्ध यज्ञ धर्म से अधिक था, भक्ति से कम। इसलिए यह कहना असम्भव है कि वैष्णव धर्म एक भक्ति सम्प्रदाय के रूप में वैदिक युग में ज्ञात था अथवा नहीं।

भक्ति का उदय और विकास-

एक धार्मिक सिद्धान्त के रूप में भक्ति का उदय कब हुआ इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। डॉ. भण्डारकर का मत है कि भक्ति का मूल उपनिषदों के उपासना सिद्धान्त में खोजा जा सकता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को पुत्र, धन और सम्पत्ति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है। यह विचार भक्ति सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। अन्तर केवल इतना है कि उपनिषद्ों में उपास्य वस्तु आत्मा है और भक्ति सम्प्रदायों में शिव और विष्णु इत्यादि देवता।

वैष्णव सम्प्रदाय का जन्म-

एक भक्ति सम्प्रदाय के रूप में वैष्णव धर्म का जन्म पाँचवी शती तक अवश्य हो चुका था क्योंकि पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी में वासुदेवक शब्द का अर्थ वह व्यक्ति जिसके उपास्यदेव वासुदेव हों वैष्णव

सम्प्रदाय ने किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव धर्म की उत्पत्ति उसी धार्मिक उथल-पुथल के कारण हुई जिसने बौद्ध और जैन मतों को जन्म दिया। परन्तु धार्मिक सुधार के रूप में इनका आधार रूढ़िगत सिद्धान्तों पर था। एक भक्ति सम्प्रदाय के रूप में वैष्णव धर्म बहुत सी अवस्थाओं से गुजरा है। अपने विकास की पहली अवस्था में यह भागवत या सात्वत धर्म कहलाया। इसके संस्थापक वसुदेव के पुत्र वासुदेव थे। उनका जन्म वृष्णि अथवा सात्वत जाति में हुआ था जो यदु अथवा यादव जाति का अंग थी। महाभारत और पुराणों में वासुदेव को कृष्ण कहा गया है। उनका प्राचीनतम उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में देवकी के पुत्र और घोर अंगिरस के शिष्य के रूप में हुआ है जिनसे उन्हें कर्म मार्ग की शिक्षा मिली थी। अत: वासुदेव कृष्ण का समय प्रारम्भिक उपनिषद् युग में रखा जा सकता है।

गीता की रचना होने के समय तक भागवत सम्प्रदाय की दूसरी अवस्था प्रारम्भ हो चुकी थी। वह थी वासुदेव-कृष्ण का वैदिक देवता विष्णु से तादात्म्य स्थापित किया जाना। इससे वासुदेव के अनुयायी वैदिक धर्म की सीमाओं में बने रह सकने में समर्थ हो गये। लगभग इसी समय वासुदेव-कृष्ण का तादात्म्य नारायण से भी स्थापित किया गया। नारायण का ब्राह्मण ग्रन्थों में पाञ्चरात्र-सत्र करने के सम्बन्ध में उल्लेख हुआ है। सम्भवत: इसीलिए उनके उपासक पाञ्चरात्रिक कहलाये और भागवत धर्म का एक नाम पाञ्चरात्र धर्म भी पड़ गया। शतपथ में नारायण को सर्वव्यापी कहा गया है और महाभारत में नर-नारायण के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ हैं। परन्तु नारायण कोई ऐतिहासिक चरित्र हैं अथवा नहीं यह कहना कठिन है।

वैष्णव धर्म का धार्मिक प्रसार-

अंगुत्तर निकाय में धार्मिक सम्प्रदायों की एक सूची है, परन्तु उसमें भागवत सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं है। अशोक के अभिलेख भी इस विषय पर मौन हैं। इसलिए बावजूद इस तथ्य के कि पाणिनी को इस सम्प्रदाय का ज्ञान था, यह स्पष्ट है कि उसके समय तक यह मथुरा प्रदेश में लोकप्रिय था। दूसरी शती ई. पू. के अन्त में उत्तर-पश्चिम के यूनानियों में इसकी लोकप्रियता काफी थी। बहुत से कुषाण राजाओं ने भी इसे स्वीकार किया। उनके कई शासकों ने वासुदेव नाम धारण किया।

गुप्तकाल और गुप्तोत्तरकाल में पुराणों की रचना हुई जिनका एक प्रमुख वर्ग भागवत धर्म से सम्बन्ध रखता है। भागवत-पुराण जिसमें कृष्ण भक्ति का प्रतिपादन है, प्रमुख हैं। प्राचीन काल में भी वह ज्ञात थी और कम से कम गीता की रचना के समय तक वह निश्चित सिद्धान्त का रूप धारण कर चुकी थी।

बौद्ध धर्म संस्था

भगवान् बुद्ध ने सम्भवत: अपने उपदेश अपने प्रदेश की भाषा, मागधी में दिए थे। उनके धर्म का साहित्य भी प्रारम्भ में पालि मागधी और अन्य प्रादेशिक भाषा में लिखा गया। यह धार्मिक साहित्य त्रिपिटक- तीन पिटारियों के नाम से जाना जाता है। आज कल केवल पाली में लिखा हुआ त्रिपिटक ही पूर्णरूप में मिलता है। दूसरी भाषाओं के संस्करण केवल अंशत: ही मिले हैं, अत: उनका महत्त्व अधिक नहीं है। इसका लंका और बरमा में अधिक प्रचार रहा है।

बौद्ध साहित्य का वर्गीकरण-

कुछ ग्रन्थों में बौद्ध धार्मिक साहित्य को विषय सामग्री और शैली की दृष्टि से इन 9 अंगों में विभाजित किया गया है-

1. सुत्त अथवा गद्य में उपदेश।
2. गेय अथवा गद्य और पद्य दोनों में उपदेश।
3. व्याकरण का अर्थ।
4. गाथा का श्लोक।
5. उदान या लघुकविता।
6. छतिवुत्तक अथवा बुद्ध ने ऐसा कहा वाक्यांश से प्रारम्भ होने वाले कुछ लघुकथन।
7. जातक या पूर्व जन्मों की कहानियाँ।
8. अब्भुतधम्म या अद्‌भुत कृत्य।

9. वेदल्ल या प्रश्नोत्तर रूप में शिक्षाएँ। लेकिन यह वर्गीकरण अधिक लोकप्रिय और मान्य नहीं हो सका। सर्वाधिक प्रसिद्ध वर्गीकरण त्रिपिटक या तीन पिटारियों के रूप में ही है। यह तीन पिटक हैं- विनय पिटक जिसमें भिक्षुओं के लिए नियम हैं, सुत्तपिटक जिसमें धर्म नीतिविषयक शिक्षाएँ हैं और अभिधम्म पिटक जिसमें दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

विनय पिटक- विनय पिटक को त्रिपिटक में प्रथम स्थान दिया गया है। इसके अन्तर्गत चार ग्रन्थ आते हैं- पातिमोक्ख: इसमें भिक्षुओं के लिए संयम और अनुशासन के 227 नियम दिये गये हैं। इनको भंग करने पर प्रायश्चित का विधान किया गया है।

सुत्तपिटक- सुत्तपिटक में बौद्ध के कुछ महानतम धर्म ग्रन्थ संगृहीत हैं। इसमें कुल मिलाकर पाँच का संग्रह या निकाय है- दीघ, मज्भिक्म, संयुक्त, अंगुत्तर और खुद्दक। इनमें प्रथम चार निकायों में बुद्ध के उपदेश हैं जिनके साथ छोटी भूमिकाओं में बताया गया है कि बुद्ध ने यह शिक्षा किस स्थान और परिस्थिति में दी थी। कुछ उपदेश वार्तालाप के रूप में भी हैं।

अभिधम्म पिटक- अभिधम्म पिटक में लगभग उन्हीं विषयों का विवेचन है जिनका सुत्त पिटक में अन्तर केवल इतना है कि अभिधम्म पिटक की रचना प्रश्नोत्तर रूप में और अधिक पाण्डित्यपूर्ण परन्तु शुष्क ढंग से हुई है। इसमें धम्म संगणि, विभंग, धातु कथा, पुग्गल पतंजलि, कथावात्य, यमक और पठान नाम की सात पुस्तकें है जो सत्तपकरुणा कहलाती हैं।

जैन धर्म संस्था-

इतिहास और रचनाकाल- जैन धर्म के मानने वाले अपने धार्मिक साहित्य को सिद्धान्त या आगम कहते हैं। जैन साहित्य में प्राप्त अनुश्रुतियों के अनुसार जैन धर्म के मूल सिद्धान्त जिन्हें स्वयं भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को सिखाया था 12 अंगों के रूप में थे। बारहवें रूप में 14 पूर्व नाम के ग्रन्थ थे। लेकिन कुछ समय पश्चात् यह ग्रन्थ लोगों में विस्तृत होने लगे। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में मगध में एक भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। इस कारण जैन धर्म के प्रमुख भद्रबाहु अपने बहुत से अनुयायियों के साथ दक्षिण चले गये। जैन

सम्प्रदाय भारत के विभिन्न सम्प्रदायों के बहुत अलग है। इस धर्म संस्था में समाज के लिए त्याग के बल पर विभिन्न परिवर्तन किये जा सकते हैं। साधना के प्रकृया अत्यन्त कठिन मानी जाती है।

जैन धर्म में साध्वियों के लिए अनेक प्रकार के त्याग पूर्ण साधनायें प्रचलित है जिसका पालन करना साध्वियों के जीवन का संकल्प होता है। नंगे पाव चलना, मुँह पर कपड़ा बांधकर रखना, पानी अपना स्वच्छता के साथ पीना और दिन के एक बार भोजन पाना और जैन तीर्थंकर के विचारों के समाज में फैलाना इनके जीवन का आदर्श होता है।

जैन धर्म संघ में धर्म की आचार संहिता का विशेष प्रभाव विश्व के अनेक धर्मों पर पड़ा। विश्व के अनेक धर्म जैन धर्म की साधना प्रकृया के विशेष रूप से अनुकरण किया और नारी के सम्मान और समादर अन्तर है। संन्यास दीक्षा ग्रहण कर, जीवन में मूल तत्त्व के प्रति जिज्ञासा पैदा करना और उसको प्राप्त करने के लिए जीवन पर्यन्त प्रयत्नशील रहना जैन धर्म ने दार्शनिक जीवन का आधार माना है।

साध्वियों की स्थिति, भूमिका, रहन-सहन एवं उपासना-

संसार के इतिहास में भारत की आध्यात्मिकता अपना एक विशेष महत्त्व रखती हैं। मिश्र, यूनान, रोम, बैबीलोन और अन्य देशों की सभ्यताएँ नष्ट-भ्रष्ट हो गयी हैं और उनका नामों निशान भी नहीं है, किन्तु शताब्दियों तक क्रूर विपरीत कालचक्र का सामना करती हुई भारतीय संस्कृति अब तक जीवित है। इसका कारण है इसकी आध्यात्मिकता और इसका त्याग।

आज के लोग तो कहते है कि अध्यात्म विज्ञान ने ही देशवासियों को अकर्मण्य बना दिया और देश को पतितावस्था के गर्त में डाल दिया। आध्यात्मिक चर्चा आज लोगों को नहीं रूचती। 'हमारी संस्कृति ऊँचे दर्जे की थी, हम जगद्गुरु थे। हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षि ऐसे थे उनकी कीर्तिगाथा और गौरव गाने से हमें क्या लाभ हो सकता है, जब तक हममें श्रेष्ठता, त्याग और आध्यात्मिकता न हो।' परंतु ऐसे लोगो को विद्वान् स्माइल्सके ये शब्द स्मृतिपट पर अङ्कित कर लेने चाहिये। अपने राष्ट्र-जीवन और दृष्टि को विशाल बनाने के लिये प्रभावशाली भूतकाल का गौरवपूर्ण होना परमावश्यक है। तभी

हम घोरतर, कठिन से कठिन अवस्था में निर्भय होकर सिर ऊँचा रख सकते है। पश्चिम के प्रसिद्ध विद्वान् क्रोज़र के भारतीय संस्कृति के विषय में उदात्त विचार हैं। यदि पृथ्वी भर में कोई ऐसा देश है जो सत्य का गौरव रखता हो तो वह मानव जाति का आदि स्थान प्रथम सुधार ओर सभ्यता का आदि स्थान नि:संशय भारत वर्ष ही है। लोईजेकोलाइट, सुप्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यकार एवं विद्वान, भारतीय संस्कृति के लिये हृदयोदगार प्रकट करते हुए कहते हैं। 'हे प्राचीन भारतभूमि! जगत की उत्पत्ति का आदिम स्थान, मनुष्य जाति की आद्य जननी! तेरी जय जयकार हो। पूज्य धात्रि! तेरी जय हो । हे धर्म की, प्रेम की, कविता की एवं विज्ञान की पितृ भूमि! हम तुझे प्रणाम करते है और चाहते है कि तेरा गौरवास्पद भूतकाल पश्चिम के भविष्य में उदय होकर पुनरावर्तन करे।

इस सभ्यता ओर संस्कृति के आध्यात्मिक संस्कार डालने वाले कौन हैं? वे है हमारी आर्यमाताएँ। भारतीय इतिहास के पर्यवेक्षण और गवेषणा से पता चलता है कि आर्य माताओं की दया से ही हममें थोड़ी बहुत ही आध्यात्मिकता शेष रह पायी है। भारत के महान पुरूषों को जन्म देने वाली आर्यमाताएँ ही है कि जिन्होनें अपने आध्यात्मिक विशुद्ध जीवन के अमिट संस्कार उनके हृदय और जीवन पर अङ्कित किये हैं अर्जुन, कर्ण, भीष्मपितामह, अभिमन्यु अथवा पृथ्वीराज, प्रताप, शिवाजी और गुरूगोविन्द सिंह का चरित्र माताओं ने ही गढ़ा। उनमें असाधारण वीरता थी, ये वीर रत्न माता के उदर से ही महान संस्कार प्राप्त करके उत्पन्न हुए थे। माताओं की पवित्र, उच्च और वीरत्व की भावना का उनके जीवन पर अप्रतिहत प्रभाव पड़ा है। गर्भावस्था में भगवान बुद्ध को शिक्षा देने वाली उनकी पवित्र अन्त: करणवाली माता थीं। दधीचि, वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि में जो आलौकिक योग बल था, उसका कारण उनकी माताएँ थी। ध्रुव, प्रह्लाद, नारद, रामदास और नरसिंह मेहता में जो अद्‌भुत भक्ति बल था, वह सब आर्यजननी की प्रबल इच्छा ओर आध्यात्मिक संस्कारों का प्रभाव था। समरांग में अप्रतिम शौर्य से वीर योद्धाओं की चकित कर देने वाले क्षत्रियों का चरित्र माताओं ने ही निर्मित किया। उनमें धीरता की भावना जाग्रत करने वाली वीरांगनाओं की उत्साहप्रद भावनाएँ ही कार्य करती थीं मदालसा देवी अपने पुत्रों को जब पालने में सुलाती थी उस समय कैसी आध्यात्मिक भावनाओं से पूर्ण

लोरियाँ उनको सुनाती थी! उनके गले में ऐसे मन्त्र का यन्त्र बाँध देती थी कि घोर विपत्ति के समय उस तावीज को खोलकर उसमें से अमूल्य उपदेश अपने हृदय-पटलपर अङ्कित कर मृत्यु से निर्भय हो जाते और अपना कर्त्तव्य दृढ़ता से पालन करते। स्वर्गीय कवि सम्राट रवीन्द्र नाथ जी ठाकुर ने अपने एक लेख में भारतीय नारी की विशेषता के विषय में कहा है कि 'पाश्चात्य देशों में भी अनेक पतिभक्ता, सुशीला और साध्वी स्त्रियाँ हो चुकी है। कला कौशल और भौतिक विद्या में भी वे अग्रसर हो रही हैं, किंतु भारतीय नारी में कुछ और ही विशेषता हैं।' जब याज्ञवल्क्य ऋषि संसार के जीवन से थक कर, संसार से विरक्त हो, अरण्य में जाने लगे तो उन्होंने अपनी पत्नी मैत्रेयी से विदा चाही। मैत्रेयी को वैभव, ऐश्वर्य, धन-दौलत देने लगे और मैत्रेयी से कहा कि तुम संसार में रहकर श्रीमान् जैसा सम्पन्न, शन्तिमय जीवन व्यतीत कर सकोगी। मैत्रेयी ने कहा- क्या मैं इस धन दौलत से अमर हो जाऊँगी? जिससे मुझे अमरता ही प्राप्त न हो, उस वस्तु को लेकर मैं क्या करूँगी? भोगों में शान्ति नहीं है। स्वर्गीय रवीन्द्र नाथ जी कहते हैं कि मैत्रेयी के इन शब्दों में कितना जीवन, माधुर्य और सत्य भरा हुआ है! क्या ऐसा उदाहरण अन्यत्र मिल सकता है?

मैत्रेयी ने फिर पूछा कि वह कौन सी वस्तु है, जिसकी प्राप्ति मनुष्य को स्वाधीन और स्वतन्त्र बना देती है। वह जीवन अमृत मुझे बताओ जिससे सच्चा सुख, सच्ची शान्ति और सच्चा आनन्द प्राप्त हो। इसके उत्तर में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा 'अरे, आत्मा को ही देखना, सुनना और उसी का साक्षात्कार करना चाहिये। मनुष्य जन्म का यही अन्तिम लक्ष्य है।' विदुषी गार्गी को भी याज्ञवल्क्य ने यह उपदेश दिया।

'हे गार्गी! जो इस अविनाशी तत्त्व को बिना जाने इस लोक से विदा हो जाता है, वह कृपण है कंजूस है। उसका जन्म निष्फल है और जो उस अमर-तत्त्व आत्मा को जान लेने के पश्चात् इस लोक से विदा होता है, वह ब्राह्मण है।'

आज भी हजारों आर्य महिलाओं ने पंजाब में अपने सतीत्व की रक्षा के लिये और आततायियों के हाथ न पड़ने के लिये अपने प्राणों को उत्सर्ग कर दिया, अपने शरीर के मोह को छोड़कर अपने

शरीर धधकती हुई अग्नि को समर्पित कर दिया। यहाँ तक कि अपने ही आदमियों से अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करवा दिये।

अध्यात्म विद्या के पवित्र ग्रन्थ उपनिषदों के मनन करने से, हर एक पद से गहरा, नया और उच्च विचार उत्पन्न होता है। भारत वर्ष का प्राचीन वायुमण्डल हमें घेरे हुए है और नयी रोशनी और नवीन विचार भी हमारे चारों ओर है। सारे संसार में किसी दूसरी विद्या का अभ्यास ऐसा उपयोगी और हृदय को शांन्ति देने वाला नहीं है, जैसा कि भारतीय अध्यात्म विद्या के उपनिषदों का साहित्य। इसने मेरे जीवन में परमानन्द और परम शान्ति दी है और यह मृत्यु के समय भी परम आनन्द और शान्ति देगा।'

'जो अपने आत्मा के आनन्द भाव में सदा प्रसन्न रहते है, जिनकी सब इन्द्रियों की वृत्तियाँ प्रशान्त रहती है, जो निरन्तर ब्रह्म में ही रमण करते हैं, ऐसे पुरूष केवल लँगोटी लगाये हुए हो तो भी महाभाग्यशाली है।' सच्चे आत्मज्ञान द्वारा ही शान्ति, आनन्द, स्वाधीनता और स्वतन्त्रता मिल सकती है। अन्य मार्ग से नहीं। नारी अभी तक नर के लिये पहेली थी, पर अब वह पश्चिम की कृपा से अपने लिये ही पहेली बनती जा रही है।

साध्वियों की उपासना-

वेद व्यापक रूप से हिन्दू धर्म के मूलस्रोत माने जाते है। **गौतम- धर्मसूत्र** के अनुसार 'वेद तथा वेदविदों की स्मृति और शील धर्म के मूल है।' अन्य धर्मसूत्र तथा स्मृतियाँ भी उक्त मत का समर्थन करती हैं। वेदों के अनुशीलन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

ऋग्वेद भारतीय आर्यो के धार्मिक साहित्य का प्राचीनतम आलेख हैं यद्यपि इसमें अंकित धार्मिक चित्र किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं है, तथापि कतिपय स्थलों पर महनीय देवताओं की स्तुति में पुरोहितों द्वारा प्रयुक्त वेदो धर्ममूलम्। तद्विदा- स्मृतिशीले। ऋचाओं में हमें लोक-धर्म की झलक मिल

जाती है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में स्त्री, सन्तति तथा गृहस्थ जीवन के लिए उपादेय सामग्री से सम्पन्न पुत्र तथा पौत्रों के साथ शतायु की तथा संततिघाती राक्षस के विनाश के लिए प्रार्थना की गई थी। इन तथा इनके समान अन्य महत्त्वपूर्ण अवसरों पर किये जाने वाले संस्कारों में अत्यधिक समानता है। इसके अतिरिक्त संस्कारों के सामाजिक स्वरूप से सम्बद्ध अनेक निर्देश भी ऋग्वेद में उपलब्ध है। उदाहरण के लिए उस समय अभ्रातृका कन्या के लिए पति प्राप्त करना कठिन था और उन्हें प्रायः पितृगृह में अविवाहित जीवन व्यतीत करना पड़ता था। विवाह के विभिन्न प्रकारों की ओर भी संकेत किया गया है। ऋग्वेद काल में आसुर विवाह (पत्नी का क्रय) प्रचलित था। **वसिष्ठ-धर्मसूत्र में मैत्रायणी संहिता** से एक वचन उद्धृत किया गया है, जिसमें पति द्वारा पत्नी के क्रय करने का उल्लेख है। गन्धर्व विवाह की चर्चा इन शब्दों में की गई है- 'वह सुन्दर वधू भद्रा होती है, जो भली-भाँति अलंकृत होकर अनेक पुरूषों के मध्य में स्वयं अपने मित्र (पति) का वरण करती है।' **ऋग्वेद** मे विद्यार्थी-जीवन की प्रशंसा की गई है।

सामवेद में, जिसके सारे मंत्र ऋग्वेद से लिये गये है, संस्कारों के इतिहास की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय साम्रगी उपलब्ध नहीं है। यह मुख्यतः अपने स्वर तथा लय के कारण लोकप्रिय है।

यजुर्वेद धार्मिक विधि-विधानों के विकास में उन्नत स्तर का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी रचना के समय विभिन्न पुरोहितों के कार्य निर्धारित हो चुके थे। इसमें वे सभी बातें निश्चित कर दी गई है, जिनका व्यवहार और उसके सहयोगी दीर्घ सत्रों के अनुष्ठान में किया करते थे।

अथर्ववेद के इस लौकिक स्वरूप पर विचार कर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह आर्य-धर्म का विवरण न होकर आर्येतर जनों के विश्वासों का प्रतिनिधित्व करता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ- वेदों के पश्चात अनुसंधान के स्त्रोतों की दृष्टि से **ब्राह्मण** ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये वैदिक कर्मकांड-विषयक धारावाही ग्रन्थ है। ब्राह्मणों में श्रौत यज्ञों के अनुष्ठान के नियमों और यज्ञीय क्रियाओं के अर्थ तथा प्रयोजन के अर्थवाद का निरूपण किया गया है।

आरण्यक और उपनिषद्-आरण्यक और उपनिषद मुख्यत: दार्शनिक विषयों से सम्बद्ध हैं और संस्कारों पर विशेष प्रकाश नहीं डालते। किन्तु वैदिक यज्ञ और संस्कार उस समय भी अत्यन्त लोकप्रिय थे, अत: इतस्तत: आरण्यकों और उपनिषदों में भी उनका वर्णन प्राप्त हो जाता है। संस्कारो की दृष्टि से **'तैत्तिरीय आरण्यक'** महत्त्वपूर्ण है। उससे विदित होता है कि विवाह समान्यत: परिपक्व आयु में होते थे, अत: अविवाहिता कन्या का गर्भिणी होना पाप समझा जाता था। ब्रह्मयज्ञ अथवा दैनिक स्वाध्याय की सराहना की गई है। 'परे' संज्ञक षष्ठ अध्याय में पितृमेघ या दाहक्रिया के लिए आवश्यक मन्त्र दिये गये है। उपनिषदों में उपनयन संस्कार से संबद्ध अनेक संदर्भ उपलब्ध होते है। प्रतीत होता है कि चार आश्रमों के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा उस समय तक हो चुकी थी। ब्रह्मविद्या के अध्ययन के लिए भी समाज में गुरू का महत्त्व मान्य हो चुका था और विद्यार्थी को इस प्रयोजन से गुरू के पास जाना पड़ता था। जहाँ तक विवाह का प्रश्न है अनेक पत्नियों से विवाह करना सम्भव था जैसा कि याज्ञवल्क्य और उनकी दो पत्नियों के वर्णन से स्पष्ट है।

कर्मकाण्ड-साहित्य- वैदिक यज्ञों और घरेलू विधि-विधानों का व्यवस्थित विवरण पहले-पहल श्रौत साहित्य में उपलब्ध होता है। श्रौत-सूत्रों में अग्निहोत्र के लिए अग्न्याधान, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग, अश्वमेघ, रजासूय तथा वाजपेय यज्ञों के सम्बन्ध में निर्देश दिये गये है। किन्तु श्रौत-सूत्रों में संस्कारों के सम्बन्ध में कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं होती, क्योंकि उनका अधिकांश वैदिक यज्ञों ने ही घेर लिया है। हाँ, गृहूसत्रों में सभी प्रकार के प्रचलनों, संस्कारों, क्रियाकाण्ड, प्रथाओं और यज्ञों के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश मिलते है, जिनका अनुष्ठान और पालन करना प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य था। वे वैदिक यज्ञों की नाम मात्र भी चर्चा न कर संस्कारों तथा अर्चना के नवीन प्रकारों का निरूपण करती है।

महाकाव्य- महाकाव्य भी संस्कारों के विषय में थोड़ी बहुत जानकारी देते है। ब्राह्मणों ने, जो कि साहित्य के संरक्षक थे, अपने धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिए महाकाव्यों का उपयोग किया, क्योंकि वे अब लोकप्रिय हो चल थे। अत: **महाभारत में** ऐसे अनेक धार्मिक और संस्कार-सम्बन्धी

तत्त्वों का समावेश हो गया जो हिन्दू-धर्म में नहीं थे तथा महाभारत हिन्दू-धर्म का प्रामाणिक ग्रन्थ बन गया। धर्मशास्त्र पर लिखे गये निबन्धों में 'भारते' अर्थात् 'महाभारत में' शब्द का प्रायः प्रयोग किया गया है; जिससे विदित होता है कि महाभारत तथा स्मृतियों के मध्य अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है।

पुराण- संस्कारों के अध्ययन की दृष्टि से पुराण महाकाव्यों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। धर्मशास्त्रीय साहित्य पर इनका उल्लेखनीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्राचीनतम धर्मशास्त्रों में उपलब्ध पुराणों के उद्धरण, पुराणों की तत्कालीन लोकप्रियता का साक्ष्य देते हैं। वे अनेक प्रकार से स्मृतियों से सम्बद्ध है। **आपस्तम्ब धर्मसूत्र 'भविष्यपुराण'** का विशेष रूप से उल्लेख करता है। श्राद्ध पर लिखते हुए कैलेण्ड ने मार्कण्डेय-पुराण और गौतम-स्मृति **विष्णुधर्मोत्तर-पुराण** और विष्णु-स्मृति, **चतुविशति-पुराण** और मानव श्रद्धा कल्प, कूर्म-पुराण और औशनस-स्मृति तथा ब्रह्मपुराण और कठीय विधि विधानों के बीच विद्यमान सम्बन्ध का निरूपण किया है। पुराण के धार्मिक विधि-विधानों, प्रथाओं, प्रचलनों, व्रतों तथा भोजों का निरूपण करते है ओर इस प्रकार संस्कारों के अनेक अंगो पर प्रकाश पड़ता है।

टीकाएँ- उपलब्ध गुह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों और स्मृतियों की टीकाएँ भी संस्कारों के विषय में परवर्ती और नीवन जानकारी देती है। **यद्यपि वे प्रचानी ग्रन्थों की व्याख्या करने का प्रस्ताव करती है।** किन्तु उनमें वे केवल प्राचीन वचनों को स्पष्ट ही नहीं करती, अपितु अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भी देती हैं वे अनेक अंशों में आकर ग्रन्थों की पूरक है तथा उनका परिसीमन करती है।

निबन्ध- मध्यकालीन निबन्धों ने संस्कारों को एक नवीन दिशा दी। **गृह्यसूत्र** और **धर्मसूत्र** विभिन्न वैदिक सम्प्रदायों से संबद्ध थे और स्मृतियाँ भी कुछ दूर तक उनसे सम्बन्धित थी, किन्तु निबन्ध किसी भी वैदिक सम्प्रदाय के प्रति आग्रह नहीं रखते। अपितु, वे प्रकृति और वर्णन की दृष्टि से विद्वत्तापूर्ण तथा व्यापक कृतियाँ है।

प्रथाएँ- आरम्भ से ही प्रथाएँ हिन्दू-धर्म का एक प्रमुख आधार मानी जाती रही है। **गौतम, बौधायन, आपस्तब** तथा **वसिष्ठ धर्मसूत्र** और **मनु** तथा **याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ** सभी प्रथाओं का प्रमाण

भी सूची में परिगणन करती हैं किन्तु हिन्दू-धर्म का कोई भी अङ्ग संस्कारों की अपेक्षा प्रथाओं पर अधिक आधारित नहीं है, जो लोकप्रिय विश्वासों तथा प्रचलनों से उत्पन्न हुए और राज्य के हस्तक्षेप के बिना स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए है।

गृह्यसूत्र प्रायः संस्कारों के अनुष्ठान में अनुष्ठाता के कुल प्रथाओं की चर्चा करते है। विवाह-संस्कार के नियमों का उल्लेख करते हुए **आश्वलायन-गृह्यसूत्र** में कहा गया है कि 'विविध के सम्बन्ध में उन सभी का पालन करना चाहिए। 'ब्राह्मणों' में कर्मकाण्डों की चर्चा कल्पनात्मक है और उनका विश्लेषण तथा व्याख्या अत्यन्त विलक्षण है। अतः हम उन्हें जैसे-के-तैसे रूप में नहीं ले सकते।

संस्कार का अर्थ और उनकी संख्या-

'संस्कार' शब्द का अर्थ- संस्कार शब्द का दूसरी भाषाओं में यथातथ्य अनुवाद करना असम्भव है। अंग्रेजी के 'सिरीमेनी' (Ceremony) और लैटिन के 'सिरीमोनिया' (Caerimonia) शब्दों में संस्कार शब्द का अर्थ व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। इसकी अपेक्षा 'सिरीमेनी' शब्द का प्रयोग संस्कृत 'कर्म' अथवा सामान्य रूप से धार्मिक क्रियाओं के लिए अधिक उपयुक्त है। संस्कार का अभिप्राय निरी बाह्य धार्मिक क्रियाओं, अनुशासित अनुष्ठान, अर्थ आडम्बर, कोरा कर्मकाण्ड, राज्य द्वारा निदिष्ट चलनों, औपचारिकताओं तथा अनुशासित व्यवहार से नहीं है, जैसे कि साधारतः समझा जाता है। और न उसका अभिप्राय उन विधि-विधानों तथा कर्मकाण्ड से ही है, जिनसे हम विधि का स्वरूप, धार्मिक कृत्य अथवा अनुष्ठान के लिए आवश्यक अथवा सामान्य क्रिया अथवा किसी चर्च के विशिष्ट चलनों के अर्थ लेते है। धार्मिक विधि-विधान अथवा कृत्य जो आन्तरिक तथा आत्मिक सौन्दर्य का बाह्य तथा दृश्य प्रतीक माना जाता है और जिसका व्यवहार प्राच्य, प्राक्-सूधार कालीन

पश्चात्य तथा रोमन कैथॉलिक चर्च बपतिस्मा, सम्पुष्टि (कन्फर्मेशन), यूखारिस्त, व्रत (पीनान्स), अभ्य-जन (एकस्ट्रीम अंक्शन), आदेश तथा विवाह के सात कृत्य के लिए करते थे।

श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥ *(रघुवंश 2.2)*

याज्ञवल्क्य का कथन है कि मनुष्य के पतन के तीन कारण है - 1. विहित कर्मो का न करना, 2. निन्दित कर्मो का करना, 3. असंयम। पतन के इन तीन कारणों का समाधान करना स्मृतियों का मुख्य कार्य है।

सांस्कृतिक जीवन का विकास करके लोक और परलोक दोनों को सिद्ध करना। नैतिक, धार्मिक, व्यावहारिक और सामाजिक जीवन को उन्नत करना। कणाद ने वैशेषिक दर्शन में धर्म का लक्षण दिया है। सांस्कृतिक जीवन के चार आधार-स्तम्भ माने जाते है - आचार, धर्म, नैतिकता और व्यवहार। आचार संहिता में सदाचार, संयम, अनुशासन, सत्य, अहिंसा, परोपकार, दान और उद्योग को प्रमुख स्थान दिया गया है। धर्म आत्मिक शुद्धि का आधार है। नैतिकता जीवन के विकास की शिक्षा देती है और व्यवहार लोक-जीवन के लिए अपनाने योग्य गुणों का समावेश बताता है। स्मृतियाँ इन चारों विषयों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करती है।

1. **आचाराध्याय :** इसमें आचार, सदाचार, संस्कार, नैतिक शिक्षा, वर्णाश्रम-धर्म आदि का मुख्य रूप से वर्णन है।

2. **व्यवहाराध्याय :** इसमें राजनीति, राज्य-शासन-विधि, राजा-प्रजा के कर्तव्य, दण्ड-व्यवस्था, विवाद-पदों का निर्णय, दायभाग, साक्षी-प्रकरण आदि का समावेश है।

स्मृतियों से ही प्राचीन भारतीय संस्कृति का विशद ज्ञान होता है। किस प्रकार भारत विश्व में पथप्रदशक और प्रेरणा-स्त्रोत रहा है और किस प्रकार भारतीय संस्कृति ने विश्व को प्रभावित किया, इसका स्वरूप स्मृतियों से ज्ञात होता है। स्मृतियों से ही प्राचीन भारत की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्थिति का पूर्ण ज्ञान होता है।

स्मृतियों की संख्या और रचना-काल -

(क) स्मृतियों की संख्या- स्मृतियों की संख्या काल क्रम से बढ़ती है। सर्व प्रथम याज्ञवल्क्य ने बीस स्मृतिकारों और स्मृतियों का उल्लेख किया है। उनके नाम है- मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, औशनस, आंगिरस, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वसिष्ठ।

पराशर ने स्वयं को छोड़कर स्मृतियों के नाम गिनाएँ है। इनमें याज्ञवल्क्य की सूची से कुछ अन्तर है। पराशर ने बृहस्पति, यम और व्यास को छोड़कर उसके स्थान पर गाग्य, काश्यप और प्राचेतस के नाम संमिलित किए है। पराशर को लेकर ये स्मृतियाँ बीस होती है।

स्मृतियों का काल-निर्धारण सरल नहीं है। कुछ स्मृतियाँ अत्यन्त प्राचीन है और कुछ अर्वाचीन। इनमें से कुछ पूर्णतया गद्य में है, कुछ गद्य-पद्य मिश्रित और कुछ पद्य में है। इनमें अधिकांश पद्य में हैं। अत्यन्त प्राचीन स्मृतियों में गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन एवें मुन स्मृति है। इनका समय ईसा से कई शताब्दी पूर्व है। कुछ स्मृतियों का प्रणयन ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ। इनमें याज्ञवल्क्य, पराशर एवं नारद प्रमुख है। स्मृतियों में नारी की विशेषगाथा एवं धार्मिक प्रतिष्ठा का प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है। नारी के बड़े ही उत्साह वर्धक कार्य समाज को नई चेतना प्रदान करती है। समय-समय पर नारी की धार्मिक यात्रा समाज के उत्थान में विशेष रूप से सहायक मानी जाती रही है।

भारतीय वाङ्मय में नारी को शक्तिरूपा देवी कहा गया है। सभी देवताओं ने देवी की पूजा की है- आद्यशक्ति के रूप में। स्वयं शंकर ने नारी की महिमा की वृद्धि के लिए अर्द्धनारीश्वर रूप ग्रहण किया था। सती-महिमा से हमारे धार्मिक ग्रंथ समृद्ध हैं।

पुरुष साधकों के साथ-साथ साधना के क्षेत्र में महिलाओं का योगदान कम नही है। प्रस्तुत संग्रह की सभी साधिकाएँ अपने-आप में अद्‌भुत हैं। चाहे वह माँ शारदा हों या गोपाल की माँ, सिद्धिमाता हों या गौरी माँ। प्रत्येक की साधना अलग-अलग ढंग की है।

माँ शारदा परमहंस रामकृष्ण की पत्नी थी। अपने गुरू तोतापुरी के निर्देशानुसार दोनों पति-पत्नी नौ माह एक साथ शयन करते हुए भी उनके मन में काम-भावना उत्पन्न नहीं हुई। स्वयं परमहंसजी ने अपने इष्ट काली माता से निवेदन किया था कि माँ उनकी काम भावना नष्ट कर दें। उन्होनें माता शारदा की चरण-पूजा अपने इष्ट देवता के रूप में की।

माँ शारदा की माँ ने एक बार परमहंस से कहा था कि मेरी बेटी को संतान नहीं हो रही है। इसपर परमहंस जी ने कहा कि माँ उसे इतनी संताने होंगी कि वह 'माँ-माँ' सुनते पागल हो जाएगी। आगे चलकर रामकृष्णजी के सभी शिष्य ने माँ शारदा को 'माँ' के रूप में सम्बोधित किया।

गौरी माँ की भतीजी दुर्गा माँ का जीवन कम अद्‌भुत नहीं रहा। सम्पूर्ण भारत में एक यही महिला थीं जिनका विवाह पुरी के जगन्नाथ-विग्रह से हुआ था। वे आजीवन भगवान जगन्नाथ को अपना पति मानती रहीं।

गोपाल की माँ बचपन में ही विधवा हो गयी थी, अपनी निष्ठा और लगन से परमहंसजी को गोपाल (कृष्ण का बालरूप) के रूप में प्राप्त किया था। उनके दिमाग में कभी ये विचार ही नहीं उत्पन्न हुआ कि यह बालक कब और कहाँ से आ गया। वह आजीवन उसकी सेवा करती रहीं।

सिद्धिमाता को घर बैठे सारी सिद्धि प्राप्त हो गयी-केवल नाम जपने से। उपासना या साधना करने की आवश्यकता नहीं हुई। दिन-रात अपने भाव में खोयी रहती थीं। घर से गंगा-स्नान करने जाती और फिर अपने कमरे में आकर नाम जपती। प्रत्यक्ष रूप में अनेक देवी-देवताओं का दर्शन करती रहीं। उनके शरीर में ही मंत्र अपने-आप उत्कीर्ण हो जाते थे जिसे पढ़कर लोग शिष्य बन जाते।

आनन्दमयी माँ एक महान संत थीं। शिक्षित न होते हुए भी वे धर्म, दर्शन, वेदान्त के गूढ़ प्रश्नों का इस प्रकार उत्तर देती थीं कि बड़े-बड़े विद्वान् चकित रह जाते थे। सिद्धिमाता की भाँति आपके भी भाव स्वत: प्रस्फुटित हुए थे। यहाँ तक कि आपके पति भोलानाथजी ने आपका शिष्यत्व स्वीकार कर माँ कहा था। शोभा माँ को रामदास काठिया बाबा के शिष्य सन्तदास बाबाजी से नाम प्राप्त हुआ और बचपन से माता आन्नदमयी की भाँति जिज्ञासुओं के प्रश्नों का उत्तर देती रहीं। सिद्धिमाता की भाँति आपने अनेक देव-देवियों के दर्शन किये हैं।

श्री माँ शारदामणि-

श्री माँ शारदामणि का जन्म 22 दिसम्बर, सन् 1853 ई., शुक्रवार के दिन रामचन्द्र मुखोपाध्याय के घर साक्षात् जगद्धात्री देवी के रूप में हुआ। लोगों को ज्ञात हुआ कि आज गाँव में एक नये शिशु ने जन्म लिया है। नामकरण के दिन इस शिशु का नाम रखा गया-शारदामणि।

रामचन्द्र की आय सामान्य थी। कई बीघे में खेती करते और शेष समय में पौरोहित्य। इसी आय से किसी प्रकार जीवन यापन करते रहे। जीवन की आवश्यकताएँ कम थीं, इसलिए परिवार में सन्तोष था। धीरे-धीरे शारदा बड़ी होती गयी। लोगों ने आश्चर्य के साथ देखा कि बालिका स्वभाव से बहुत शान्त है। लड़ाई-झगड़ा करना बहुत दूर रहा बल्कि दूसरों को लड़ते देख उनके झगड़े को वह सुलझा देती थी। अपनी इस विशेषता के कारण वह न केवल हमजोलियों में बल्कि बुजुर्गों की दृष्टि में ऊँची हो गयी।

शारदा में एक विशेषता थी कि वह उन खेलों को अधिक पसन्द करती थी जिसमें पूजा-ध्यान करने का अवसर मिले। बचपन से ही वह काली तथा लक्ष्मी की पूजा करती, पिताजी की तरह ध्यान करती। उसकी इस प्रवृत्ति से लोग चकित रह जाते। एक बार विचित्र घटना हुई थी। पड़ोस के घर में जगद्धात्री देवी की पूजा हो रही थी। शारदा-मूर्ति के सामने वह ध्यान लगाये बैठी थी। इसी समय गाँव के वृद्ध राम घोषाल देवी दर्शन के लिए आये। मूर्ति के सामने साष्टांग प्रणाम करने के बाद उनकी नजर शारदा पर पड़ी तो वे चौंक उठे। बार-बार देखने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि देवी-मूर्ति और शारदा का चेहरा एक-सा है। यह दृश्य देखकर वे इस कदर डर गये कि बिना कुछ बोले चुपचाप चले गये।

शारदा जब घर का धान धोती या खेत में काम करती तब एक काली लड़की आकर उसका हाथ बँटाती थी। वह बोलती कम थी। लेकिन ज्यों ही कोई पास आता त्यों ही वह लड़की न जाने कहाँ गायब हो जाती थी। इस रहस्य का कारण शारदा ने कई बार उससे पूछा, पर कोई जवाब नहीं मिला। शायद वह इस प्रश्न जवाब देना नहीं चाहती थी। गाँव का वातावरण था। उन दिनों बंगाल में लड़कियों को शिक्षा देने की प्रथा नहीं थी। सामाजिक दृष्टि से कन्याओं को पढ़ने की अपेक्षा घर का काम कराया जाता था। जो लड़कियाँ पढ़ना चाहती थी, उन्हें मना किया जाता था। शारदा के साथ ऐसी घटना हुई। वह कुछ दिनों तक छोटे भाई के

साथ स्कूल गयी, फिर अचानक उसका जाना बन्द कर दिया गया। अब तक वह जितना ज्ञान अर्जित कर चुकी थी, उसी के आधार पर रामायण पढ़ लेती थी।

एक बार माँ के साथ ननिहाल गयी। शिहड़ में माँ का ननिहाल था। गाँव के एक सम्पन्न घराने में पूजा का आयोजन हो रहा था। इस पूजा को देखने के लिए गाँव के अधिकांश नर-नारी आये थे। शारदा अपनी माँ के साथ वहाँ मौजूद थी। उन दिनों वह बहुत छोटी थी। आगत महिलाओं में से किसी महिला ने विनोद करने की गरज से पूछा- "क्यों री शारदा, तू किससे विवाह करेगी?" अन्य कोई लड़की होती और उसे विवाह के बारे में जानकारी होती तो शायद वह लज्जावश कुछ न कहती। लेकिन शारदा ने निस्संकोच भाव से वहां बैठे एक युवक की ओर इशारा किया। वह युवक कामारपुकुर का गदाधर चट्टोपाध्याय था जो आगे चलकर परमहंस रामकृष्ण के नाम से विश्व-प्रसिद्ध हुआ। उस वक्त कौन जानता था कि सामान्य विनोद में भवितव्य छिपा हुआ है। अतिमानव (सुपरमैन) बचपन से ही अलौकिक चमत्कार दिखाने लगते हैं।

यह घटना सन 1888 ई. की है। यहाँ आने पर श्री माँ में आमूल परिवर्तन हो गया। श्री माँ को लोग साधारण महिला मात्र समझते रहे। लेकिन श्री माँ जब बाहरी परिवेश को भूलकर अन्तर्मुखी होने लगी तब उनकी आभा से लोग चमत्कृत हो उठे। महिमामयी, कल्याणकारी श्री माँ के दिव्य आनन को देखकर सभी भक्तों को विश्वास हो गया कि उनकी शारदा माँ विश्वजननी हैं। इनमें ईश्वरीय शक्ति का पूर्ण रूप से प्रादुर्भाव हो गया है। ठाकुर के अभाव में श्री माँ का साया मंगलकारी है। फलत: अनेक शोक संतप्त नर-नारी श्री माँ के निकट आने लगे। दीक्षा लेने लगे।

श्री माँ नित्य परमहंस के चित्र की पूजा करती थीं और प्रत्यक्ष दर्शन करती थीं। उनके द्वारा समर्पित नैवेद्य आदि स्वयं ठाकुर ग्रहण करते थे। जिस दिन वे ग्रहण नहीं करते थे, उस दिन माँ अनाहार रह जाती थीं। कहने का आशय यह है कि श्री माँ के साथ ठाकुर का नित्य सम्पर्क होता था। ठीक इसी प्रकार मातृकुल के प्रचलित अभ्यास के अनुसार सभी को भोजन कराकर तब वह खाती थीं। इस परम्परा के कारण उन्हें अक्सर बेवक्त भोजन करना पड़ता था। श्री श्री माँ के इस विश्वजननी रूप को देखकर लोग चकित रह जाते थे। इसके अलावा उनकी सरलता, मन की उदारता और स्नेह देखकर सभी उन्हें मूर्त्तिवती-माधुरी समझते थे। श्री माँ के इस रूप की तुलना नहीं की जा सकती।

एक बार दुर्गा-पूजन के अवसर पर अष्टमी तिथि के दिन श्री माँ की पूजा आगत महिलाएँ नूतन वस्त्र देकर रही थीं। इसी बीच एक साधारण लड़की आयी। श्री माँ को दिये जाने वाले उपहारों को देखकर उसका मन कुंठाग्रस्त हो गया सभी लोग कीमती साड़ियाँ और चादर देकर वह झटपट दूर जा खड़ी हुई। अन्तर्यामी श्री माँ उसके मन की व्यथा को समझ गयीं। एकाएक उसकी दी हुई साड़ी उठाकर श्री माँ ने कहा- "वाह! इसकी किनारी तो बहुत सुन्दर है। इसे उठाकर अलग रखो। आज महाअष्टमी के दिन मैं इसी को पहनूँगी।" श्री माँ के इन वचनों को सुनकर वह गद्‌गद हो उठी। आँखों से आदर के आँसू निकलने लगे। उसकी समस्त हीन भावना दूर हो गयी। श्री माँ सभी शिष्यों को समान रूप से प्यार करती थीं। एक बार परमहंसजी के एक गृहस्थ भक्त ने सोचा कि माँ शारदानन्दजी को अधिक चाहती हैं। बात यह है कि श्री माँ शारदानन्द को खिलाते समय जो सामग्री उन्हें देती थी, वह सामग्री भक्तों को नहीं देती थीं। भक्त के मन में जब यह बात उत्पन्न हुई तब श्री माँ समझ गयी। उसी दिन रात को भोजन के समय उस भक्त की थाली में सभी सामग्री परोसी गयी जो शारदानन्द को परोसी गयी थी। दूसरे दिन भक्त की हालत नाजुक हो गयी। पेट के दर्द से वह कराहने लगा। तभी उसने अनुभव किया कि श्री माँ भक्तों की आदत के अनुसार भोजन परोसती हैं। किसी के साथ पक्षपात नहीं करतीं। जो लोग जयरामबाटी गये हैं, उन्हें इसका अनुभव है। यही वजह है कि श्री माँ के किसी भी कार्य के प्रति कोई बाधा नहीं डालता।

सन् 1919 ई. के दिस बर माह में श्री माँ जयरामबाटी जाकर अस्वस्थ हो गयीं। शिष्यों को जब यह बात मालूम हुई तब वे उन्हें कलकत्ता ले आये। यह 27 फरवरी् सन् 1920 की घटना है। यहाँ प्रसिद्ध डॉक्टरों का इलाज चलने लगा। यहाँ आकर भी वे लोगों का ख्याल रखती रहीं। अचानक योगीन माता को संदेह हुआ कि श्री माँ को अवतार और जगत्‌जननी कहा जाता है, पर वह तो गृहस्थ महिलाओं की तरह सारा कामकाज करती हैं। यह विचार आते ही वे माँ से जरा पृथक हो गयीं। 20 जुलाई, 1920 ई.,के दिन रात डेढ़ बजे श्री माँ ने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया।

गौरी माँ- परमहंस रामकृष्ण देव के अनन्य भक्त श्री बलराम बसु के यहाँ गौरी माँ अतिथि के रूप में ठहरी थी। गौरी माँ के जीवन में कई चमत्कार हो चुके हैं। उन सभी चमत्कारों को वे प्रभु की लीला

समझती रही, पर यह एक ऐसा चमत्कार था जिसे सामान्य व्यक्ति विश्वास नहीं कर पाता। एक बार लोग नवद्वीप-यात्रा पर गये तो मृड़ानी को साथ लेते गये। वहाँ महाप्रभु की मूर्ति देखकर वह आत्म विभोर हो गयी। महाप्रभु के प्रति उसके मन में अपने आप अपार श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। इस घटना के बाद से उसके मन में अक्सर इस बात की हुडुक उत्पन्न हुई की कैसे उसे अपने अभीष्ट की प्राप्ति होगी?

एक दिन न जाने कौन चुपके से उसके कानों में आकर कह गया कि मंत्र-जप से ही इष्ट की प्राप्ति होगी। वे ही तुम्हें सही मार्ग दिखायेंगे। इस आदेश को पाते ही मृड़ानी जप करने में निमग्न हो गयी। एक बार वह निर्जन स्थान पर पहुँची। यहाँ मानव तो क्या जानवर तक दिखाई नहीं दे रहा था। सामने एक मन्दिर जरूर था, पर उसके भीतर जाने लायक कोई मार्ग नही था। कुछ देर तक श्रम करने के बाद रास्ता मिला। मंदिर के भीतर आते ही वह भय से चीख उठीं। मंदिर के भीतर एक शिवलिंग था जिस पर साँप लिपटे हुए थे। पास ही एक दीपक जल रहा था। मंदिर के ऊपर बेल का एक वृक्ष था जिस पर से पत्तियाँ झड़कर नीचे गिर रही थीं। मनुष्य की गंध पाते ही सभी सर्प शिव-मूर्ति को छोड़कर हट गये। अब मृड़ानी वहाँ बैठकर पूजा-अर्चना करने के बाद जप करने लगीं। कुछ देर के बाद जैसे गयी थीं वैसै ही बाहर निकल आयीं।

हिमालय के विभिन्न क्षेत्रों का दर्शन तथा तपस्या करने के बाद गौरी माँ हरिद्वार वापस आ गयीं। उन्हें भय हुआ कि अगर कोई परिचित मिल गया तो उन्हें जबरन घर वापस ले जा सकता है। हरिद्वार से वे ज्वालमुखी आयीं। यहाँ कुछ दिन रहने के बाद कश्मीर चली गयीं। वहाँ से वापस आकर गंगोत्री, यमुनोत्तरी दर्शन करने के पश्चात् द्वारिका चली गयीं।

द्वारिका में रणछोड़ जी के सामने बैठकर गौरी माँ जप कर रही थीं। उनके आराध्य श्रीकृष्ण का अपर रूप रणछोड़जी हैं। जप करते हुए गौरी माँ ने देखा कि एक मनोहर श्याम वर्ण का बालक भोजन के पश्चात् बिना मुँह धोये खड़ा होकर हँस रहा है। गौरी माँ ने सोचा-यह लड़का संभवत: इसी मंदिर के पुजारी का है। मंदिर का भीतर प्रसाद ग्रहण कर रहा था। लेकिन यह बात ठीक नहीं है। दूसरे ही क्षण पुजारी महाराज आये और उस बालक के हाथ-मुँह धुलाने के बाद तौलिये से पोंछ दिया। वह बालक वहाँ से चलकर सीधे मंदिर के सिंहासन पर जाकर बैठ गया। यह दृश्य देखते ही गौरी माँ का शरीर रोमांचित हो उठा। उनकी आँखों से

अविरल गति से आँसू बहने लगे। उस वक्त वह आत्मविभोर हो गयी थीं। प्रत्यक्ष रूप से गोपाल का दर्शन उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटना थी।

द्वारिका से वृन्दावन होती हुई गौरी माँ लम्बे अर्से बाद कलकत्ते में अपने घर आयीं। उनके वापस आने का समाचार चारों ओर फैल गया। उत्सुकतावश उन्हें देखने के लिए काफी लोग आये और तरह-तरह के प्रश्न करने लगे। यहाँ कुछ दिन रहने के बाद गौरी माँ पुरी चली गयीं। यहाँ वापस आने के बाद बलराम बसु के घर ठहरीं जहाँ से रामकृष्ण देव के यहाँ गयीं। गुरु की आज्ञा मानकर गौरी माँ वृन्दावन चली गयीं। वहाँ एक निर्जन स्थान में कठोर तपस्या में निमग्न हो गयीं। सूर्योदय से सूर्यास्त तक निर्जल उपवास करते हुए, एक आसन पर पूरे नौ माह तक तपस्या करने की आज्ञा दी गयी थी।

इधर ठाकुर महाप्रस्थान की तैयारी करने लगे। अपने शरीरान्त के कई दिन पहले कहने लगे- "गौरदास इतने दिनों तक पास थी। अब वह अंतिम समय देख नहीं पायेगी। उसके लिए दु:ख हो रहा है। लग रहा है जैसे मेरे कलेजे के भीतर बिल्ली पंजा मार रही है।" ठाकुर की बातें सुनते ही वृन्दावन समाचार भेजा गया। गौरी माँ का कहीं पता नहीं चला। ठाकुर महासमाधि में लीन हो गये। शारदा माँ को हाथ से कंगन उतारते देख ठाकुर प्रकट होकर बोले-"क्या मैं मर गया हूँ? इस कमरे से उस कमरे में गया हूँ। गौरी से पूछना, वह सब बता देगी।"

गौरी माँ की साधना पूरी हो गई थी। वे वहाँ से प्रस्थान की तैयारी करने लगीं, तभी किसी भक्त से सूचना मिली कि ठाकुर का शरीरान्त हो गया है। वे बहुत रोने लगीं। ठाकुर ने धोखा देकर मुझे यहाँ भेज दिया। अब यह जीवन लेकर मैं क्या करूँगी? वे आत्महत्या करने को उद्यत हुईं तभी ठाकुर श्रीरामकृष्ण प्रकट होकर बोले- "तू नहीं मरेगी। तुझे बहुत काम करना है। अगणित लड़कियों को शिक्षा देगी। उन्हें योग्य बनायेगी।"

सन् 1895 ई., में बैरकपुर के पास शारदामाता के नाम पर श्री श्री शारदेश्वरी आश्रम की स्थापना हुई। पहले कुल पचीस कुमारी, सधवा और विधवाएँ आश्रम में आकर रहने लगीं। इसके बाद क्रमश: उनकी संख्या बढ़ती गयी। तत्कालीन स्वनामधन्य लोगों ने उन्हें मदद दी। गौरी माँ लड़कियों को केवल शिक्षा नही देती थीं, बल्कि उन्हें साक्षात् जगदम्बा मानकर पूजा करती थीं। एक दिन सारा कामकाज समाप्त करने के

पश्चात् दोपहर को वे आराम करने के लिए अपने कमरे में आयीं, पर न जाने क्यों बेचैनी अनुभव करने लगीं। यह बेचैनी क्यों हो रही है, इसे वह स्वंय भी नहीं समझ पा रही थीं।

थोड़ी देर बाद बोल उठी-"अच्छा, यह बात है। दामोदर को दूध पीने की आदत है। आज उन्हें दूध देना भूल गयी। शायद इसलिए उन्हें नींद नहीं आ रही है।" इतना कहने के पश्चात् वे पूजा घर में गयीं। अपने दामोदरजी को दूध का भोग दिया। इसके बाद बाहर आकर बोलीं-"दूध पीकर वे सो गये।" इसी प्रकार एक दिन गौरी माँ की तबियत ठीक न रहने के कारण उस दिन दामोदरजी के लिए प्रतिदिन की तरह खाना नहीं बना। थोड़ी फल-मिठाई भोग में देकर वे अपने कमरे में आकर सो गयीं।

अभी रात को घर के लोगों ने देखा कि वे रसोईघर में पूरी तल रही हैं। जब उनसे सवाल किया गया तो बोली-"एक झपकी लेने के बाद दामोदर ने कहा कि भूख लगी है, इसलिए यह सब कर रही हूँ।" अक्सर दामोदर को गोद में लेकर वे भजन गातीं और अपने आँसुओं से उन्हें नहलाती थीं। उनका दामोदर-प्रेम वास्तव में भक्ति की पराकाष्ठा थी। नारी होते हुए भी गौरी माँ साक्षात् रूद्राणी थीं। कहीं, किसी के साथ होने वाले अन्याय को वह सहन नहीं कर पाती थीं। शायद इस तेजस्विता के पीछे उनके गुरू का आशीर्वाद था।

एक बार वे अपने दो पुरूष भक्तों के साथ जा रही थीं। कई शराबी गुण्डे पीछे पड़ गये। भक्तों की हालत खराब हो गयी। अचानक गौरी माँ ने जलती आँखों से पीछे की ओर देखा। सभी गुण्डों को लगा जैसे दो मशालें तेजी से उनकी ओर बढ़ रही हैं। देखते ही देखते सभी भाग गये।

इस प्रकार गौरी माँ के जीवन में भगवान् रामकृष्णजी की कृपा से अनेक चमत्कार हुए थे। वे स्वंय चमत्कार नहीं दिखाती थीं। गौरी माँ को तुलसीदास का यह भजन बहुत प्रिय था- श्री रामचन्द्र कृपालु भज मनु हरण भव भय दारूणम्। अक्सर इसे गाया करती थीं। अचानक माघ मास में एक दिन उन्होंने स्वप्न में देखा कि स्वर्ग से देवदूत रथ लेकर आये हैं। उनमें से एक ने कहा-"आपका इस लोक में कार्य समाप्त हो गया है। अब आपको स्वस्थान में ले जाने के लिए हम आये हैं।"

गौरी माँ तुरन्त जाने के लिए खड़ी हो गयीं, पर सहसा बाधा उपस्थित हो जाने के कारण वे नहीं जा सकीं। लेकिन वे समझ गयीं कि अब अधिक दिन यहाँ रहना सम्भव नहीं है। भगवान् का बुलावा आ गया है।

सन् 1938 में शिवरात्रि के दिन बोलीं-"आज मुझे अच्छी तरह सजा दें।" जब उन्हें सजाया गया तब बोलीं- "मेरा रथ आ गया है।" उसी दिन ब्राह्म मुहूर्त में वे महाप्रयाण कर गयीं।

दुर्गा माँ- विपिन बिहारी के पिता रामयदु मुखर्जी शान्तिपुर के निवासी थे। यदुराम और उनकी पत्नी श्रीमती उज्जवलादेवी दोनों ही धार्मिक प्रवृति तथा देव-द्विजों के प्रति भक्ति करते थें। इसी प्रकार अपर पक्ष अर्थात् ब्रजबाला के पिता पार्वतीचरण और उनकी पत्नी गिरिबाला देवी निष्ठावान्, भक्त और दयालु थे। यह परिवार कलकत्ता में रहता था।

गिरिबाला का एक और इतिहास है जिसे बहुत कम लोग जानते हैं। वे बंगाल की प्रथम महिला थी जो शाक्त-संगीत की रचयित्री थीं। आपकी सारस्वत-साधना की प्रशंसा तत्कालीन मनीषियों ने की है। आपकी कविताएँ भक्तिमूलक ही नहीं, ज्ञानमूलक थीं। गिरिबाला के कंठ से इनकी रचनाएँ सुनकर परमहंस रामकृष्णदेव भावविभोर हो उठते थे। गिरिबाला की मझली लड़की का नाम मृड़नी था। संन्यास ग्रहण करने के बाद इनका नाम 'गौरी माँ' हुआ। गिरिबाला की सबसे छोटी पुत्री का नाम ब्रजबाला था। इस प्रकार युगलकिशोरी की नानी गिरिबाला शाक्त संगीत की रचयिता, मौसी प्रसिद्ध महिला संत गौरी माँ थीं।

15 अक्टूबर, सन् 1896 ई.,गुरूवार, महानवमी के दिन युगलकिशोरी का जन्म होने के कारण पहले इनका नाम नवदुर्गा रखा गया था। पुकारते समय नव शब्द हटाकर दुर्गा के नाम से लोग पुकारते थे।

दुर्गा जब ढाई वर्ष की हुई तभी बज्रबाला का निधन हो गया। मातृहीन बालक को उसके मामा अपने यहाँ ले आये। इस लड़की को देखते ही उसकी मौसी गौरी माँ समझ गयी थी कि यह लड़की आगे चलकर उनके कार्यो में सहायक बनेगी। कुछ दिनों बाद गौरी माँ युगलकिशोरी को अपने आश्रम में ले आयीं और उसे देवी-देवियों का स्रोत पढ़कर सुनाने लगीं। इस प्रकार बचपन से ही उसमें धार्मिक भावनाओं का विकास प्रारंभ हुआ। गौरी माँ की देखरेख में वह क्रमशः बड़ी होने लगी।

गौरी माँ के प्रताप को देखकर परमहंस रामकृष्ण के भक्त भी उन्हें 'माताजी' कहते थे। इनकी तेजस्विता देखकर स्वामी विवेकानन्द ने, जो उन दिनों अमेरिका में थे, अपने एक पत्र में लिखा था-'गौरी माँ कहाँ हैं ? मुझे एक हजार गौरी माँ चाहिए। ठीक उसी प्रकार महती और चेतना दायिनी शक्तिवाली महिला।'

शान्तिपुर से वापस आते ही गौरी माँ विवाह की सारी तैयारी करने लगीं। शुभ दिन देखकर अधिकांश लोग पुरी के लिए रवाना हो गये। गौरी माँ को रह-रहकर आशंका होने लगी कि कहीं इस कार्य में पुरी के पण्डे विघ्न उपस्थित न करें। यही वजह है कि रवाना होने के पूर्व वे बंगाल के भाटपाड़ा तथा काशी के ब्रह्मणों से परामर्श कर आयी थीं। पुरी आकर गौरी माँ गोविन्दचन्द्र पाण्डा से मिली और उन्हें अपना उद्देश्य बताया। गोविन्दचन्द्र ने पुरी के तत्कालीन राजा गजपति मुकुन्ददेव से इस बारे में निवेदन किया।

इस प्रस्ताव के सुनते ही राजा साहब चौंक उठे। यह एक अद्‌भुत निवेदन था। स्वयं कोई निर्णय न लेकर उन्होंने अपने दीवान पर जिम्मेदारी सौंप दी। नतीजा यह हुआ कि मंदिर के पंडो ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। विवाद बढ़ता गया। पुरी की पंडित-मंडली और कन्या-पक्ष के लोगों में जमकर शास्त्रार्थ हुआ। वास्तव में यह एक अद्वितीय दृश्य था। अन्त में दोनों पक्षों में इस बात पर समझौता हुआ कि जगन्नाथदेव को एक माला पहनायी जाय। अगर वह माला अपने-आप रत्नवेदी पर गिर जायेगी तो समझा जायेगा कि इस कन्या को पत्नी के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं तब विवाह समारोह होगा, अन्यथा यह असंभव कांड नहीं हो सकता।

फूलों की एक माला लेकर एक पंडे ने जगन्नाथदेव के गले में डाल दी। देवकृपा से कुछ ही क्षणों में वह माला टूटकर अपने-आप रत्नवेदी पर गिर पड़ी। देवता को यह विवाह स्वीकार है, समझकर उपस्थित नागरिकों ने तुमुल ध्वनि की। कन्या-पक्ष के लोगों की आँखों में हर्ष का आँसू छलछला आये। लोगों ने कहा-"निस्सन्देह यह कन्या असाधारण है। यह जगन्नाथ प्रभु की शक्ति है।" रत्नवेदी पर से माला उठाकर पंडा ने दुर्गा को देते हुए कहा-"प्रभु ने इस कन्या को स्वीकार कर लिया है। अब आप लोग इसे प्रदान कर सकते हैं। हम सभी आपके इस समारोह में सहयोग देंगे। पुरी के इतिहास की यह महान् घटना है।"

दुर्गा के प्रति स्वामी विवेकानन्द का असीम स्नेह था। उन्हें यह आभास हो गया था कि आगे चलकर यह लड़की तपस्विनी होगी। दुर्गा भविष्य में उच्च अध्ययन के लिए कहीं जाना चाहे तो उस निमित्त होने वाले खर्च के कई हजार रूपये स्वामी शारदानन्दजी के पास उन्होंने जमा कर दिए थे।

अधिकतर संत अपने शिष्यों तथा भक्तों को जप या भजन करने की आज्ञा देते हैं, क्योंकि सभी योग-साधना नहीं कर पाते। उनके लिए संभव भी नहीं होता। योगी पात्र की योग्यता देखकर प्राणायाम और योग के

नियम बताते हैं। बीज-मंत्र देकर उसे सिद्ध करने का उपाय बताते हैं। इसी परम्परा में दुर्गा माँ अपने शिष्यों को कहा करती थीं-जपात् सिद्धिः महानिशा में जप करने से सिद्धि प्राप्त होती है।

एक विशेषता उनमें और थी। वे आजीवन पुरी के जगन्नाथजी को अपना पति मानती हुई उनकी पूजा करती थीं। मंदिर में जाने से पूर्व नववधू की तरह साज श्रृंगार कर दर्शन करती थीं। शारदा माँ से बीज-मंत्र लेने के कारण वे परमहंस रामकृष्णदेव की भावधारा को सर्वदा अक्षुण्ण बनाये रखती थीं। रामकृष्णदेव का मु य उद्देश्य था-मानव का कल्याण करना। अपने जीवन को तुच्छ समझकर आर्त-पीड़ित मानव की सेवा करने का अर्थ है-नारायण की पूजा। इस भावना का पालन वे चुपचाप बिना किसी प्रचार के करती रहीं।

सन् 1963 ई., में दुर्गा-पूजा का आयोजन प्रतिवर्ष की भाँति किया जा रहा था। इस वर्ष पंडितों में मतैक्य न होने के कारण भारत में दो बार दुर्गा-पूजा हुई। 14 नवम्बर, सन् 1963 को प्रातः स्नान करने के बाद वे पूजा-भोग, आरती में भाग लेती रहीं। इसके बाद माला लेकर जप करने लगीं। लड़कियाँ उनके सामने बैठकर ग्रंथ-पाठ करने लगीं।

दुर्गा को समझते देर नहीं लगी कि अब उनका जीवन-दीप बुझनेवाला है। चुपचाप कमरे के चारों ओर टँगे चित्रों को देखती हुई बोली-"माँ त्रिपुरसुन्दरी।" इसके आगे और कुछ बोल नहीं सकीं। उनका मस्तक एक ओर लुढ़क गया। पाठ करनेवाली लड़कियों की चीत्कार सुनकर सभी आश्रमवासी दौड़ आये। उन्होंने भारी मन से देखा-माँ अनन्तलोक चली गयी हैं।

गोपाल की माँ- गोपाल की माँ का संपूर्ण जीवन बंगाल की विधवा महिला का प्रत्यक्ष उदाहरण है। कट्टरता की चरम सीमा, मातृत्व और अगाध स्नेह से परिपूर्ण, देव-द्विजों के प्रति असीम भक्ति तथा वार्द्धक्य-दोषों से मंडित। नाम था- अघोरमणि देवी। श्री काशीनाथ घोषा बहुत ही गरीब ब्राह्मण थे। कामारहाटी में यजमानी करके गृहस्थी चलाते थे। प्राचीन परम्परा के अनुसार अघोरमणि का जब विवाह हुआ तब उनकी उम्र नौ वर्ष थी। विवाह के अवसर पर एक बार पति के घर गयीं। इसके बाद पुनः जाने का अवसर नहीं मिला। चार वर्ष बाद किशोरावस्था के प्रारंभ में ही विधवा होकर पिता के घर रहने लगीं। कद में नाटी, सांवला रंग और गठा हुआ शरीर था। परमहंस रामकृष्ण से चौदह वर्ष बड़ी थीं।

सन् 1884 ई. की बात है। अगस्त का महीना था। श्रीमती दत्ता के मन में आया कि दक्षिणेश्वर में रहने वाले उस साधु का दर्शन किया जाय जिनकी चर्चा आजकल बहुत हो रही है। उस समय कलकत्ता तथा आसपास के क्षेत्रों में परमहंसजी की चर्चा भक्तों में फैल गयी थी।

दक्षिणेश्वर में शारदामाता कालीदेवी के लिए भोग बनाने के बाद रामकृष्णदेव के लिए भात और रसेदार तरकारी बनाती थीं। जिस दिन अघोरमणि दक्षिणेश्वर में रामकृष्णदेव के दर्शन करने आतीं, उस दिन वे यहीं अपना भोजन बनाकर खाती थीं। लेकिन जब तक शारदामाता तीन बार गोबर से चौका नहीं लगाती थी तब तक अघोरमणि अपना भोजन नहीं बनाती थीं। अक्सर जब प्रसाद के रूप में परमहंसजी उन्हें कुछ खाने को देते तो वहाँ जरूर खा लेती थीं, पर अगर उस प्रसाद को लेकर घर आना पड़ता तो उसे स्वयं न खाकर मार्ग में किसी को दे देती थीं, क्योंकि उतनी दूर पैदल आने के कारण सड़क की अपवित्रता प्रसाद में प्रवेश कर जाती है। एक बार इसी प्रकार खड़हद स्थित श्यामसुन्दर मंदिर में प्रसाद मिला। उसे लेकर ज्यों ही आगे बढ़ीं त्यों ही पीछे से आवाज आयी–"क्यों री, प्रसाद खायेगी या किसी को दे देगी?"

पीछे मुड़कर अघोरमणि ने देखा–मंदिर की सीढ़ी पर खड़ा एक ब्राह्मण परिचित आवाज में प्रश्न कर रहा था। आवाज गोपाल (श्रीरामकृष्णदेव को वह गोपाल कहती थीं और बालक गोपाल के प्रेम में विभोर होने के कारण रामकृष्णजी उसे गोपाल की माँ कहते थे।) की मालूम हुई, पर चेहरा भिन्न है। वहाँ से जब वह दक्षिणेश्वर आयीं तब रामकृष्ण से बोलीं–"गोपाल, मुझसे अपराध हो गया है। अब मैं क्या करूँ?" प्रत्युत्तर में रामकृष्ण मुस्कराकर रह गये।

एक बार वह उन्मत्त भाव से दक्षिणेश्वर आयीं थीं। मंदिर के आहाते में प्रवेश करते ही वह पागलों की तरह चिल्लाती हुई आगे बढ़ रही थीं–"गोपाल, गोपाल।" परिचित महिला की आवाज सुनकर झाड़ू लगाने वाली महिला अवाक् होकर देखती रह गयी–पगली की तरह बड़ी-बड़ी आँखें, जमीन से लथड़ता आँचल, अस्वाभाविक आकृति लिये वह रामकृष्ण के कमरे में चली आयी। उसे देखते ही रामकृष्णजी में भी भाव-परिवर्तन हो गया। ज्यों ही वह परमहंसजी के सामने बैठीं त्यों ही वे अघोरमणि की गोद में बैठ गये। अघोरमणि की आँखों से श्रावण-भाद्र की तरह पानी बहने लगा। आते समय कहीं से मक्खन ले आयी थीं। रामकृष्णजी को वह खिलाने लगीं। सारा दृश्य अदभुत् था। रामकृष्ण भावाविष्ट होने पर भी कभी किसी

महिला का स्पर्श तक नहीं करते थे और यहाँ तो प्रत्यक्ष रूप से गोपाल की माँ की गोद में बैठकर मक्खन खा रहे थे। कुछ देर बाद जब उनका यह भाव दूर हुआ तब लह चौकी पर जाकर बैठे। लेकिन गोपाल की माँ इस कदर भावाविष्ट हो गयी थीं कि गोद से रामकृष्णदेव के उठते ही वह आनन्द से उठकर नाचती हुई गाने लगीं- "ब्रह्मा नाचे, विष्णु नाचे और नाचे शंकर।"

स्वामी विवेकानन्द विदेश से लौटे। उनके साथ कई अंग्रेज महिलाएँ थीं। स्वामीजी ने गोपाल की माँ से कहा-"मेरे कुछ शिष्य मेम और साहब हैं। अब यह बताओ कि उन्हें अपने पास आने दोगी या इससे तुम्हारा धर्म-कर्म नष्ट होगा?" गोपाल की माँ ने कहा-"यह क्या कह रहे हो बेटा? वे जब तुम्हारी सन्तानें हैं तब तो मेरे पोते-पोती हैं। उन्हें तो प्यार से गोद में बैठाऊँगी। डरो मत। ले आओ उन लोगों को।" बाद में देखा गया कि सचमुच गोपाल की माँ में अब पहले जैसी कट्टर भावना नहीं है। सुश्री सारा बुल, श्रीमती मैकलाउड और सिस्टर निवेदिता नाव से एक बार कामारहाटी आयीं। गोपाल की माँ बड़े आदर के साथ उन्हें अपने कमरे में ले जाकर अपने बिछौने पर बैठायीं। उनका चिबुक पकड़कर चुम्बन लिया। उन्हें नारियल के लड्डू खाने को दिया। वृद्धा के स्नेह से सभी अभिभूत हो उठीं।

इस घटना को सुनकर स्वामीजी ने विदेशी महिलाओं से कहा-"वाह! तुम लोग भारत के प्राचीन महान् आदर्श बनकर आयी हो। अब तो उपासना, अश्रुवर्षण, उपवास, जागरण, ब्रह्मचर्य, तपस्यामय भारत मिटता जा रहा है। वह पुनः वापस नहीं आयेगा?" 8 जुलाई, सन् 1906 को उनका निधन हुआ था। उनके निधन के पश्चात् उनकी माला सिस्टर निवेदिता ने ग्रहण की और उनके द्वारा पूजित रामकृष्णजी का चित्र श्री श्री शारदामाता के मंदिर में रख दिया गया।

श्री माँ आनन्दमयी- बंगाल के वीरभूमि जिला की तरह त्रिपुरा जिला भी सिद्धों की भूमि रही है। यहाँ अनेक सिद्धों और योगियों ने जन्म लेकर साधना की है। इसी जिले के खेउड़ा ग्राम में विपिन बिहारी भट्टाचार्य नामक एक ब्राह्मण सपरिवार रहते थे। विपिन बिहारी का आदि निवास-स्थान विद्याकूट था। खेउड़ा गाँव में उनका ननिहाल था। विपिन बाबू की पत्नी बंगाल की परम्परा के अनुसार धार्मिक प्रवृत्ति की थीं। पूजा-पाठ, व्रत तथा अनुष्ठान बराबर करती थीं। कहा जाता है कि इनके पूर्वजों में कुछ लोग सिद्ध पुरुष

थे। विपिनबाबू की आमदनी सामान्य थी। किसी प्रकार से गृहस्थी की गाड़ी चल रही थी। विपिनबाबू की माँ को एक दिन जब यह ज्ञात हुआ कि उनकी पुत्रवधु गर्भवती है तब वे कसबा के प्रसिद्ध काली मंदिर में 'लड़का पैदा हो' कहने के लिए गयीं, पर विग्रह के सामने अपनी इच्छा को प्रकट न कर कह बैठीं-'विपिन को लड़की प्राप्त हो।' 3 अप्रैल, सन् 1896 ई., रात तीन बजे विपिनबाबू के घर नवजात कन्या ने जन्म लिया। इस कन्या का नाम रखा गया-निर्मलासुन्दरी। अबोध रहते हुए भी बचपन से देवी-देवताओं के दर्शन करती, अनेक अलौकिक दृश्य चलचित्र की भाँति उसकी नजरों से गुजर जाते थे। उन दिनों जब कभी कीर्तन सुनती तब भावावेष में आ जाती थी। जिस कमरे में निर्मला का परिवार रहता था, हमेशा अंधकार रहता था, इसलिए निर्मला में होने वाली प्रक्रियाओं को लोग देख नहीं पाते थे।

सन् 1922 की घटना है। अचानक एक दिन निर्मला के शरीर के भावों में परिवर्तन होने लगा। इस घटना के तीन महीने बाद झूलन-पूर्णिमा को अर्द्धरात्रि के समय निर्मला की दीक्षा-क्रिया अपने आप हो गयी। दीक्षा के बाद लगातार पाँच माह तक निर्मला के शरीर पर आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि होते रहे। रमणीबाबू रात का भोजन करने के बाद जब सो जाते थे तब जमीन पर आसन बिछाकर निर्मला साधना करने लगती। कभी-कभी नींद खुल जाने पर रमणीबाबू देखते कि वह बेखबर सो रही है, पर उसकी उँगलियाँ जप की तरह निरन्तर चल रही हैं।

बाजितपुर रहते समय ही निर्मला के शरीर में योग-क्रियाएँ प्रकट होती रहीं। साधारण लोग इसका मर्म नहीं समझ पाये थे। कोई इसे भक्ति-आवेश, कोई रोग समझता रहा। कुछ लोग इलाज की सलाह रमणीबाबू को दे चुके थे। सन् 1942 ई., में श्री ज्योतिषचन्द्र राय नामक एक युवक निर्मलादेवी के पास आया। वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने सर्वप्रथम निर्मला को 'माँ आनन्दमयी' के नाम से सम्बोधित किया। आगे चलकर निर्मलादेवी का यही नाम उनके भक्तों में प्रचारित हो गया। लोग उनका वास्तविक नाम एक प्रकार से भूल गये। वास्तव में माँ एक श्रेष्ठ साधिका हैं। अपने पूर्वजन्म की साधना के फलस्वरूप उन्होंने उर्ध्वगति प्राप्त कर ली थी। लेकिन पूर्ण ज्ञान के अभाव के कारण ही इन्हें पुनर्जन्म लेना पड़ा। इस शरीर में ज्ञान का पूर्ण विकास प्राप्त कर जीवनमुक्ति या स्थितप्रज्ञ-स्थिति प्राप्त कर सकी थीं। इस जन्म में उन्हें गुरु की आवश्यकता नहीं हुई। अन्त:स्थिति अन्तर्यामी गुरु उन्हें आवश्यकतानुसार संचालित करते रहे। वर्तमान जन्म इनका अन्तिम

जन्म है। बाबा सीताराम ने माँ के बारे में कहा है-"माँ बचपन से ही जीवनमुक्त, ईश्वरीय चैतन्य में सुजाग्रत आत्मा हैं। वे अपने शैशव से ही आनन्द-वन्दना हैं। 13 वर्ष की अवस्था में उनका ब्याह हो गया, किन्तु गृहस्थ-भोग से वे विरक्त रहीं । विवाह के दिन से ही पति को पिता मानने लगीं और बाद में पति ही उनके प्रथम शिष्य बने। कुंडलिनी जाग्रत थी और थोड़े दिनों में उनकी आध्यात्मिक शक्ति सारे देश में विख्यात हो गयी।" एक बार एक सज्जन अपनी लड़की को लेकर माँ के पास आये। लड़की को हल्का लकवा हो गया था लड़की के पिता ने कहा-"माँ, इस बालिका पर कृपा कीजिए।" माँ ने कहा- "अगले गुरुवार को लड़की के साथ आ जाना।" गुरुवार को पिता-पुत्री माँ के पास पहुँचे तब वे सुपारी काट रही थीं। लड़की को एक ओर लिटा दिया गया। माँ ने उसकी ओर एक सुपारी फेंक कर कहा-"ले, उठा ले।" बड़ी मुश्किल से वह सुपारी लड़की उठा पायी। पिता ने समझा कि माँ का आशीर्वाद मिल गया। वे उसे लेकर घर चले गये। दूसरे दिन आकर माँ को प्रणाम करते हुए बोले-"माँ, तुम्हारी महिमा अपार है। यहाँ से जाने के बाद लड़की को बिस्तर पर लिटा दिया गया। तभी कुछ देर बाद गली से एक बारात गुजरने लगी। घर के सभी बच्चे बारात देखने के लिए बाहर निकले। वह भी दौड़ी हुई बाहर आयी। यह दृश्य देखकर मैं अवाक रह गया कि कैसे उसका रोग दूर हो गया।"

एक बार गुरुप्रियादेवी के परिवार का एक बालक अस्वस्थ होकर शय्यागत हो गया। बार-बार दस्त करने के कारण वह बेहद कमजोर हो गया । यह समाचार पाते ही माता जी ने उसे अपने आश्रम में बुलवाया। उसके आने पर खाना परोसा गया। माता जी सामने बैठी रहीं। अश्चर्य की बात यह रही कि जो बालक मुँह में कुछ रख नहीं पाता था, उस दिन सिने घी, भात खाया। आश्रम के भोजन से स्वस्थ हो गया। दूसरों को जीवन-दान देनेवाली माँ आनन्दमयी अपने भोलानाथ को जीवन-दान नहीं दे सकीं। 6 मई, 1938 ई., को उनका निधन हो गया। शायद उनका समय आ गया था। इसे वह पहले ही समझ गयी थी जब भोलानाथ चेचक से पीड़ित हुए थे। माँ के भक्तों ने भारत के अनेक शहरों में आश्रम खोला है जहाँ भजन-कीर्तन होता है। भारत के प्रसिद्ध सन्त माँ की योग-शक्ति से प्रभावित थे। 27 अगस्त, सन् 1982 के दिन माँ की हालात खराब होने लगी। उस दिन वे किशनपुर (देहरादून) आश्रम में थीं। शाम को 6 बजकर 45 मिनट पर 'नारायण हरि' कहती हुई अनन्तलोक की यात्रा पर चली गयीं।

श्री सिद्धिमाता- गाजीपुर जिले के पाली गाँव में रामसमझावन नामक ब्राह्मण रहता था। गाँव में एक बीघा जमीन और एक गाय थी। दो छोटे-छोटे बच्चे थे। जीविका चलाने के लिए बंगाल के लालगोला के जमींदार के यहाँ नौकरी करता था। इसी प्रकार सन्तों की श्रेणियाँ हैं। कुछ भक्तों को उपदेश देते हैं, कुछ तन्त्र-मन्त्र के चमत्कार दिखाते हैं, कुछ यौगिक क्रियाओं की साधना करने पर बल देते हैं और बीज-मंत्र देते हैं। इनके अलावा बहुत कम ऐसे सन्त हुए हैं जिन्हें प्रभु-कृपा से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। ऐसे सन्तों में श्री सिद्धिमाता थीं।

डॉक्टर गोपीनाथ कविराज ने इनके बारे में लिखा है-"मैं सन् 1930 से लेकर इनके (सिद्धिमाता) देहवासन-काल (26 अप्रैल, 1943 ई.,) तक निरन्तर सम्पर्क में आता रहा। इस दीर्घकाल में इनकी आध्यात्मिक उन्नति के प्रत्यक्ष अनुभव का हमें सुयोग मिलता रहा। साधना की मध्यावस्था में जब ब्रह्म-साक्षात्कार के पूर्व देहभेद करके चिदाकाश में तथा परव्योम में इनका अवस्थान हुआ था, उस समय इनके शरीर में अलौकिक परिवर्तन हो गया था। विद्युत्सदृश ज्योति के द्वारा इनके शरीर में नाना प्रकार के मन्त्र, उपदेश तथा देव-देवियों के रूप प्रकट होते थे। उपस्थित भक्त-मण्डली उनका दर्शन भी करती थी। यह सारी लीला प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती थी। नाना प्रकार की वाणियाँ प्रकट होती थीं, इन्हें 'कायाभेदी वाणी' कहा जाता है। यह व्यापार ब्रह्म-साक्षात्कार के पूर्व कई वर्षों तक चलता रहा।"

जैसोर (यशोहर-बंगलादेश) जिले के मल्लिकपुर गाँव में वरदाकान्त चटर्जी निवास करते थे। आपकी पत्नी श्रीमती श्यामसुन्दरी और आप दोनों ही धर्मनिष्ठ थे। आपकी पुत्री जो आगे चलकर सिद्धिमाता के रूप में परिचित हुई थी। बचपन में बालिका का नाम कात्यायनी था। सिद्धिमाता का जन्म अपने पैतृक निवास स्थान में नहीं बल्कि ननिहाल में हुआ था जो जमालपुर स्थित नैला गाँव में था। आपके पति श्रीमान् कृष्णलोचन मुखर्जी थे। श्री गिरीशचन्द्र मुखर्जी यशोहर जिला के ब्राह्मणडाँगा गाँव के निवासी थे, इन्हीं के पुत्र कृष्णलोचनजी थे। जिन दिनों सिद्धिमाता की उम्र 24-25 वर्ष के लगभग थी, उन्हीं दिनों वे अपने माता-पिता और पति के साथ काशी आयीं। फिर वापस अपनी ससुराल नहीं गयीं। इनके पति की इच्छा इन्हें वापस ले चलने की थी। सिद्धिमाता ने कहा कि आपकी इच्छा हो तो आप जा सकते हैं। आपके बाल-बच्चे हैं, मेरा तो कोई नहीं है। सिद्धिमाता अपने शरीर को भगवान् का शरीर समझा करती थी और अपने पति को परमब्रह्म

समझती हुई उनकी सेवा करती थीं। जब वे ध्यान में व्याकुल हो जाती थीं तब उनका ब्रह्मज्ञान लुप्त हो जाता था। अक्सर गंगा में गिरकर बहने लगतीं तब पण्डे उन्हें बचाकर किनारे ले आते थे। कमण्डल और पूजा के सामान न जाने कितनी बार गंगा की गोद में समा गये थे। रसोई बनाते समय कभी-कभी दाल-चावल जल जाते थे।

इन माताजी का जीवन बहुत अद्‌भुत था। ये लौकिक व्यवहार से बिल्कुल अनभिज्ञ थीं। वर्तमान युग में इस प्रकार का एकांतप्रिय मनुष्य अत्यंत विरल है। वे साधना में इतनी तन्मय रहा करती थीं कि बाहरी जगत् की इन्हें कोई सूचना नहीं रहती थी। यहाँ तक की इन्होंने अपने जीवन में मोटर भी नहीं देखी थी। देखतीं भी कैसे? गंगातट से अपने गलीवाले मकान में आते-जाते इन्हें मोटर कभी दिखाई नहीं दी, बाहर ये कभी निकलती नहीं थीं। सच तो यह है कि सिद्धिमाता की साधना और उनका जीवन विचित्र था। उन्होंने न अपने नाम पर कोई सम्प्रदाय, मठ, मंदिर स्थापित किया और न किसी प्रकार के चमत्कार का प्रदर्शन किया। यहाँ तक की शिष्यों या भक्तों की फौज भी तैयार नहीं की। लेकिन साधना के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप में देव-देवियों का दर्शन करना और अपने शरीर पर बीज-मंत्रों का प्रकट करना, महान् घटनाएँ हैं जिस पर आज के भौतिकवादी विश्वास नहीं कर सकते।

माताजी की साधना से प्रभावित होकर कुछ भक्तों ने उनसे दीक्षा देने की प्रार्थना की। दीक्षा के बारे में माताजी ने कहा है-"जब मेरी साधना का विकास हुआ तब ठाकुर ने मुझे आदेश दिया कि तुम अपने अमृत-भाण्ड से लोगों को कुछ बांट दो।" जब कोई दीक्षा लेने आता तब कहती-"ठाकुर की कृपा होने पर प्राप्त होगी।" कुछ दिनों बाद उसे दीक्षा देती थीं। माताजी भक्तों के कान में मंत्र नहीं देती थीं। कागज पर लिख देती थीं। भक्त उसे पढ़कर सुनाता और तभी माताजी कह देती थीं- "दीक्षा हो गयी।"

अक्सर ऐसा भी हुआ है कि बीज-मंत्र उनके शरीर में प्रकट हो जाता जिसे भक्त उनके मस्तक पर ऊँकार और राधाकृष्ण की युगल-मुर्ति के दर्शन उसी वक्त कर लेते थे। यह देखकर वे मंत्रमुग्ध हो उठते थे। माता जी एक विचित्र प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी थी। वे एक वर्ष तक अनाहार रहीं। इस बीच उन्हें कोई रोग या कमजोरी उत्पन्न नहीं हुई थी। केवल कभी-कभी वेदना का रस ग्रहण करती थीं। स्वधाम जाने के तीन-चार

माह पूर्व उन्होंने रस लेना भी बन्द कर दिया। केवल ईख का रस ले लेती थीं। कहतीं-"भूख नहीं है। ब्रह्म-अग्नि के तेज से भूख समाप्त हो गयी है।"

26 अगस्त, सन् 1943 ई., सोमवार कृष्ण सप्तमी के दिन उनका तिरोधान हुआ था। आश्चर्य की बात यह है कि प्रसिद्ध सन्तों में आपका नाम गुमनाम ही रहा। केवल उच्चस्तर के कुछ साधक़ आपकी साधना से परिचित रहे।

शोभा माँ- त्रिपुरा जिले का एक नगण्य गाँव जिसका नाम है-कुण्डा। गाँव की दक्षिण दिशा में एक गहरा तालाब है। कहा जाता है कि प्राचीनकाल में यह एक विस्तृत कुण्ड था इसी कुण्ड के नाम पर गाँव का नाम कुण्डा हुआ है। तितास नदी के किनारे स्थित इस गाँव में अधिकांश शिक्षित व्यक्ति रहते हैं।

सुकुमार बाबू के यहाँ एक हरकारा यह समाचार लेकर आया कि आज भोर के समय दीदी को कन्यारत्न की प्राप्ति हुई है। अन्न-प्राशन के समय उसका नाम रखा गया-शोभा। शोभा का जन्म ननिहाल में हुआ था। उसके नाना योगेन्द्रनाथ पालित अत्यन्त धार्मिक पुरुष थे। ज्ञातव्य रहे कि शोभा माँ के गुरूदेव की जन्म-भूमि बामै गाँव था जो बानियाचांगा (शोभा माँ की ननिहाल) गाँव से पाँच मील दूर है।

बचपन से ही मोहक और सुन्दरी होने का कारण केवल घर के लोग ही नहीं, बल्कि गाँव के लोग भी उसे गोद में उठाकर प्यार करते थे। जब शोभा माँ 14वाँ साल पूर्ण करके 15वें में गयी तब एक विचित्र घटना हुई। पिता श्री सुकुमार ने सन्तदास महाराज से दीक्षा लेने का निश्चय किया। यह समाचार शोभा से छिपा नहीं रहा। अचानक शोभा के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि वह भी सन्त महाराज से 'नाम' ले। इस घटना के बारे में उन्होंने जो कहा है, वह यों है-28 आषाढ़, सन् 1936। इस दिन जब मेरी नींद खुली तब मेरे मन में किसी प्रकार का संशय नहीं था। अपूर्व शान्ति से मेरा हृदय परिपर्णू था। यह कैसे हुआ, मुझे पता नहीं। शायद कृपामय की कृपा से हुआ।

शोभा माँ के गुरुदेव कितने महान् पुरुष थे। शोभा माँ अक्सर अपने भक्तों से कहा करती थीं।-गुरू और इष्ट एक ही हैं। जो व्यक्ति इष्ट-बुद्धि से गुरु-सेवा तथा गुरु-वेदान्त-वाक्य द्विधाहीन चित्त से मानकर चलता है, उसे इष्ट-सालोक्य, सारूप्य और सायुज्य प्राप्त होता है। जीव के कल्याण के लिए ही इष्ट गुरू के

रूप में आकर जीव को पुन: उनके साथ मिला देते हैं। तुम लोग उन्हीं के यहाँ से आये हो और अन्त में उन्हीं के निकट जाना है। अर्थ के द्वारा गुरू को न तो वश में किया जा सकता है और न उनके मन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। उन्हें बन्धन में बांधा भी नहीं जा सकता केवल भक्ति द्वारा समझा जा सकता है, क्योंकि अन्त में उन्हीं में लीन होना पड़ता है।

पौष-संक्राति के दिन शोभा जब ठाकुर को भोग देने गयी तो देखा-केवल भात और आलू का भर्ता है। इस अन्न का भोग कैसे लगाती? दु:ख के कारण उसकी आँखें छलछला आयी। जब तक वह अपने ठाकुर को भोग नहीं देती तब तक स्वयं नहीं खाती। इसी ऊहापोह में थी कि इसी समय ठाकुर श्रीकृष्ण प्रकट होकर बोले- "मैं भक्तों का प्रेमी हूँ। बेकार दु:ख कर रही हो। मैं अच्छा-खराब दोनों ही प्रकार के भोजन कर लेता हूँ। बस, भक्ति-भाव से दिया जाय।" इतना कहने के बाद श्रीकृष्ण भोजन करने लगे और शोभा उनकी आरती करने लगी।

शोभा माँ जहाँ जाती, वहीं इस प्रकार की घटनाएँ हो जाती थीं। एक बार शोभा माँ बाबाजी महाराज की तरह समाधि-अवस्था में आसन से नीचे उतर आयीं । रेशमी आसन पर दो सुन्दर पदचिन्ह थे। पिता ने सोचा-यह बाबाजी महाराज़ की कृपा है। बातचीत के सिलसिले में अन्य लोगों ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। लड़की के पैरों से उन चिन्हों को मिलाया गया। जितनी बार मिलाया गया, उतनी बार पदचिन्ह के छाप शोभा माँ के पैरों से बड़े ज्ञात हुए। लेकिन पिता जी के मन में शंका दूर नहीं हुई। दूसरे दिन शोभा ने अपने पिताजी से कहा-"पिताजी, बाबाजी महाराज ने कहा है- सुकुमार व्यर्थ में क्यों कष्ट पा रहा है, उसे कहना कि ये पदचिन्ह मेरे ही हैं। उसे लालचन्दन से रँगकर पूजा किया करे।"

सुकुमार बाबू के परिचतों में शिशिरकुमार भी थे। शोभा के चमत्कारों को वे सुन चुके थे। उसके मन में यह सवाल उठा कि शोभा अपने पूर्व जन्म के बारे में कुछ बता सकती है या नहीं। इसी इच्छा को लेकर वे आये और शोभा माँ से प्रश्न किया। इस प्रश्न को सुनकर शोभा माँ समाधिस्थ हो गयीं। इसके बाद वे कहने लगीं-मेरे पूर्वजन्म के पिता का नाम प्रमोदचन्द्र चट्टोपाध्याय और माता का नाम अक्षयसुन्दरी था। मुझे लोग कात्यायनी के नाम से पुकारते थे। कात्यायनी को आठ वर्ष की उम्र में ही देवी-कृपा प्राप्त हो गयी थी। उन दिनों उसका कोई गुरु नहीं था। त्रिपुरा जिले के कुण्डा गाँव में ही उसके माता-पिता रहते थे। कात्यायनी जब

10 वर्ष की हुई तब कुण्डा गाँव वाला मकान बेचकर काशी चले गये थे। वर्तमान समय में जिस मकान में सुकुमार बाबू हैं, इसी मकान में कात्यायनी को देवी-कृपा प्राप्त हुई थी। काशी जाकर कात्यायनी बराबर साधन-भजन करती रही। पचास वर्ष की उम्र में अविवाहित अवस्था में स्वर्गवासी हो गयी थी।

महापुरुषों के साथ रहने पर कभी-कभी अलौकिक दर्शन हो जाता है। सन् 1955 ई., में शोभा माँ पुरी-दर्शन करने गयी थीं। साथ में कुछ लोग थे। एक दिन समुद्र-किनारे सभी बैठे थे। बातचीत के सिलसिले में आभा दासगुप्ता ने आदर के साथ कहा-माँ, आपके साथ हम लोगों को अनेक तीर्थों का दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सभी लोगों के साथ कुछ दूर आने के बाद माँ ने अचानक कहा-"देखो, देखो, वह व्यक्ति कितने अद्‌भुत् ढंग से पानी पर चल रहा है। लेकिन यह भी देखो कि पानी उसके पंजों से ऊपर नहीं उठ रहा है।" यह एक अद्‌भुत् दृश्य था। इस दृश्य के द्वारा माँ ने समुद्रदेव का दर्शन उन्हें कराया।

धर्म संघ मे नारी कें कर्त्तव्य एवं अधिकार-

अथर्ववेद में स्त्री के इन कर्तव्यों का उल्लेख है- घर में जल रखना, पानी भरकर लाना, एकत्रित होकर जल भरने जाना, उत्तम जल लाना, ऋतु के अनुकूल खाना पकाना, सुन्दर वस्त्र तथा आभूषणादि पहनना। भोजन पकाना, यज्ञ करना, अतिथिसत्कार, पशुरक्षा तथा घर की व्यवस्था करना। अथर्ववेद में कहा गया है कि स्त्री शुद्ध पवित्र रहे और यज्ञ करे। स्त्री गृहस्थ में जागरूक होकर रहे। स्त्री स्वयं शूर हो और शूर पुत्रों को जन्म दे। स्त्री सुसन्तान उत्पन्न करके राष्ट्र की उन्नति और समृद्धि करे।

स्त्रियों के अधिकार- वेदों में नारी का जो वर्णन हुआ है, उसमे ज्ञात होता है कि उस समय समाज में नारी का स्थान गौरवपूर्ण था। स्त्री पुरूष की सहयोगिनी और सहायिका थी। स्त्री पुरूषों के साथ यज्ञ में बैठती थी और उसे यज्ञ करने का अधिकार था। वह युद्ध में पुरूषों के साथ जाया करती थी और युद्ध के कार्यो में भाग भी लेती थी। अथर्ववेद में माता के गुणों ओर कर्तव्यों की और संकेत किया गया है - वह माता (बालकों का हित-साधन करने वाली), पृथिवी (पृथिवी के तुल्य पुत्रों की उन्नति के लिए कष्ट सहने वाली), भूरिवर्पस् (कर्म)।

ब्राह्मणग्रंथ, आरण्यक और उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियों की स्थिति गौरवपूर्ण थी। उन्हें समाज में उचित सम्मान प्राप्त था। गौपथ ब्राह्मण में स्त्रियों को 'श्री' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि उस समय स्त्री गृहलक्ष्मी मानी जाती थी। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में स्त्री को सावित्री अर्थात् गायत्री के तुल्य पवित्र माना गया है। स्त्रियाँ कला प्रेमी होती थी, अतएव नाचने और गाने वाले को स्त्रियाँ अधिक पसन्द करती थी। पत्नी के विषय में कहा गया है कि वह पति की अर्धांगिनी होती है। यज्ञ में पत्नी साथ नहीं बैठती है तो वह यज्ञ अपूर्ण माना जाता है। पत्नी ही श्री और लक्ष्मी है, वही घर की प्रतिष्ठा है। ऐतरेय और गोपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि समय बहुविवाह का प्रचलन था। एक पुरूष कई विवाह कर सकता था, परन्तु एक स्त्री अनेक पुरूषों से विवाह नहीं कर सकती थी।

स्त्री के लिए 'जाया' शब्द भी प्रयुक्त होता था। इसकी व्याख्या में कहा गया है कि स्त्री के बिना मुनष्य अपूर्ण है। स्त्री अर्धांगिनी है। वह पुरूष को पूर्ण बनाती है। उसकी पूर्णता से ही सन्तान होती है और वंश चलता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लेख है कि ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थी - मैत्रेयी और कात्यायनी। इनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी एवं उच्च कोटि की विदुषी थी। इसी उपनिषद में उल्लेख है कि विदेहराज जनक की राजसभा में कई विदुषी स्त्रियाँ थी, जिनमें गार्गी वाचक्नवी अनुपम प्रतिभा वाली स्त्री थी। उसने प्रश्नोत्तर में याज्ञवल्क्य के दाँत खट्टे कर दिये थे। उसके प्रश्नों का उत्तर देने में याज्ञवल्क्य भी चकरा जाते थे। इसमें ज्ञात होता है कि उपनिषदों के समय में स्त्री शिक्षा का प्रर्याप्त प्रचलन था। स्त्रियाँ भी उच्च कोटि की विदुषी ब्रह्मवादिनी ओर शास्त्रार्थ-महारथी होती थी। सूत्र ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सूत्रकाल में स्त्री शिक्षा का प्रचलन था। स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी। उन्हें आचार्य ओर ऋषि की कोटि में भी रखा गया है। अश्वलायन गृह्यसूत्र में ऋषितर्पण की व्याख्या है इसमें गार्गी वाचक्नवी, वडवा प्रातिथेयी एवं सुलभ मैत्रेयी इन तीन शिक्षिकाओं को ऋषि रूप में सम्बोधित किया गया है। गोभिल और काठक गृह्यासूत्रों से ज्ञात होता है कि उस समय

स्त्रियाँ पढ़ी लिखी होती थी और वे यज्ञादि में मन्त्रों का उच्चारण करती थीं। इसी प्रकार वात्स्यायन के कामसूत्र में उल्लेख है कि स्त्रियाँ नाचना, गाना, चित्रकारी आदि कलाएँ सीखती थी। विवाह के पश्चात् पति की आज्ञा से वे इन विषयों में निपुणता भी प्राप्त करती थी। कलाओं में नृत्य गीत आदि के अतिरिक्त सम्यापूर्ति, पद्य-रचना एवं साहित्य आदि विभिन्न विषयों का समावेश था। धर्म सूत्र और विष्णु धर्मसूत्र में उपाध्याय की परिभाषा इस प्रकार दी गई है कि जो वेद का कोई अंग छात्रों को पढ़ाता है और अपनी अजीविका इससे चलाता है, उसे 'उपाध्याय' कहते है। सूत्रकाल में स्त्रियाँ भी शिष्यों ओर कन्याओं का यज्ञोपवीत करती थी और उन्हें वेदादि की शिक्षा देती थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र और बौधायन धर्मसूत्र में उल्लेख है कि शुभ विद्या अर्थात व्यवहारोपयोगी विद्या ब्राह्मण भी शुद्र से सीखे। इसमें स्पष्ट है कि स्त्री और शूद्र भी कुछ विष्यों में विशेष याग्य होते थे और उनमें ब्राह्मण भी शिक्षा ले सकते थे। आपस्तम्ब गृह्मसूत्र और कामसूत्र के मत से उस कन्या से विवाह करना चाहिए, जिसके नाम के अन्त में र या ल हो। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने पति-पत्नी को धार्मिक कृत्यों में समान माना है। कामसूत्र ने स्त्रियों को पुष्पों के समान माना है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार पुत्र को चाहिए कि वह सदा अपनी माता की सेवा करे, भले ही वह जातिच्युत हो चुकी हो। अष्टाध्यायी से स्त्री-जीवन से सम्बद्ध अनेक तथ्यों का ज्ञान होता है। अल्पायु की कन्या को कुमारी, किशोरी या कन्या कहते थे। कुछ स्त्रियाँ आजीवन कुमारी रहती थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतंजलि के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी तक स्त्रियों को उच्चशिक्षा का अधिकार प्राप्त था। उनका यज्ञोपवीत भी होता था। वे वेदादि शास्त्र भी पढ़ती थी, बड़ी आयु में उनका विवाह होता था और स्त्रियों को शासन-प्रबन्ध में उचित स्थान और अधिकार प्राप्त था। इसमें स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों को शिक्षा, राजनीति, गृहप्रबन्ध आदि में पुरूषों के समान अधिकार प्राप्त थे। समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। वाल्मीकि रामायण और महाभारत के अध्ययन से ज्ञाता होता है कि उस समय स्त्रियों को समाज में प्रर्याप्त सम्मान प्राप्त था। उन्हें मातृशक्ति का प्रतीक माना जाता था। उनकी शिक्षा की उचित व्यवस्था थी। कुछ स्त्रियाँ सन्ध्या और यज्ञ भी करती थी। उन्हें राजनीति की भी शिक्षा

प्राप्त होती थी, जिसके कारण कतिपय स्त्रियाँ राजनीति में अत्यन्त निपुण हो गयी थी। उन्होंने यथा समय राजधर्म का उपदेश भी दिया है। महाभारत में माता को सर्वश्रेष्ठ गुरू बताया गया है। महाभारत का कथन है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और माता से बढ़कर कोई गुरू नहीं है। जो माता की भक्ति करता है, वह लोक ओर परलोक दानों को जीत लेता है। माता पिता और गुरू के समान ही पूज्य है। रामायण में राम और सीता के साथ वन जाते हुए लक्ष्मण को उसकी माता सुमित्रा ने कर्तव्य शिक्षा दी है कि वह सदा बड़े भाई का अनुरागी रहे। सुमित्रा के उपदेश से ज्ञात होता है कि वह सुशिक्षित विदुषी रानी थी। महाभारत में वर्णन है कि महर्षि उद्दालक के शिष्य कुहोड़ अत्यन्त मेधावी शिष्य थे। उनकी पत्नी वेद सुनाती थी, अतः उनका पुत्र अष्टावक्र वेद और शास्त्रों का असाधारण विद्वान हुआ। वाल्मीकि रामायण में वर्णन आता है कि उस समय स्त्रियों की शिक्षा की उचित व्यवस्था थी। कौशल्या मन्त्रपूर्वक हवन करती थी। रामायण में ही उल्लिखित है कि राम और लक्ष्मण के साथ ही सीता नियमित रूप से सन्ध्या करती थी। सीता-हरण के पश्चात् राम का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि यदि सीता यहाँ है तो इस नदी पर अवश्य सन्ध्या करने आएगीं। रामायण और महाभारत से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियों की शिक्षा की उचित व्यवस्था थी। उनको पढ़ाने का काम प्रायः अनुभवी विद्वानों को सौंपा जाता था। दमयन्ती ने स्वयंवर में कपटवेशधारी इन्द्र को अपनी विद्या के बल पर पहचाना था। दमयन्ती ने अपनी शिक्षा का परिचय देते हुए कहा कि मैने वृद्धों से यह पढ़ा है कि बिना काल आए कोई नहीं मरता। इसी प्रकार कुन्ती ने युधिष्टिर को क्षात्र धर्म की शिक्षा दी है। द्रौपदी ने भी महाभारत में अपनी शिक्षा का परिचय दिया है कि पत्नी पति की रक्षक होती है। इसी प्रकार द्रोपदी ने कर्मफल की व्याख्या की है कि सुख-दुःख रथचक्र के तुल्य परिवर्तित होते रहते है। भागवत पुराण से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्री अध्यापिका होती थी। वे वेद, शास्त्र, दर्शन और अध्यात्म विद्या में निपुण होती थी। भागवत पुराण में ज्ञान और विज्ञान में निपुण दाक्षायण की दो पुत्रियों-वयुना और धारिणी, का उल्लेख है। ये दोनों ब्रह्मवादिनी थी।

प्राचीन भारत में नारी की स्थिति-

प्राचीन भारत में स्त्रियों को आदि-शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। स्त्रियाँ देवी कही गयी है और उन्हें मातृशक्ति के रूप में शक्ति का प्रतीक माना गया है। अतएव गोपथ ब्राह्मण में स्त्री कोश्री का रूप माना गया है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में स्त्री को साक्षात् सावित्री अर्थात गायत्री का रूप माना गया है। स्त्री में गायत्री की पवित्रता को लेकर ही श्री रूप माना गया है। यजुर्वेद में विराट रूप विष्णु की दो पत्नियों का उल्लेख है। उन्हें श्री और लक्ष्मी नाम दिया गया है।

संसार में जितना ऐश्वर्य ओर सौन्दर्य है, वह श्री और लक्ष्मी के रूप में जाना जाता है। इन दोनों को विष्णु की पत्नी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इससे स्त्री के गौरव और महत्त्व का बोध होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पत्नी को श्री या लक्ष्मी कहा गया है और उन्हे गृह की प्रतिष्ठा माना गया है। इतना ही नहीं पत्नी के बिना यज्ञ को अपूर्ण माना गया है, अत: यज्ञ में पत्नी की उपस्थिति भी अनिवार्य थी।

पत्नी को अर्धांगिनी कहा गया है। देवी के रूप में वह विद्यायुक्त, शक्तिशालिनी, दानशीला, अन्नपूर्णा और अक्षय सुख शान्ति का आगार कही गयी है। आचार्य पाणिनि के समय में स्त्रियाँ सुशिक्षित, विदुषी, और आचार्या तक होती थी। अतएव पाणिनि ने अध्यापन कार्य करने वाली आचार्या और उपाध्याया का उल्लेख है।

छान्दोग्य उपनिषद् में केकय-नरेश अश्वपति का उल्लेख मिलता है कि उसके राज्य में कोई चरित्रहीन नहीं था। सभी स्मृतियों में स्त्रियों के संरक्षण की बात कही गयी है और कहा गया है कि स्त्रियों को भोजन, वस्त्र आदि के द्वारा सदा सत्कृत करना चाहिए।

मनु का यह कथल सत्य है कि जहाँ पति-पत्नी एक दूसरे से सन्तुष्ट रहते है, वहाँ सदा कल्याण रहता है। जहाँ पति-पत्नी एक दूसरे से असन्तुष्ट रहते हैं, वहाँ कभी उत्तम सन्तान नहीं हो सकती है।

नारी सन्यास की दार्शनिक परम्परा -

परकालीन आचार्या ने भी स्त्रियों को विशेष सम्मान दिया है शंकराचार्य और मण्डन मित्र के शास्त्रार्थ में भारती को मध्यस्थ नियुक्त किया गया था। भास्कर द्वितीय ने अपनी विदुषी कन्या लीलावती के नाम पर अपने गणित के बहुमूल्य ग्रन्थ का नाम 'लीलावती' रखा। समाज में सभी स्त्रियाँ समान नहीं थी। एक ओर विदुषी, सती, साध्वीं थी तो दूसरी ओर कुछ स्त्रियाँ चरित्रहीन भी थी। जो स्त्री निन्दा के चित्र पुरातन साहित्य में मिलते हैं वे इन्हीं स्त्रियों की निन्दा है। यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल से ईसा पूर्व तक स्त्रियों को पुरूषों के तुल्य सभी क्षेत्रों मे समान अधिकार प्राप्त था। वे उच्चशिक्षा प्राप्त कर सकती थी। वे यज्ञोपवीत पहनती थी। वेद, शस्त्र और दर्शन पढ़ती थी। पुरूषों के साथ शास्त्रार्थ भी करती थी। अध्यात्म-चर्चा में वे भाग लेती थी। पुत्र के अभाव में पुत्री को राज्यशासन का काम दिया जाता था।

ईसा परवर्ती काल में अधिकांश स्मृतियों की रचना हुई है, उन्हें वेदादि के अध्ययन से प्रायः वंचित किया गया है और उनको समान अधिकार नहीं दिया गया है।

यज्ञ में स्त्रियाँ- दक्ष स्मृति का कथन है कि यज्ञ स्वयं करना चाहिए। दूसरे के द्वारा यज्ञ करने से उतना फल नहीं प्राप्त होता है। मनु का मत है कि अविवाहिता पुत्री, विवाहिता युवा पुत्री, कम पढ़ा लिखा, मूर्ख व्यक्ति, रोगी तथा जिसका उपनयन न हुआ हो, ये लोग किसी गृहस्थ के स्थान पर अग्निहोत्र नहीं कर सकते है।

वैदिक कर्म में प्रवीण लोगों को ही हवनकर्ता बनाना चाहिए। लघवाशवलायन के मतानुसार जहाँ पत्नी रहती है, वहाँ ही यज्ञ हो सकता है। अतः गृहस्थ को घर के बाहर अधिक दिन नहीं रहना चाहिए। पुरोहित उतने दिन तक पत्नी की अध्यक्षता में यज्ञ कर सकता है। गोभिल स्मृति के अनुसार जब पत्नी और पति बाहर गए हो तो पुरोहित को गृहस्थ के स्थान पर यज्ञ नहीं करना चाहिए, क्योकि उनके अभाव में यज्ञ निष्फल और निरर्थक होता है। बौधायन ने पति-पत्नी दोनों को यज्ञ करने का

आदेश दिया है और उन्हें ऋत्विज के समान माना है। पराशर स्मृति ने मासिक धर्म के तीन दिनों में स्त्री को यज्ञ न करने का आदेश दिया है। वह चौथे दिन स्नान से शुद्ध होकर देवयज्ञ और पितृयज्ञ करें। वृद्ध हारीत ने स्पष्ट रूप से स्त्री को यज्ञ करने और वेद के मन्त्रों का जप करने का विधान किया है। वृद्ध हारीत का कथन है कि स्त्री गायत्री मन्त्र का जप कर, पूजा करे और प्रतिदिन यज्ञ कर। साथ ही वह यज्ञ के पात्रों आदि को ठीक ढंग से स्वच्छ करके रखे।

कात्यायन का कथन है कि प्रवास में जाते समय पति यज्ञ का समस्त भार पत्नी को देकर जाए। यज्ञ पवित्र कार्य है, अतः आज्ञा कारिणी, चतुर, प्रिय बोलने वाली पत्नी को यज्ञ का कार्य सौंपे। यज्ञ के द्वारा सौभाग्य, अवैधव्य, पतिभक्ति आदि गुण प्राप्त होतें है। पति को चाहिए कि पत्नी के साथ ही यज्ञ करे। कात्यायन का ही कथन है कि जिस यज्ञ में पति के साथ स्त्री नहीं बैठती है, वह यज्ञ न किए हुए के समान है। ऐसे यज्ञ से लाभ नहीं होता है।

यज्ञ-कार्य में द्रोह ओर द्वेष करने वाले, व्रतहीन एवं दुश्चरित्र स्त्री को न लगावे। विष्णु स्मृति के अनुसार यदि एक ही वर्ण को कई पत्नियाँ हो तो उनमें सबसे पहले जिससे विवाह हुआ हो उसी के साथ धार्मिक कृत्य किए जाएँ।

जाप- याज्ञवल्क्य ने जप को सन्ध्या-पूजन का एक भाग माना है। मनुष्य को अपनी सामर्थ्य के अनुसार वेद, अथर्ववेद, पुराण और इतिहास का जप करना चाहिए। गौतम और वशिष्ट ने भी जप का वर्णन किया है। जप तीन प्रकार के होते है। वाचिक, उपांशु और मानस। **1. वाचिक**- स्पष्ट उच्चरित को वाचिक कहते है। **2. उपांशु**- अस्पष्ट अर्थात् न सुनाई देने योग्य को उपांशु कहते है। **3. मानस**- मन में कहना मानस कहलाता है। इनमें मानस को सर्वोत्तम, उपांशु को मध्यम और वाचिक को निम्न श्रेणी का माना गया है। मनु के अनुसार यज्ञो में जप-यज्ञ का फल दस गुना, उपांशु यज्ञ का सौ गुना और मानस जप का सहस्त्र गुना फल होता है। यज्ञीय विधि-विधानों के विशद विवेचन के साथ-साथ संस्कारों की विस्तृत श्रृंखला भी है, जिससे स्त्री-पुरुष संस्कारित होते हैं, ये निम्नांकित हैं -

संस्कार- संस्कार शब्द प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं मिलता है। जैमिनि के मीमांसादर्शन में संस्कार शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है। मीमांसादर्शन में संस्कोर शब्द उपनयन के लिए प्रयोग में आया है। मीमांसादर्शन के भाष्यकार शबर स्वामी के अनुसार संस्कार का लक्षण है, जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है।

संस्कारों का उद्देश्य- मनुस्मृति का कथन है कि गर्भाधान, जातकर्म, मुण्डन और यज्ञोपवीत आदि संस्कारों से माता-पिता के वीर्य और गर्भ-सम्बन्धी सभी दोष नष्ट हो जाते है। याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भाधान आदि संस्कार करने से वीर्य तथा गर्भ से सम्बद्ध दोष नष्ट हो जाते हैं मनु के अनुसार वेदाध्ययन, व्रत, दोनों समय हव, त्रैविद्य नामक व्रत, देवयज्ञ ओर पितृयज्ञ आदि, गृहस्थाश्रम में पुत्रोत्पादन, पाँच महायज्ञों और ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के करने से शरीर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य होता है।

संस्कारों की संख्या एवं नाम- स्मृतिकारों ने संस्कारों की संख्या भिन्न-भिन्न बताइ है। सभी स्मृतिकारों का मत भिन्न-भिन्न है। गौतम के अनुसार 16 संस्कार है।

1. गर्भाधान, 2. पुंसवन, 3. सौमन्तोन्नयन, 4. जातकम, 5. नामकरण, 6. निष्क्रमण, 7. अन्नप्राशन, 8. मुण्डन, 9. कर्णवेध, 10. उपनयन, 11. वेदारम्भ, 12. केशान्त, 13. समावर्तन, 14. विवाह, 15. विवाह की अग्नि का ग्रहण, 16. दक्षिणाग्नि गार्हपत्य और आहवनीय, इन तीन अग्नियों का ग्रहण। ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्य संहिता में भी संस्कार गिनाए गए है। इस प्रकार स्मृतियों में संस्कारों और संस्कारों का वर्णन है। व्यास स्मृति का कथन है कि स्त्रियों के लिए कर्णवेध तक नौ संस्कारों में मन्त्रपाठ आवश्यक नहीं है। विवाह में मन्त्रपाठ होगा। याज्ञवल्क्य और मनु का भी मत है कि स्त्रियों का विवाह-संस्कार ही वैदिक विधि से मन्त्रपाठ सहित होता है, शेष संस्कार बिना मन्त्र के ही होते है।

1. गर्भाधान संस्कार -

अथर्ववेद में गर्भाधान का विस्तार से वर्णन मिलता है। याज्ञवल्क्य और व्यास स्मृति के अनुसार गर्भ-स्थापन के समय गर्भाधान संस्कार होता है। शंख्स्मृति के अनुसार गर्भ-स्थापन के समय गर्भाधान संस्कार होता है। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भधारण का वास्तविक समय मासिक धर्म की अभिव्यक्ति के उपरान्त सोलह रात्रियाँ है। मनु ने रात्रियों में प्रथम चार रात्रियों को निन्दित माना है और शेष दस रात्रियों को श्रेष्ठ माना है। पराशर स्मृति के अनुसार रजस्वला स्त्री चौथे दिन स्नान करके शुद्ध हो जाती है अर्थात चार रात्रियों के बाद गर्भाधान किया जा सकता है।

2. पुंसवन संस्कार -

पुंसवन शब्द अथर्ववेद में आया है, जिसका अर्थ है 'लड़के का जन्म देना'। अश्वलायनगृह्यसूत्र, आपस्तम्बगृह्यसूत्र, हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र और भारद्वाज गृह्यसूत्रों में पुंसवन संस्कार का विस्तार से वर्णन मिलता है। संस्कार प्रकाश के अनुसर इसको पुंसवन नाम इसलिए दिया गया है, क्योंकि इसके करने से पुत्रोत्पत्ति होती है। व्यास स्मृति के अनुसार गर्भाधान के तीसरे महीने से पुंसवन संस्कार होना चाहिए। याज्ञवल्क्य और शंख स्मृति के अनुसार गर्भ के हिलने के पहले पुंसवन संस्कार होना चाहिए। लघु आश्वलायन स्मृति के अनुसार तीसरे मास में पुंसवन संस्कार करना चाहिए। बृहस्पति के अनुसार पुंसवन संस्कार तीसरे, चौथे, छठे या आठवें मास में करना चाहिए।

3. सीमन्तोन्नयन संस्कार -

लघु आश्वलायन के अनुसार स्त्री के केशों को विभक्त करने को सीमन्त कहते है। यह सधवा स्त्री का चिन्ह है और सदा सौभाग्य को देने वाला है। आठवें मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार करना चाहिए। लघु आश्वलायन के अनुसार चौथे मास मे सीमन्तोन्नयन संस्कार करना चाहिए। याज्ञवल्क्य

और शंख के अनुसार गर्भाधान के छठें या आठवें मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार होता है। ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्य और बृहद पराशर के अनुसर छठे या आठवें मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार करना चाहिए। विष्णु के अनुसार सीमन्तोन्नयन स्त्री का संस्कार नहीं है, किन्तु गर्भ का संस्कार है। इसलिए प्रत्येक गर्भ में सीमन्तोन्नयन संस्कार करना चाहिए।

4. जातकर्म संस्कार -

व्यास के अनुसार सन्तान उत्पन्न होने पर जातकर्म संस्कार होता है। याज्ञवल्क्य, शंख, विष्णु के अनुसार सन्तान के उत्पन्न होने पर यह संस्कार होता है। बृहत पराशर के अनुसार उत्पन्न हुए बालक का श्राद्धपूर्वक जातकर्म संस्कार करना चाहिए। मनु के अनुसार नाभिच्छेदन (नाल काटने) के पहले बालक का जात कर्म संस्कार किया जाता है। बृहस्पति के अनुसार कन्या के जातकर्म में विशेष रूप से कन्या को आभूषण आदि पहनाये जाएँ, इससे बालिका की आयु और कान्ति बढ़ती है।

5. नामकरण संस्कार -

बृहत् पराशर, याज्ञवल्क्य और व्यास स्मृति के अनुसार जन्म के ग्यारहवें दिन नामकरण करना चाहिए। मनु के अनुसार जन्म के दसवें दिन या शुभ तिथि या मुहूर्त में नामकरण संस्कार किया जाता है। शंख स्मृति के अनुसार जन्म का अशौच बीत जाने पर बालक का नामकरण करना चाहिए। बृहस्पति के अनुसार नामकरण संस्कार ग्यारहवें दिन होता है। बच्चे का बहुत विचार कर शुभ नाम रखे। शुभ नाम से यश एवं सिद्धि मिलती है। मनु और शंख के अनुसार ब्राह्मण का नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धनवाचक शब्द से युक्त और शूद्र का निन्दित शब्द से युक्त नाम रखना चाहिए। ब्राह्मण का शर्मा, क्षत्रिय का रक्षा शब्द से युक्त (वर्मा), वैश्य का धन शब्द से युक्त

नाम रखना चाहिए। स्त्रियों का नाम सुखपूर्वक उच्चारण करने योग्य, अक्रूर, स्पष्ट अर्थ वाला, मनोहर, मंगलसूचक, अन्त में दीर्घ अक्षर वाला और आशीर्वाद से युक्त अर्थ वाला नाम रखना चाहिए।

6. निष्क्रमण संस्कार -

मनु, याज्ञवल्क्य, शंख और व्यास स्मृति के अनुसार चौथे मास में निष्क्रमण संस्कार करना चाहिए। उस दिन चन्द्रमा का दर्शन बच्चे को कराया जाता है। लधु आश्वलायन के अनुसार चौथे मास में पिता बच्चे को लेकर घर से बाहर निकले। अपने ससुर के घर या किसी अन्य के घर या आंगन में खड़े हो कर सूर्य का दर्शन कराना चाहिए। सूर्य का दर्शन कराकर घर में ले जाना चाहिए। बृहस्पति के अनुसर तीसरे मास में निष्क्रमण संस्कार होता है।

8. अन्नप्राशन संस्कार -

व्यास, याज्ञवल्क्य, विष्णु और शंख स्मृति के अनुसार अन्नप्राशन संस्कार छठे मास में होना चाहिए। मनु के अनुसार छठे मास में या जैसा कुल का नियम हो, उसकी प्रकार अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिए। लधु आश्वलायन के अनुसार छठे, आठवें, दसवें, बारहवें मास में कभी भी अन्नप्राश्न हो सकता है। लधु आश्वलायन के अनुसार सोने, चाँदी या काँसे के नये बर्तन में दूध, दहीं, घी, मधु और अन्न रखकर 'अन्नपतेऽन्नस्य०' मन्त्र से सेने की चम्मच या हाथ से बालक को भोजन कराना चाहिए तथा जल पिलाना चाहिए। पुत्री का अन्नप्राशन बिना मन्त्र के करना चाहिए।

9. चूडाकर्म (मुण्डन संस्कार) -

व्यास, याज्ञवल्क्य, शंख और ब्रह्मोक्त याज्ञवाल्क्य के अनुसार चूडाकर्म कुल की रीति के अनुसार करना चाहिए। मनु के अनुसार चूडाकर्म पहले या तीसरे वर्ष में करना चाहिए। विष्णु के

अनुसार तीसरे वर्ष में करना चाहिए। लघु आश्वलायन के अनुसार तीसरे वर्ष में, उत्तरायण में, शुभ मास या शुभ दिन चूडाकर्म करना चाहिए। बृहस्पति के अनुसार तीसरे या पाँचवें वर्ष मुण्डन करावे। इसके लिए उत्तरायण शुक्ल पक्ष शुभ है।

10. कर्णवेध संस्कार -

व्यासस्मृति के अनुसार मुण्डन के पश्चात् कर्णवेध संस्कार करना चाहिए। कात्यायन गृह्यसूत्र के अनुसार कर्णवेधा तीसरे या पाँचवें वर्ष में होता है। कर्णवेध संस्कार में कान और स्त्रियों की नाम भी वेधी जाती है। बृहस्पति के अनुसार छठे या आठवें मास में कर्णवेध करे। कर्णवेध का समय प्रातःका सर्वोत्तम है, तीसरे पहर ने करे। कान में दर्जी से सूई में दुहरा धागा लेकर छेद करवावे। सूई सोने, चाँदी, ताँबे या लोहे की हो। अपनी सामर्थ्य के अनुसार राजा सोने की सूई से, ब्राह्मण और वैश्य चाँदी की सूई से और शूद्र लोहे की सूई से कान छिदवावे।

11. उपनयन संस्कार -

उपनयन का अर्थ है - 'पास या सन्निकट ले जाना' अर्थात् आचार्य के पास शिक्षा के लिए ले जाना। संस्कार प्रकाश के अनुसार उपनयन के दो अर्थ होते है - 1. बच्चे को आचार्य के निकट ले जाना, 2. वह संस्कार या कृत्य जिसके द्वारा बालक आचार्य के पास ले जाया जाता है। पहला अर्थ प्रारम्भिक है, कालान्तर में इसका विस्तार हो गया। तैत्तिरीय-संहिता में तीन ऋणों के वर्णन में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्य शब्द आया है। ब्राह्मण जन्म से ही तीन वर्णो के व्यक्तियों का ऋणी होता है। ब्रह्मचर्य से ऋषियों के प्रति अनृण होता है, यज्ञ से देवताओं के प्रति और सन्तति से पितरों के प्रति। जिसके पुत्र होता है, जो यज्ञ करता है और जो ब्रह्मचारी के रूप में गुरू के पास जाता है, वह तीनों ऋणों से उऋण हो जाता है।

उपनयन की आयु एवं कालः मनु, व्यास, शंख, विष्णु और वसिष्ठ के अनुसार ब्राह्मण का गर्भ से आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष, वैश्य का बारहवें वर्ष उपनयन संस्कार करना चाहिए। मनु के अनुसार ब्रह्मविद्या और तेज की वृद्धि चाहने वाले ब्राह्मण का जनेऊ पाँचवें वर्ष, बल और पराक्रम की वृद्धि चाहने वाल क्षत्रिय का छठे वर्ष, धन की वृद्धि चाहने वाले वैश्य का आठवें वर्ष उपनयन करना चाहिए। गौतम के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन गर्भ से आठवें, नवें या पाँचसें वर्ष होना चाहिए। याज्ञवल्क्य और ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भकाल से या जन्म से आठवें वर्ष ब्राह्मण का, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष, वैश्य का बारहवें वर्ष या कुल की रीति के अनुसर उपनयन संस्कार करना चाहिए। बौधायन के अनुसार गर्भाधान से अष्टम वर्ष में ब्राह्मण का, नवें वर्ष में क्षत्रिय का और नवें वर्ष में वैश्य का उपनयन करे।

दण्ड (छड़ी): मनु के अनुसार ब्राह्मण का दण्ड बेल या पलाश, क्षत्रिय का दण्ड वट या खैर का और वैश्य का दण्ड पीलु या गूलर का होना चाहिए। गौतम के अनुसार ब्राह्मण का दण्ड बेल अथवा पलाश का, क्षत्रिय का दण्ड पीपल का, वैश्य का दण्ड पीलु का तथा तीनों वर्णो के ब्रह्मचारियों का दण्ड किसी यज्ञीय वृक्ष की लकड़ी का होना चाहिए। ब्राह्मण का दण्ड सिर तक, क्षत्रिय का ललाट तक और वैश्य का नाक तक लम्बा होना चाहिए।

स्त्रियों का उपनयनः

स्त्रियों का उपनयन होता था या नहीं, इस विषय में स्मृतिकारों में मतभेद है। स्मृतितत्त्व के अनुसार स्त्रियाँ दो प्रकार की है? ब्रह्मवादिनी या ज्ञानिनी, 2. सद्योवधू- जो सीधे विवाह कर लेती है। इनमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियों को उपनयन करना, अग्निहोत्र करना, वेदाध्ययन करना, अपने ही घर में भिक्षाटन करना पड़ता था, किन्तु सद्योवधुओं का विवाह के समय उपनयन कर दिया जाता था। गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार लड़कियों को उपनयन के प्रतीक के रूप में यज्ञोपवीत धारण करना पड़ता था।

हारीत के अनुसार मासिकधर्म चालू होने के पूर्व ही स्त्रियों का समावर्तन हो जाना चाहिए। हारीत के अनुसार ब्रह्मवादिनी नारियों का उपनयन गर्भाधान के आठवें वर्ष होता था, वे वेदाध्ययन करती थीं ओर उनका छात्रा-जीवन रजस्वला होने के पूर्व समाप्त हो जाता था। यम ने लिखा है कि प्राचीन काल में मूँज की मेखला बाँधना (उपनयन) नारियों के लिए भी एक नियम था। उन्हें वेद पढ़ाया जाता था। वे गायत्री मन्त्र का उच्चारण करती थी। उन्हें अपने पिता, चाचा, भाई पढ़ा सकते थे। अन्य कोई बाहरी पुरूष नहीं पढ़ा सकता था। वे घर में ही शिक्षा माँग सकती थी। उन्हें मृगचर्म, वल्कल वस्त्र नहीं पहनना पड़ता था और न वे जटाएँ रखती थी। भृगु के अनुसार लड़के-लड़कियाँ पाँच साल की अवस्था में यज्ञोपवीत धारण करके वेद पढ़े। पिता बालक और बालिकाओं को पाँच वर्ष की अवस्था में वेद-वेदांग पढ़ने के लिए गुरूकुलों में भेज दें। भृगु के अनुसार रजस्वला समय में, पति सम्पर्क अवस्था में स्त्रियाँ वेद न पढ़े, दूसरे समय में वेद पढ़ सकती है। स्त्रियाँ गुरूकुलों में पढ़े और शादी के बाद अपने पति से पढ़ सकती है। मनु के अनुसार स्त्रियों के सभी संस्कार यथा समय बिना मन्त्रों के करने चाहिएँ। व्यास के अनुसार भी स्त्रियों के सभी संस्कार बिना मन्त्रों के करने चाहिएँ। विवाह संस्कार वेदोक्त मन्त्रों से होना चाहिए। याज्ञवल्क्य के अनुसार स्त्रियों के सभी संस्कार बिना मन्त्रों के करने चाहिएँ। विवाह संस्कार मन्त्रों से होता है। मनु के अनुसार स्त्रियों का विवाह ही यज्ञोपवीत है, पतिसेवा ही गुरुकुल- निवास है और गृह कार्य ही अग्निहोत्र है।

12. वेदारम्भ संस्कार-

मनु, भृगु और बृहस्पति का कथन है कि यज्ञोपवीत संस्कार के बाद गुरू शिष्य को वेद पढ़ावे। मनु का कथन है कि शिष्य मन्त्रपाठ से पूर्व और अन्त में ओम् का उच्चारण करे। ओम्, भूः भुवः, स्वः कह कर बाद में गुरू गायत्री का उपदेश दे। शिष्य प्रातः और सायं गायत्री का जप करे। बृहस्पति का कथन है कि समावर्तन संस्कार तक शिष्य यज्ञ एवं भिक्षाचर्या करे और नीचे भूमि पर

सोवे। बौधायन के अनुसार ब्राह्मण को गायत्री छन्द वाली, क्षत्रिय को त्रिष्टुप छन्द वाली और वैश्य को जगती छन्द वाली गायत्री का उपदेश देना चाहिए।

13. केशान्त संस्कार-

इस संस्कार के अन्तर्गत बालक एवं बालिका का केश कटवाकर एक नई दिशा में प्रेरित करते हुए मुण्डन के आधार पर किया जाता है। इस विशेष अभिप्राय विद्याध्ययन से पूर्व किया जाता है। इसके बाद गुरुकुल में प्रवेश करता है।

14. समावर्तन संस्कार-

मनु और बृहस्पति के अनुसार विद्याध्ययन की समावर्तन या व्रतान्त संस्कार होता है। शिष्य गुरू को गुरूदक्षिणा देता है, इसमें शिष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन, सुवर्ण, भूमि, वस्त्रादि कुछ भी दे सकता है। समावर्तन संस्कार के पश्चात गुरूदक्षिणा देकर गुरू की आज्ञा प्राप्त कर शिष्य को विवाह का अधिकार होता है।

15. विवाह-संस्कार -

स्मृतियों में विवाह संस्कार का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। मनु ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्य, नारद, गौतम, शंख और बौधायन ने आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया है- ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। वसिष्ठ ने 6 प्रकार के विवाह बताए है- ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व, क्षात्र और मानुष। गौतम के अनुसार आठ विवाहों में प्रथम चार विवाह ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य धर्मानुकूल है।

(1) ब्राह्म विवाहः मनु, शंख, बौधायन, नारदीय मनु, गौतम और याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार ब्राह्म विवाह उस कहत ह, जब विद्वान् आर शालवान् वर का बुलाकर उत्तम वस्त्र आर आभूषणों से अलंकृत करके कन्या दान की जाती है। याज्ञवल्क्य के अनुसार इस विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को (अपने पूर्व की दस और आने वाली दस तथा अपनी पीढ़ी) पवित्र करता है। वसिष्ठ के अनुसार वर की इच्छा के अनुकूल जब संकल्पपूर्वक कन्या दी जाती है तो उसे ब्राह्म विवाह कहते है।

(2) दैव विवाहः मनु, ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्य, शंख, वसिष्ठ आदि के अनुसर जब पिता अलंकृत एवं सुसज्जित कन्या का किसी पुरोहित से, यज्ञ के अवसर पर विवाह करा देता है। तो वह दैव विवाह कहलाता है।

(3) आर्ष विवाहः याज्ञवल्क्य और ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्य के अनुसार जब दो गाएँ लेकर कन्या दी जाती है तब आर्ष विवाह कहलाता है। मनु के अुनसार जब गो-मिथुन (एक गाय और एक बैल) या गाय, बैल का एक जोड़ा वर से लेकर के विधिपूर्वक कन्या दी जाए तो आर्ष विवाह कहलाता है। मनु के अनुसार आर्ष विवाह विधि से विवाहित स्त्री से उत्पन्न पुत्र आगे और पीछे की तीन पीढ़ी को पापों से छुड़ा देता है।

(4) प्राजापत्य विवाहः गौतम और मनु के अनुसार वर को वधू यह कह कर दी जाती है कि तुम दोनों साथ में धर्म करो अर्थात सहधर्मचारी बनो, उसे प्राजापत्य विवाह कहते है। कन्या को आभूषण आदि से भूषित करके देने का विधान है। याज्ञवल्क्य और शंख के अनुसार जब माँगने वाले वर को कन्या दी जाती है, तब उसे प्राजापत्य विवाह कहते है। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार प्राजपत्य विवाह वाली कन्या से उत्पन्न पुत्र पूर्व तथा बाद की छः पीढ़ी के वंशजो को तथा अपने को अर्थात् तेरह पीढ़ी को पाप से मुक्त करता है।

(5) आसुर विवाहः मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार कन्या के पिता आदि को तथा कन्या को धन देकर स्वेच्छापूर्वक कन्या स्वीकार की जाती है तो उसे आसुर विवाह कहते है। गौतम, शंख और नारदीय मनू का भी मत है कि धन देकर किया गया विवाह आसुर विवाह है।

(6) गान्धर्व विवाहः कन्या और वर का परस्पर प्रेममूलक संयोग या मैथुन होता है, उसे मनु ने गान्धर्व विवाह की संज्ञा दी है। याज्ञवल्क्य आदि के अनुसार वर-वधू की प्रेममूलक स्वीकृति से होने वाला विवाह गान्धर्व विवाह है। मनु के अनुसार गान्धर्व विवाह से उत्पन्न पुत्र क्रूर, असत्यवादी और धर्म विरोधी होते है।

(7) राक्षस विवाहः मनु का कथन है कि जब कन्या के पक्ष वालों को मार पीटकर, अंगछेदन करके, चिल्लाती और रोती हुई कन्या का बल प्रयोग द्वारा हरण करके लाना राक्षस विवाह कहा जाता है। याज्ञवल्क्य आदि का कथन है कि युद्ध आदि द्वारा अपहुत या बल प्रयोग द्वारा लाई गयी कन्या से विवाह करने को राक्षस विवाह कहते है।

(8) पैशाच विवाहः मनु के अनुसार सोती हुई, उन्मत्त या मद्यपान से मत्त कन्या के साथ सम्भोगपूर्वक विवाह करना पैशाच विवाह कहा गया है। यह सबसे निकृष्ट विवाह है। याज्ञवल्क्य आदि का कथन है कि छलपूर्वक कन्याहरण को पैशाच विवाह कहते हैं। यह अधर्म विवाह माना गया है। मनु के अनुसार पैशाच विवाह से उत्पन्न पुत्र क्रूर, असत्यभाषी और अधर्मी होता है।

विवाह का उद्देश्य -

विवाह के दो मुख्य उद्देश्य हैं- पत्नी पति को धार्मिक कृत्यों के योग्य बनाती है, 2. वह पुत्रों की उत्पत्ति करती है। पुत्र ही पिता को नरक से बचाता है। मनु के अनसार पत्नी पर पुत्रोत्पत्ति, धार्मिक कृत्य, सेवा, सर्वोत्तम आनन्द, अपने तथा अपने पूर्वजों के लिए स्वर्ग की प्राप्ति निर्भर रहती है। मनु का कथन है कि सन्तान उत्पत्ति के लिए, सन्तान की रक्षा के लिए और गृहस्थ के सुखद

निर्वाह के लिए विवाह किया जाता है। नारदीयमनु का कथन है कि सन्तान के लिए स्त्रियों की सृष्टि हुई है। स्त्रियाँ क्षेत्र है, पुरूष बीज है और सन्तान उसका फल है।

(ग) कन्या के गुण

मनु के अनुसार ब्राह्मण को समावर्तन संस्कार के बाद गुरू की आज्ञा से अपने वर्ण की स्त्री से विवाह करना चाहिए। जो कन्या माता पिता के सपिण्ड (सात पीढ़ी तक) की न हो और पिता के गोत्र की न हो। याज्ञवल्क्य के विवाह करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों शूद्रत्व को प्राप्त है। याज्ञवल्क्य का भी कथन है कि द्वज जातियों को शूद्रा से विवाह नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे उत्पन्न पुत्र शूर्द होता है।

16. अन्त्येष्टि कर्म -

मनु और याज्ञवल्क्य में अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि कर्म बताया है। मृत्यु के पश्चात् पुरूष और स्त्री को स्नान कराकर नवीन वस्त्र पहनाया जाता है और श्मशान भूमि में ले जाकर चिता पर रखा जाता है। मृतक के पैर दक्षिण की ओर और सिर उत्तर की ओर रखा जाता है। लधु अश्वलायन स्मृति में प्रेतकर्म विधि का विस्तृत वर्णन है। दाहकर्म के अधिकारी ये बताए गए है - पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, स्त्री, भाई, भतीजा और दत्तक पुत्र। पूर्व के अभाव में बाद वाला दाहकर्म करेगा।

समाज में नारी के गुणों का महत्त्व-

औशनम और विष्णु स्मृतियों में गुणों को ही सबसे अधिक प्रमुखता दी गई है। कोई भी पुरूष या स्त्री इन गुणों से युक्त होने पर ही समाज में मान्य होगा। इसका क्रम यह है - विद्या, कर्म, आयु, जाति और धन। इनमें पूर्ववर्ती अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है और परवर्ती न्यून महत्त्व के होते गए है। विद्या ही सर्वश्रेष्ठ मान्यता का आधार है, तत्पश्चात् कर्म, तदनन्तर आयु, तदनन्तर जाति और अन्तिम महत्त्व की

वस्तु धन है। औशनस का कथन है कि निम्न जाति का भी व्यक्ति गुणों के आधार पर सर्वाधिक मान्य है। विष्णु का मत है कि ज्ञान से ही ब्राह्मण की श्रेष्ठता है, पराक्रम से क्षत्रिय की धन-धान्य से वैश्य की और जन्म या आयु से शूद्र की श्रेष्ठता होती है।

नारी का महत्त्वः मनु का कथन है कि स्त्री रूपी रत्न जहाँ से भी मिले, ले लेना चाहिए। इसी प्रकार की ग्राह्य वस्तुओं में मनु ने रत्न, विद्या, धर्म, स्वच्छता और सुभाषित को भी लिया है। पराशर स्मृति का कथन है कि कलियुग में स्त्रियों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है, क्योंकि स्त्रियों ने पुरूषों पर अपना अधिकार जमा लिया है। काम-भावना बढ़ गयी है और रतिसुख को महत्त्व दिया जाने लगा है। सती स्त्री घर में साक्षात् तीर्थ के तुल्य है। पराशर ने नारी को लक्ष्मी माना है और उन्हें सदा आभूषण आदि से संतुष्ट रखने का आदेश दिया है। जिस घर में स्त्री का सम्मान होता है, वहाँ सभी देवता, पितृगण और मनुष्य प्रसन्न रहते है। स्त्रियाँ ही सन्तुष्ट होने पर लक्ष्मी है। रूष्ट होने पर वे ही दुष्ट देवता है। सन्तुष्ट रहने पर कुल की श्रीवृद्धि करती है और रूष्ट होने पर कुल का नाश करती है। स्त्री के प्रसन्न रहने से मनुष्य के आयु, धन, यश और पुत्र बढ़ते है। स्त्री के अप्रसन्न रहिनेसे एवं उसके शाप से ये सभी चीजें नष्ट हो जाती है। अतएव पति, देवर, श्वसुर, भाई, माता, पिता और संबन्धियों को चाहिए कि वे स्त्रियों का अपमान न करें। स्त्री और पुरूष जहाँ मिलकर काम करते है, वहाँ धर्म, अर्थ और काम सभी सिद्ध होते है, क्योंकि इनकी सफलता स्त्री के अधीन है। मनु का कथन है कि गुरू पत्नी का भी गुरू के तुल्य आदर करना चाहिए।

पूज्य देवियाँः स्मृतियों में देवों, राजाओं, ऋषियों और मुनियों की पत्नियों को भी देवों तुल्य आदरणीय और पूज्य बताया गाया है। विशेष रूप से उल्लेखनीय देवियाँ है- श्रद्धा, मेधा, सावित्री, प्रज्ञा, अवधारणा, गौरी, पदमा, शची, विजया, जया, स्वधा, स्वाहा, दृष्टि, पुष्टि, तुष्टि, आत्मदेवता, कौसल्या, जानकी, अनसूया, द्रौपदी, गौरी, संध्या, यशोदा, देवकी, सुभद्रा, गोपी, माया, लज्जा, सरस्वती, प्रकृति, कामधेनु, रेवती, वारूणी, कान्ति, ऐश्वर्या, इला, भद्रा, ऐरावती, वेदवती, सुमंगला, श्री, लक्ष्मी, कमला, पद्मा, सीता, सत्या, रूक्मिणी।

स्त्री मुख पवित्र है: स्मृतियों में वर्णन किया गया है कि जिस प्रकार बालको और वृद्धों का मुख पवित्र माना जाता है, उसकी प्रकार स्त्रियों का भी मुख पवित्र होता है। इसी प्रकार पवित्र वस्तुओं में शहद, सन्तान, नदी की धारा भी मानी गई है। याज्ञवल्क्य ने भी शिल्पी का हाथ, स्त्री का मुख, भिक्षा, रेशमी वस्त्र आदि को सदा पवित्र माना है। मनु ने स्त्री का मुख और पक्षी का मुख पवित्र बताया है।

स्त्रियाँ पवित्र है: स्मृतियों में स्त्रियों की पवित्रता का अनेक प्रकार से वर्णन प्राप्त होता है। अपनी स्त्री, अपने बालक, अपने वृद्धजन सभी अवस्था में अपने लिए पवित्र होते है। भले ही वे दूसरों के लिए अपवित्र हों। स्त्री, बालक ओर वृद्ध कभी अपवित्र नही माने जाते हैं। वसिष्ठ ने स्त्री के कार्यो की समानता बालकों के निरीह कार्यो से की है और उनके कार्यो को पवित्र बताया है। पराशर का कथन है कि स्त्रियाँ अपवित्र हों या पवित्र अशुद्ध बोलें या शुद्ध, वे सदा पवित्र मानी जाती है। सोम, गन्धर्व और अग्नि ने उन्हें पवित्र कर दिया है। वसिष्ठ का कथन है कि जिस प्रकार पक्षी और बछड़े का मुख पवित्र माना जाता है, उसी प्रकार स्त्री भी रति-प्रसंग में पवित्र मानी जाती है। स्त्रियाँ सभी ओर से पवित्र है। जिस प्रकार मूत्रादि से नदी-जल और वैदिक हिंसादि कर्मो से ब्राह्मण अपवित्र नहीं होता, इसी प्रकार स्त्री भी पर-पुरूष गमन से अपवित्र नहीं होती है। स्मृतियों में वर्णन किया गया है कि स्त्री के रजोधर्म होने पर उसके सारे दोष निवृत्त हो जाते है और वह पूर्णतया शुद्ध मानी जाती है। स्त्रियों का रजोधर्म उनके सारे दोषों को दूर कर देता है। जिस प्रकार सोना चाँदी और शिल्पी का हाथ पवित्र माना जाता है, उसी प्रकार स्त्री-मुख भी सदा पवित्र माना जाता है। स्मृतियों ने व्यवस्था दी है कि यदि किसी स्त्री के साथ बलात्कार किया गया है तो वह स्त्री पतित नहीं है.और उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। ऐसी स्त्री प्राजापत्य व्रत से शुद्ध हो जाती है। स्मृतियों में राजधन, निक्षेप, बालधन, ब्राह्मणधन के तुल्य ही स्त्रियों को भी उपभोग से क्षीण न होने वाला माना है। स्मृतियों ने सदा शुद्ध मानी जाने वाली वस्तुओं में स्त्रियों का भी उल्लेख किया है। जिस प्रकार भूमि,

जल, वायु, शहद आदि शुद्ध है तथा पद्म, पत्थर, लोहा, फल आदि शुद्ध है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी सदा शुद्ध है।

स्त्री सदा रक्षणीय है: स्मृतियों में स्त्री को सदा रक्षणीय बताया गया है। सभी स्थितियों में स्त्री की रक्षा होनी चाहिए। श्वसुर, देवर, पिता, भाई आदि सदा उसकी रक्षा करें। पति और पुत्र को चाहिए कि वे कठोर विपत्तियों में भी आभूषण, भोजन, वस्त्रादि देकर स्त्री की रक्षा करें। अरूण स्मृति का कथन है कि पत्नी, माता, गुरूपत्नी और मातृभूमि का यदि कोई अपहरण कर रहा हैं तो अपने प्राणों की बाजी लगा कर उनकी रक्षा करे। बौधायन का कथन है कि किसी भी वर्ण की स्त्री क्यों न हो, उसकी रक्षा अवश्य करनी चाहिए। इसके लिए कितना भी धन क्यों न खर्च करना पड़े। स्त्री जब तक उसके प्रसव न हो जाए, तब तक पति आदि ही नहीं, अपितु राजा का भी कर्तव्य है कि वह उसकी रक्षा करे। जिस प्रकार स्त्रियों की रक्षा का विधान है, उसी प्रकार नपुंसक, पतित, पंगु, अन्धा और गम्भीर रोगी की रक्षा का भी विधान किया गया है।

स्त्रियों को विशेष सुविधाएँ: स्मृतियों में स्त्रियों को कुछ विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई है। मनु और विष्णु का कथन है कि स्त्री और वर के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार राजा, स्नातक, रोगी, वृद्ध, भारवाहक आदि के लिए भी मार्ग छोड़ देने का विधान है। विष्णु और देवल आदि स्मृतियों में विधान है कि स्त्रियों को पुरूषों की अपेक्षा आधा प्रयाश्चित करना चाहिए। मनु ने विधान किया है कि गर्भवती स्त्री से नदी पार करने का कर नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार के कर-मुक्त व्यक्तियों में संन्यासी, ब्राह्मण और ब्रह्मचारी भी है। विष्णु ने कर मुक्त में वानप्रस्थ, भिक्षुक और तीर्थ यात्रियों को भी माना है। वसिष्ठ ने कर-मुक्त लोगों में राजकर्मचारी, अनाथ, बालक, वृद्ध, कुमारियाँ और मृतक की पत्नी को भी सम्मिलित किया है। मनु याज्ञवल्क्य, गौतम और विष्णु ने विधान किया है कि निमन्त्रण, यज्ञ, विवाहादि के अवसरों पर नवविवाहिता, कुमारी, गर्भिणी स्त्री, रोगिणी, पितृगृह निवासिनी स्त्री, वृद्धा आदि को अतिथियों से पूर्व ही भोजन करा दें।

सन्दर्भ -

1. [illegible] (4)।

2. बृहदारण्यकोपनिषद् (2-4-1)।

3. उपनिषद् (3-5-1)।

4. यथा गौतम (3-10-24)।

5. आपस्त बधर्मसूत्र (2-9-21-7-20)।

6. बौधायन धर्मसूत्र (2-6-21-27 एंव 2-10)।

7. धर्मसूत्र (10)।

8. मनु (6-33-86)।

9. कूर्मपुराण (उतरार्ध, अध्याय 28)।

10. अग्निपुराण (161)।

11. नृसिंहपुराण (60-2-4)।

12. बौधायनधर्म (2-10-3-6)।

13. वायुपुराण (1-18-17)।

14. स्मृतिमुक्ताफल (200)।

15. पराशर (1-51)।

16. सूतसंहिता (4-15-16)।

17. उद्धृत पराशर (1-53)।

18. आपस्त बधर्म-सूत्र (2-2-3-10)।

19. याज्ञवल्क्य (1-107)।

20. याज्ञवल्क्य (3-56-66)।

21. विष्णुधर्मसूत्र (96)।

22. शान्तिरपर्व अध्याय (246 एंव 279)।

23. आश्वमेधिकपर्व (46-17-46)।

24. दक्ष (7-28-38)।

25. मनु (6-56)।

26. आपस्तब धर्म-सूत्र (2-4-9-13)।

27. बौधायन धर्मसूत्र (2-10-67)।

28. वेदान्तसूत्र (3-4-17)।

29. वेदान्तकल्पतरूपरिमल (639)।

30. महाभाष्य (1)।

31. पाणिनि (2-1-1)।

32. गौतम (3-27-28)।

33. आपस्त बधर्म-सूत्र (2-9-21-11-12)।

34. अपरार्क (962 में उद्धृत)।

35. मनु (6-53-54)।

36. याज्ञवल्क्य (3-60)।

37. लघु-विष्णु (4-29-30)।

38. गौतम (3-16)।

39. बौधायनधर्म (2-10-79)।

40. आपस्त बधर्मसूत्र (2-9-21-10)।

41. बृहदारण्यक-उपनिषद् (3-5-1 एंव 4-5-15)।

42. वेदान्तसूत्र (2-3-34)।

43. स्मृतिमुक्ताफल (173)।

44. यतिधर्मसंग्रह (5-6)।

****

अध्याय- 5

सर्जनात्मक प्रतिभा

संसार मे नारियाँ इसका नाम स्मरण करते हुए पतिव्रत रूपी तलवार की धार पर चढ़ जायेंगी, वह सर्वथा उचित तथा शाश्वत सत्य है। नारी पुरूष का सम्बन्ध सुख या सृजन दोनों के लिए ही हो सकता है। उद्देश्य यदि सुख है तो सृजन में सौन्दर्य नहीं होगा क्योंकि प्रसावधानी में सौन्दर्य की निमिति नहीं होती। सौन्दर्य हीन सृजन सदैव पीड़ा प्रद होता है और यदि उद्देश्य सृजन है तो सुख तो मिलेगा किन्तु उसमें राग नहीं होगा। राग रहित सुख के साथ सौन्दर्य युक्त सृजन ही दाम्पत्य जीवन का प्रयोजन है। इसी में लोक कल्याण का पावन बीज हैं।

नारी जीवन की धन्यता, कृतकृत्यता में तीन मुख्य हेतु है। "पतिव्रत में अखण्ड निष्ठा," "प्रियतम की प्रियता" और "दिव्यगुण सम्पन्न सुयोग्य सन्तान का मातृत्व।" गिरिजा इन त्रिविध दिव्य अलंकारों से अलंकृत है। वे पतिव्रताओं में शिरोमणि, जगतवन्द्य गणेश एवं सुरसेनापति कार्तिकेय की जननी तथा त्रिपुरारि की प्राणवल्लभा है। उनका नारीत्व चूड़ान्त पर प्रतिष्ठित होने से नारीमात्र के लिए आदर्श एवं उपास्य है। वैदेही उसी आदर्श को अपने जीवन का यथार्थ बनाने की अभिलाषा लिए हुए अभ्यर्चना कर रही है। उनकी अर्चना सार्थक होती है। प्रार्थना सुनी जाती है। प्रेम पूरित विनीत प्रार्थना से प्रसन्न हो भवभामा भवानी आशीष देती है।

उमा शंभु का चरित्र अपार सागरवत् है। जिनके संकल्प मात्र से अनन्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन तथा संहरण हो रहा है उसकी महिमा का गान उसके गुण समूह का वर्णन अल्पज्ञ मानव भला कहाँ तक कर सकता है? शिव और शिवा परात्पर है, अनन्त है, अपनी करूणा से ही वे अपनी अनन्तता का अवबोधन करा अविद्याजन्य मोहरूपी पाश से जीवों को विमुक्त कर कल्याण का भाजन बनाते है - यही पशुपति की नित्यलीला का प्रयोजन है और उसी की पूर्ति में उनकी प्रिय वल्लभा उमा सदैव निरत रहती है। गिरिजा का यह पावन चरित्र अनन्तकाल से नारी जीवन की सार्थकता के लिए दिशाबोधक एवं प्रेरणा का स्त्रोत बना हुआ है और भविष्य में भी बना रहेगा।

दिव्य शक्ति भी यदि इस सृष्टिक्रम में जन्म लेती है तो उसको भी अपने दिव्यत्व को प्राप्त कर उसमें प्रतिष्ठित होने के लिए कठोर साधन वा तप की आवश्यकता होती है। विना तप के यदि पूर्व संस्कारानुसार वा दैवी कृपा से देवत्व की प्राप्ति हो भी जाये तो उसे वह सुरक्षित नहीं रख पायेगी।

तप के द्वारा अशुद्धि का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियाँ सिद्ध हो जाती है। अर्थात वे दिव्य हो जाती है और उनमें अतीन्द्रिय विषय को ग्रहण करने की सामर्थ्य आ जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि अधिदैव ही अधिभूत रूप में अभिव्यक्त है और अन्त में इसका अधिदैव में विलय ही इसकी नियति है किन्तु इस अधिभूत के आविर्भाव तथा तिरोभाव, अधिदैव से प्रकट और उसमें विलय दोनों अवस्थाओं की प्राप्ति में तप ही मूल कारण होता है। इस विषय पर अनेकों ग्रन्थों में वर्णन मिलता है जिसका सारांश यह है कि परमात्मा के तप रूप संकल्प से अनन्त सूर्यो के तेज से चराचर जगत् का भस्मसात् होना, फिर अमित वृष्टि से भस्म का जल में लय, प्रचण्ड अग्नि से जल का शोषण, अग्नि का वायु में तथा वायु का महाकाश में विलय, आकाश का अक्षर में और, अक्षर का तम में विलय। वह तम ब्रह्म का अविद्यापाद कहा जाता है जो समस्त प्रपञ्च का कारण है। प्रलयकाल में वही अविद्या समस्त बीजों को लेकर उस परमात्मा के अंशभाग में आश्रय ग्रहण करती है और सृष्टि के प्रारम्भ से पुनः उसी क्रम से उसका आविर्भाव होता है। जो नियम ब्रह्माण्ड के आविर्भाव तिरोभाव का है वही पिण्ड का भी। पिण्डगत आत्मा यदि परमात्मा से युक्त होना चाहे तो उसे तप के द्वारा पिण्ड की स्थूलता को दिव्यता में परिवर्तित करना होगा। जीव का शिव के साथ नित्य योग ही मोक्ष है और मोक्ष को शास्त्र व्यष्टि जीवन का महाप्रलय कहता है। तप के बिना यह जीव शिव का नित्य योग वा ब्रह्म लय की अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार व्यक्ति के आन्तरिक व्यक्तित्व की यथार्थता को अभिव्यक्त करने वाले धीरज और धर्म है और आपत्काल में ही इनकी परीक्षा होती है वरन् अनुकूलता में धैर्यवान् वा धर्मात्मापन का नाटक तो जनसामान्य भी सुगमता से कर लेता है, उसी प्रकार बाह्य जगत के निकटतम सहयोगी मित्र और नारी है। वह नारी जो विपत्तिकाल में भी पति की अनुगामिनी हो, जिसको विश्व का सारा वैभव, सारी सुख-सुविधाएँ, पतिप्रेम तथा उसकी सेवा के समक्ष व्यर्थ तथा

सारहीन हों, जिसके जीवन का सार सर्वस्व पति सेवा तथा उसकी प्रसन्नता हो ऐसी आदर्श नारी का चरित्र ही विश्व की महिलाओं को सर्वांगीण तथा सर्वोत्तम जीवन जीने के लिए प्रेरणा प्रद हो सकता है। वह नारी जो विपत्तिकाल में पिता तथा ससुर गृह के देव दुर्लभ सुखमय साधनों का त्याग कर पति का अनुसरण करती हो, वह नारी जो कंटकाकीर्ण कानन पथ में भी छायावत पति के साथ रही हो और जिसे घोर घाम, हिम, वारि, वयारि आदि क्लेशपूर्ण परिस्थितियाँ भी पति सेवा से विरत करने में अक्षम रहीं हों, वह नारी जिसने विश्वविजयी लंकेश को तथा उसके देवदुर्लभ वैभव को तृणवत् बताकर अपने अटल पतिप्रेम का परिचय दिया हो, वह नारी जिसने विश्व के समक्ष अपनी पवित्रता को प्रमाणित करते के लिए सहर्ष अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं का आलिंगन करते हुए अग्नि-परीक्षा दी हो, वही मानव जाति की समस्त देवियों के लिए सर्वोत्तम आदर्श हो सकती है। अब तक के भारतीय इतिहास में मानवीय आदर्शों से युक्त श्री सीताराम का चरित्र जिस व्यापकता से जन-समुदाय को अपनी ओर आकर्षित कर सका उसकी समता में कोई दूसरा आदर्श नहीं मिलता।

इस अवसर पर उनके लिए क्या करणीय है इसका उन्होंने निर्णय कर लिया है। इस निर्णय को भले ही हठ की संज्ञा दे दी जाए, किन्तु जो भी हो यह अपरिवर्तनीय है। प्राणनाथ की शीतल सीख सुन कर सीता उसी प्रकार व्याकुल हो जाती है जैसे सर्द ऋतु की चांदनी को पाकर चकई। चन्द्र की शीतल चाँदनी चकई के लिए दाहक होती है, क्योंकि रात्रि में वह अपने प्रियतम से अलग रहती है, उसी प्रकार राम का उत्तम उपदेश वियोग प्रद होने से सीता के लिए सन्तापक सिद्ध हुआ। पुरूष की अपेक्षा नारी के जीवन में इन कर्त्तव्य रूपी धर्मो की स्थिति अधिक जटिल है क्योंकि उसका कार्यक्षेत्र सम्बन्धों की दृष्टि से पुरूष की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। नारी समाज के एक नहीं दो परिवारों के प्रति उत्तरदायी होती है। उसके जीवन के उत्थान पतन का सम्बन्ध दोनों परिवारों को प्रभावित करता है।

सीता जी को तपस्विनी वेश में देखकर जनक जी को विशेष प्रेम और सन्तोष हुआ और उन्होनें कहा - हे पुत्री! तुमने दोनों कुल पवित्र कर दिए। तेरे निर्मल यश से सारा जगत् उज्जवल हो रहा है ऐसा सभी लोग कहते हैं। तेरी कीर्ति रूपी नदी देव नदी गंगा जी की पावनता को जीत कर करोड़ों

ब्रह्माण्डों में बह चली है। गंगा जी ने पृथ्वी पर तीन ही स्थानों को बड़ा बनाया है अर्थात तीर्थ रूप दिया है जिनमें गंगोत्री प्रयाग और गंगा सागर है पर तेरी इस कीर्ति सरिता ने तो अनेकों सन्त समाज रूपी तीर्थ स्थान बना दिये हैं।

नारी धर्म क्या है? सीता इससे अपरिचित नहीं है। सास-ससुर तथा गुरूजनों की सेवा का मह महत्त्व है इसमें इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु ये सब कुछ किसके नाते से? सीता जी का कहना है माता-पिता, बहन-भाई, प्रिय परिवार तथा हित-चिन्तक सुहद जनों का समुदाय, ये सभी पितृ कुल से सम्बन्धित है। सास-ससुर, गुरू, स्वजन, सम्बन्धी तथा सहायक और सुन्दर, सुशील, सेवा परायण, सुखद सन्तति हे नाथ! ये सारे दुनिया के जहाँ तक स्नेह और नाते है सभी पति के बिना स्त्री के लिए सूर्य से भी अधिक सन्तप्त करने वाले हैं।

सुवर्चला सूर्य में अनुरक्त रहती है, जैसे महाभागा शची इन्द्र में प्रतिष्ठत होती है, जैसे देवी अरून्धती वशिष्ठ में, रोहिणी चन्द्रमा में, लोपामुद्रा अगस्त्य में, सुकन्या च्यवन में सावित्री सत्यवान में, श्रीमति कपिल में, सदयन्ती सौदास में, केशिनी सगर में तथा भीमकुमारी दमयन्ती अपने प्राणबल्लभी निपाध नरेश नल में अनुराग रखती है, अनुवर्तन करती है, उसी प्रकार से सीता भी अपने पतिदेव इक्ष्वाकुवंश शिरोमणि राम में अनुरक्त है।

सीता की महत्ता उनके शील सदाचरण के साथ ही धैर्य, क्षमा, करूण, दया, निरभिमानता, सौशील्य तथा प्राणि मात्र के प्रति वात्सल्य आदि उदात्त गुणों के कारण है, भय तथा प्रलोभन से मुक्त हो प्राणेश प्रियतम के प्रति प्रविचल आस्था एवं भक्ति से है।

नारी की पावनता भारतीय संस्कृति की धुरी हैं इसलिए हमारे सांस्कृतिक महाकाव्य के रचयिता आदि कवि वाल्मीकि तथा महाकवि गोस्वामी तुलसीदास दोनों महर्षियों ने सीता के पावन चरित्र द्वारा आर्य देवियों के जीवन को आलोक प्रदान किया है। जिन महाभागाओं को इन महाकाव्यों को पढ़ने वा सुनने का सौभाग्य प्राप्त होगा वे अवश्यमेव सीता के पदचिन्हों का अनुसरण कर स्वयं को दिव्यता की देवी बनाते हुए इस सनातन संस्कृति को धरित्री पर गौरवान्वित करेगीं।

मध्ययुग में सन्तों ने लोक के श्रुतिमूलक ज्ञान का आश्रय-आधार स्वीकार किया और शास्त्र के विपरीत लोक की आकांक्षाओं-वेदनाओं को उन्हीं की भाषा (जन-भाषा) में, उन्हीं के बोध-स्तर पर उतर कर संवाद स्थापित किया। उनके समकक्ष बैठकर दु:ख-दर्द बाँटा। यह लोक साहित्य ही सन्त साहित्य का इतिहास अपने भीतर छुपाये हुए है। सन्त-साहित्य का अभी, इस परिप्रेक्ष्य में अन्वेषणा-मूल्यांकन हुआ ही नहीं। सन्त-साहित्य की सामाजिक भूमिका भी अभी तक अनुद्घाटित है।

नारी सन्तों की चिति में लोक साहित्य की मनोवैज्ञानिक सम्पदा, भव्यता, गरिमा तथा ऊर्जा आत्मकथात्मक शैली में फूट-बही। अन्यथा अधार्मिक-रूढ़-भय, सामाजिक भय, राज्य-भय, नैतिक बन्धनों का समवेत-भय अपने समूचे संश्लिष्ट आकार-प्रकार में मध्य युग में इतना उग्र-उदग्र-पवर्ताकार रूप में स्थित था, कि बड़ी-बड़ी वैचारिक-आक्रामक आँधियाँ भी टकराकर ढेर हो गयीं। सन्तों की अकेले-दुकेले की तो क्या हस्ती! नारी सन्तों के भी न कोई गुरु हुए न परम्परा। केवल ज्ञान-संवेदन-लोक की गोद में पले-बढ़े इन सन्तों ने अपनी व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं में लोक और उसकी आत्मा को सहेजा और अपने आप में लोक समुदाय का विश्वास धारण कर विराट् व्यक्तित्व हो गये, राममय हो गये।

सत् का आश्रय पा सत्यांश को विकसित कर सत्यरूप हो गये। पश्चिमी चिन्तन इस रूप में लोक समुदाय की चिति में नहीं ढला। जिस रूप प्रकार से भारतीय अध्यात्म चिन्तन ने सन्तों के अस्तित्व की भी अनदेखी नहीं की। आधि तथा आत्म- दोनों को सुधारने-सँवारने पर बल दिया, स्वयं को मूर्ख, खल, कामी कहकर रुके नहीं, आगे बढ़े और सुधारा। उनका मुख्य सरोकार धरती पर जीवन अस्तित्व को सुधारना, सँवारना, संवेदनशील बनाकर संरक्षित करना रहा है। पश्चिमी संस्कृतियाँ जहाँ भौतिक पर बल देती रहीं, वहाँ भारतीय संस्कृति आत्म पर, जिसमें भौतिक भी समाहित रहा है। अत: सन्तों ने अद्वैत नहीं, उस अद्वैत की दिशा पकड़ी जो आत्म को भौतिक जीवन उन्मुखी बनाकर उस नये रूप में ढालने का प्रयास करता है। नारी सन्तों का सृजन भी सर्वत: मुक्त है, प्रौढ़ है, भव्य है। जैसे अविभाजित सकल धरा और अखण्ड अनन्त आकाश। वह अन्तरालों को मात्र दिखाता नहीं, उन्हें भरता है, वह स्वयं इतना मुक्त है कि राम को भी मुक्त कर देता है। जन्म स्थान अयोध्या से, राज-परिवार रघु एवं दशरथ से, राजभवन से और सब लोगों का, सब स्थानों का, सब समयों का तथा श्वास-श्वास में बसा राम बना देता है। सन्तों का सृजन अपनी प्रौढ़ता में

(वेद संवेद, संवेदना) वैदिक, पौराणिक मिथकों को भावी मानवीय संवेदनीय जीवन के लिए दिशा-निर्देशक बनकर उपस्थित होता है। उसमें वेद (ज्ञान, आत्मज्ञान) की प्रौढ़ता, युगों के अन्तराल में घटित मूर्खताओं जातिगत, सम्प्रदायगत, रूढ़िवादी विचलनों से सावधान करके मानवीय समकक्षता, समता, आत्मीयता में व्यक्ति को स्थिर करती है। सन्त वाणी- क्योंकि वह भाषा में मात्र कविता नहीं, वाक् की हृदय की वैखरी में उतरी चेतना है, इस कारण वह भव्यता में अद्वितीय है। सभी प्रकार के भेदों, भिन्नताओं को मिटाता मानव और उसकी वास्तविक सत्ता को भगवान् से भी ऊँचा, ऊपर स्थापित करता है, जहाँ भगवान् भी मानव का मुखापेक्षी बन जाता है। कबीरदास जी कहते हैं-

कबीरा मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर।

पीछे पीछे हरि फिरै, कहत कबीर कबीर॥

संत रैदास जी कहते हैं- **मन चंगा तो कठौती में गंगा।**

संत मलूकदास जी कहते हैं- **माला जपौं न कर जपौं जीभ्या कहों न राम।**

सुमिरन मेरा हरि करै मैं पायो विसराम॥

वहीं आंडाल भगवान् की शासिका बनी बैठी है। हुकुम चलाती है और भगवान् उसे मानते हैं। सन्त दादू हों या सन्त पलटू हों, ललद्यद हों या मीरां सभी ने परम आत्मा को अर्जित कर मनुष्य की अद्वितीयता का गीत गाया है। ऐसी भव्यता सन्तों के सृजन में वाणी में, सबके लिए सुलभ है। भारतीय जन इस दृष्टि से बड़े भाग्यशाली हैं कि एक लम्बी परम्परा, सन्त मालिका, हमें सुलभ है, उपलब्ध है। जो आत्म-अध्यात्म प्रकाश के बल पर वर्तमान अँधेरों में से हमें बाहर ला सकते हैं, मुक्ति दिला सकते हैं। स्वयं के ओढ़े हुए छल, ढोंग, दिखावे और मक्कारी-फरेब, हत्या-हिंसा के दलदल से निजात पाने के लिए हमारे सन्त पूरे विश्व के त्राणकर्ता हो सकते हैं। जरूरत है सन्तों की वाणियों के धर्म-सम्प्रदाय की हदबन्दियों से बाहर लाकर, खुले दिल-दिमाग से अपनाने की।

काव्य अपनी स्वायत्त प्रकृति के कारण बाहरी वैचारिक प्रतिबद्धताओं को स्वीकार नहीं करता। यदि करेगा तो स्वायत्तता क्षीण और क्षय हो जायेगी। इस प्रकार काव्य धर्म के अन्त:प्रसारों, परिसरों का तो अनुमोदन करता है, सहायक होता किन्तु उनकी वैचारिक प्रतिबद्धताओं और सां:स्थानिक जुड़ाबों को

अस्वीकार कर देता है, क्योंकि वह सामाजिक रूढ़ परिपाटियों के जुए में, बन्दिश में बँधना जरा भी सहन नहीं करता। इन्हीं कारणों से राजनीति के साथ उसकी जरा भी नहीं बन पाती। धार्मिक काव्य को, काव्य की कसौटी पर खरा न पाकर, इसी कारण विद्वान् लोग महत्त्व नहीं देते या कम महत्त्व देते हैं। किन्तु यहीं यह तथ्य स्वीकार करना चाहिए, भले ही थोड़ा कम अंशों में कि सन्त काव्य, भक्तों के काव्य की अपेक्षा अपनी आन्तरिक स्वायत्तता में अधिक मुक्त होने के कारण गुणों के आधार पर न सही, अपने मुक्त प्रकृति के आधार पर श्रेष्ठ एवं स्वायत्त होता है। सन्त, क्योंकि किसी धर्म, सम्प्रदाय, ग्रन्थ या गुरु से (आचारगत रूढ़ियों से) प्रतिबद्ध नहीं होते, जैसा कि भक्त होते हैं, इस कारण वे तथा उनका काव्य भी उतने अंशों-अर्थों में स्वायत्त होकर अपनी प्रकृति-सृष्टि के निकट होता है। इसी कारण सन्तों ने गद्य की अपेक्षा पद्य (काव्य) में अपनी बात कहना जरूरी समझा। जहाँ उनके काव्य को परालोक से सीधे हृदय में उतरा हुआ- वाक् माना जाता है और वाणी कहा जाता है, वहीं भक्तों के काव्य को प्राय: वाणी का रुतबा नहीं मिला।

महान साधु एवं भक्त तुलसीदास एवं सूरदास के काव्य को विद्वानों ने काव्य कहा, तुलसीदास जी द्वारा प्रयुक्त छन्दों को **दोहा, चौपाई** कहा गया। वहीं कबीर, रैदास, दादू, मलूक आदि द्वारा प्रयुक्त इन्हीं छन्दों को **साखी** एवं **पद** कहा गया। सम्भवत: इस कारण कि सन्तों ने किसी ग्रन्थ, गुरु, सम्प्रदाय की अपेक्षा सीधे वाक् को और अपनी अनुभूति को साक्षी माना। कहना न होगा कि भक्त तुलसीदास तथा सूरदास निगमागम ग्रन्थों की तथा गुरु परम्परा की प्रतिबद्धता की सापेक्षता की सीमाओं को स्वीकार कर चलते हैं। वहीं सन्त इनसे स्वतन्त्र एवं स्वायत्त होने के कारण मुक्त एवं उन्मुक्त! काव्य यदि जाग्रत आत्मा का सृजन माना जाता है, तो यह सृजनात्मक उन्मुक्तता उसका सर्व प्रमुख लक्षण है। इन्हीं अर्थों में सन्त वाणी (श्री गुरु ग्रन्थ साहब में समायोजित वाणियों सहित) विश्व के सभी अध्यात्म प्रेमियों को सहज स्वीकार्य हो सकती है। तुलसी के राम एवं सूरदास के कृष्ण की सगुण भक्ति की अपेक्षा निर्गुण राम एवं कृष्ण कहीं अधिक स्वीकार्य हैं। ये राम और कृष्ण अध्यात्म तत्त्व रूप में किसी भी सीमा में देश-जाति ग्रन्थ गुरु सम्प्रदाय की सीमाओं से मुक्त हैं। यह सुविधा विश्व के अन्य किसी धर्म सम्प्रदाय के साथ नहीं है तथा दूसरी ओर राम, कृष्ण की निर्गुण अनुभूति स्वरूप अध्यात्म चेतना श्रेष्ठ, संवेदनशील, मानवीयता के तल पर विश्व मानव की सच्ची धरोहर सिद्ध होती है। उसे विश्व मानव बनने में कहीं किसी प्रकार की बन्दिश में नहीं डालती, अपितु स्वतन्त्रता की पक्षधर है।

सृष्टि में सुपीत कृष्ण भृङ्ग ओर स्वयम्भू (ब्रह्मा) तथा उनकी मानस संतति के सिवा ऐसा कोई भी जीव-जन्तु या प्राणी प्रतीत नहीं होता, जो नारी के सहयोग बिना केवल नर से उत्पन्न हुआ हो या होता हो अथवा नर उसे उत्पन्न कर सकता हो। गौ, वृष, गज, अश्व या महिष हो; चाहे सिंह, व्याघ्र, वराह या भालू हो; चाहे मयूर, मराल, कुक्कुट या काक-कबूतर, कमेड़ी हो और चाह कीट-पतङ्ग, बर्रा या मनुष्य हो; सबकी जननी (तज्जातीय) नारी होती है। उसके बिना अकेले नर से कोई भी उत्पन्न नहीं होता। ईश्वर ने नारी के शरीर की बनावट में कुछ ऐसी विशेषताएँ रख दी है, जिनका होना नर के शरीर में सम्भव ही नहीं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर देखा जाय तो नारी किसी अंश में प्रकृति का प्रतिरूप प्रमाणित होती है और फिर नर तो पुरुष है ही। प्राकृत नर केवल जीवनोपयुक्त धनोपार्जन कर लेता या कमाकर खा लेता है; किंतु नारी को पतिसेवा, गर्भरक्षा, शिशुपालन, गृह-प्रबन्ध, गोदोहन, रससंग्रह, सूपसूत्र-सूचीकर्म, भाजन-निर्माण और आगत-स्वागतादि की व्यवस्था आदि अनेक काम करने पड़ते है। ये काम एक या एकाधिक अन्य जाति के जीवों में भी होते है; परंतु मानव नारी अनेक गुण होने पर भी कुयागवश वह अनारीपने में प्रवृत्त हो जाती है और उस समय नर की प्रेरणा या मार्ग प्रदर्शन से ही वह कुछ करती है। नारी में सृष्टि उत्पादन की योग्यता और प्रकृति का प्रतिरूप होने की सामर्थ्य के सिवा वह 'दौहृदिनी' (दो हृदय वाली) होती है, यह अलौकिक विशेषता है। सद्गृहस्थ इस बात को भली भाँति जानते है कि नारी प्रतिमास रजस्वला होती है और उस से तीन दिन तक उसके मूत्र मार्ग से रक्तस्त्राव हुआ है। तदनन्तर शुद्ध स्नान करने पर यदि उसके गर्भ रहे तो मासिक धर्म बंद हो जाता है, साथ ही गर्भस्थ बालक उत्पन्न होने से पहले ही नारी के पयोधर दुग्धपूर्ण हो जाते है जिनको निकट भविष्य में प्रकट होने वाला बालक पीता और पोषित होता है। यह क्रिया बालक के पयः पान करने तक होती रहती है फिर बंद हो जाती है और मासिक धर्म ही रक्तस्त्राव की पुनरावृत्ति आरम्भ हो जाती है। प्राचीन साहित्य में तीन प्रकार के वचन माने गए हैं जिसमें सबसे श्रेष्ठ कान्ता सम्मित होता है। इससे भी नारी के मानसिक और वैचारिक स्थिरता का परिचय मिलता है।

(क) प्रभुसम्मित शब्द।

(ख) सुहृत्सम्मित शब्द।

(ग) कान्तासम्मित शब्द।

वेदों के मुख्य विषय है- कर्म, उपासना और ज्ञान, जो समस्त मानव जाति के धर्म है। इनमें केवल स्त्री अथवा केवल पुरूष को लक्ष्य करके अधिक बातें नहीं कही गयी है। जो कुछ है, सबके लिये है। वेद इतिहास भी नहीं है, जिससे स्त्री और पुरूष वर्ग के विषय में कुछ विशेष चर्चा का प्रसंग आवे; तथापि उनमें इतिहास के बीज और साधन-सामग्री अवश्य है। वेद चार है- ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। इनमें से ऋग्वेद में ही कुछ ऐसी बातें पायी जाती है, जो प्राचीन काल से चली आने वाली आर्यनारी की सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डालती है। कुछ विदुषी नारियाँ अपने सद्गुणों के कारण तथा मन्त्रों का साक्षात्कार करने वाली ऋषिकाओं के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। यजुर्वेद में नारी के विषय में बहुत कम चर्चा है। सामवेद में तो है ही नहीं। अथर्व वेद में चर्चा अवश्य ळै, पर ऋग्वेद में आयी हुई बातों का ही प्रायः दिग्दर्शन होगा। पहले उन महिमामयी नारियों के सम्बन्ध में निवेदन जाता है, जो मन्त्र-द्रष्ट्री ऋषिकाओं अथवा देवियों के प्रसिद्ध है। जैसे धन की देवी लक्ष्मी, शक्ति की दुर्गा और चित की सरस्वती है, वैसे ही अदिति, उषा, इन्द्राणी, इला, भारती, होला, सिनीवाली, श्रद्धा , पृश्नि आदि वैदिक देवियाँ अनेक तत्त्वों की अधिष्ठात्री है। इन्हें कहीं देवमाता ओर कही कन्या बताया गया है। इन सबमें अदितिदेवी का उल्लेख सबकी अपेक्ष अधिक है। ये सवशक्तिमती, विश्वहितैपिष्ठी, सर्वग्राहिणी और स्वाधीन मानी गयी है। सूर्य की पुत्री का नाम सूर्या है। इन्हें ऋग्वेद में देवी और ऋषि का भी कहा गया है। सूर्या ने दशम मण्डल के सूक्त का साक्षात्कार किया था। उसमें बहुत सी ज्ञातव्य बातें है। सूर्या के विवाह का जो वर्णन उपलब्ध होता है, उससे कई तत्कालीन प्रथाओं का परिचय मिलता है, जो आज भी न्यूनाधिक रूप में पाय जाती है। इन्द्राणी इन्द्रदेव की पत्नी है। इनका एक नाम शची भी हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल, सूक्त की ऋषिका भी ये ही है। सूक्त की ऋषिका प्रलोम पुत्री शची कही गयी है। 'वाक्' भी एक देवी का नाम है। इन्हे अन्न-जलकी दात्री एवं इर्षप्रदायिनी गया है।

ये अम्भृण ऋषि की पुत्री हैं। वैदिक सूक्त की ऋषिका यही है। ये वाग्देवी ही मित्र वरूण को धारण करने वाली, धनदात्री, ज्ञानवती, गिव्यापिनी, उपदेशिका तथा आकाश जननी आदि कही है। इला भी एक देवी है; इन्हे घृतहस्ता, अन्नरूपिणी, क्षणा, गोसन्ध की निर्मात्री तथ मनु के यज्ञ में हविष्य का करने वाली बताया गया है। उनके विवाह का प्रयोजन था नारी के साथ रहकर धर्मानुष्ठान और यज्ञ-सम्पादन। नारी के बिना गृह का अस्तित्व ही कहाँ है और गृह के बिना गृहस्थ-धर्म का सम्पादन ही कैसे हो सकता है। कन्या का एक नाम दुहिता भी है। इस प्रकार आर्य-जाति में प्राचीन काल से ही नारी का सदा समादर होता आया है। अन्य जातियों के प्राचीन इतिहास में यह बात नहीं पायी जाती है। कई जातियाँ तो ऐसी है, जो स्त्रियों को पैर की जूती समझती थी। उनके यहाँ स्त्रियों के खरीदने बेचने की भी जघन्य प्रथा थीं मुहम्मद साहब के पहले अरब में जन्मते ही लड़कियाँ जला दी जाती थी। एर्थेस और स्पार्टा में स्त्रियों की जैसी नारकीय दशा थी, वह इतिहास के विद्यार्थियों से छिपी नहीं है।

ऋग्वेद के अनुशीलन से जान पड़ता है कि आर्यो में स्त्री शिक्षा का यथेष्ट प्रचार था। स्त्रियाँ वेदाध्ययन करतीं और कविताएँ भी बनाती थी। वे अपनी त्याग-तपस्या से ऋषिभाव को भी प्राप्त होती और मन्त्रों का साक्षात्कार करती थो। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों का आविष्कार स्त्रियों द्वारा ही हुआ है, यह बात ऊपर बतायी जा चुकी है। ब्रह्मवादिनी घोपा के द्वारा साक्षात्कृत (दशम मण्डल के) और सूक्तों में कुछ ऐसे मन्त्र है, जिनसे सूचित होता है आर्यलोग विवाह के समय वर और कन्या को विविध वस्त्रा भूषणों से विभूषित करके बहुत सम्मान करते थे। स्त्रियाँ यज्ञ-कार्य में नियुक्त होती थी। समाज में उनको बहुत ही प्यार ओर दुलार से रक्खा जाता था। सूर्या के द्वारा आविष्कृत मन्त्रो में यह भी स्पष्ट किय गया है कि स्त्री अपने पति के अधीन रहती थी, परंतु घर के अन्य सब पदार्थो पर उसीका प्रभुत्व रहता था। नौकर-चाकर पर भी वही शासन करती थी। वर और वधू जब विवाह में एक साथ बैठते थे, उस समय गुरूजनों और देवताओं से वधू के सौभाग्य के लिये प्रर्थाना की जाती थी। यह प्रथा अब तक प्रचलित है आज भी नित मन्त्र पढ़कर सिन्दूर एवं सौभाग्य वर्धक आशीर्वाद अर्पण किया जाता है। कुछ मन्त्रों से यह भी सूचित होता है कि उस समय स्त्रियाँ सङ्गीत आदि में भी निपुणा

होती थी। पति के साथ स्त्रियाँ भी युद्ध में जाती थी। विश्यला अपने पति के साथ युद्ध में गयी थी और वहाँ उसकी जाँघ टूट गयी थी, जिसे अश्विनी कुमारों ने ठीक किया था। नमुचिके पास भी स्त्रियों की सेना थी। वृत्रासुर के साथ उसकी माता दनु भी युद्ध में गयी थी, जो इन्द्र के द्वारा मारी गयी। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से यह भी सिद्ध होता है कि पहले की स्त्रियाँ वेद पढ़ती और यज्ञो पवीत भी धारण करती थी। सुलभा, मैत्रेयी और गार्गी आदि की विद्वत्ता प्रसिद्ध है। कौसल्या के विषय में भी ऐसा आया है कि वे मन्त्रपाठ पूर्व अग्निहोत्र करती थी। वीर मित्रोदय के संस्कार-प्रकाश स्त्रियों के दो भेद किये गये है- एक ब्रह्मवादिनी और दूसरा सद्योद्वाहा। इनमें - 'ब्रह्मवादिनीनामग्रीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृी च भैक्षचर्या'- 'ब्रह्मवादिनी स्त्रियों को यह अधिकार है कि अग्निहोत्र, वेदाध्ययन तथा अपने घर में भिक्षा ग्रहण करें।' सिद्ध है कि सर्व साधारण स्त्रियों के लिय यह अधिकार नहीं पहले सभी स्त्रियों को यह अधिकार था, पर कलि में वेदाध्ययन आदिका निषेध कर दिया गया। यमस्मृति में गया है- 'पूर्वकाल में कुमारियों का उपनयन, वेदारम्भ तक गायत्री उपदेश होता था; परंतु उनके गुरू या अध्यापक के पिता, चाचा अथवा बड़े भाई ही होते थे।

यह सर्वविदित है कि भारत की संस्कृति को अमर बनाने का जो गौरव प्राप्त रहा है, वह भारत की देवियों को रहा है। प्रचीन काल से ही हमारी तत्वद्रष्टा मनीषियों ने, ऋषियों ने इस सत्य का अनुभव किया कि जिस माँ की कोख में बच्चा पलता है और जन्म लेने के जिस माँ की गोद में वह वृद्धि को प्राप्त होता है, सर्वप्रथम उस माँ का दूध ही उस बच्चे के जीवन का आधार होता है और दुनिया के सभी देशों मे कहीं भी आप जाइए, जहाँ भी भाषा की चर्चा होगी, कोई यह नहीं पूछता कि आप की fathertongue (पिता की क्या भाषा है?) क्या है? ; हर एक व्यक्ति पूछता है कि आप की मातृभाषा क्या हैं। जिस माँ की लोरी उस बच्चे के जीवन को प्रकाशित करने वाली भाषा बन जाती है; भाषा शब्द का अर्थ होता है प्रकाशित करना। जिस माँ की लोरी के शब्द उस शिशु की अन्तर्निहित भावनाओं को प्रकाशित करने का मुख्य माध्यम बनत है, वह माँ यदि सुयोग्य, सुशिक्षित और चरित्रवान नहीं होगी, तो कभी भी उसके द्वारा उत्तम सन्तान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए

दुनिया में केवल एक भारत ही ऐसा देश है, जिस देश की माताओं में एक गौरवपूर्ण शब्द प्रचलित है, जिसको कहते है पतिव्रता। इस पतिव्रता शब्द का अनुवाद दुनिया की किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है। इस शब्द का महत्त्व दुनिया के किसी भी धर्म में नही है।

रामायण में तुलसीदास ने यह कथा लिखी है। तो सर्वप्रथम उस परमात्मा के संकल्प से सृष्टि में, जैसा कि वैज्ञानिक आज-कल मानते है, वही सृष्टि की प्रक्रिया वेद में बताइ गयी है कि उस परमात्मा के संकल्प के साथ यह कथा जोड़ी गई है। लेकिन उपनिषद में संकल्प नहीं है, सांख्य में संकल्प नहीं है। वह है कि **पुरुष के प्रकाश में इस प्रकृति में गति हुई** और **उस गति से प्रकृति गर्भित हो गई,** और **उससे सबसे पहले एक विशाल अण्डे का जन्म हुआ।** वैज्ञानिक भी यही मानते हैं और वैदिक धर्म भी यही मानता है कि सृष्टि का प्रारम्भ एक अण्ड से है। इसलिए हमारी संस्कृत भाषा में उस अण्डे को क्या कहते है? ब्रह्माण्ड। **ब्रह्म माने बहुत, बहुत बड़ा, महान ओर अण्ड माने अण्डा। बहुत बड़ा अण्डा।** वैज्ञानिक भी उसे Golden Egg कह करके पुकारते है। हमारे यहाँ शास्त्र में बताया गया है मनु स्मृति में, कि वह अण्डा जो था उसी गति के प्रवाह में दो भागों में फट गया । दो भाग हो गया जब वह, वो **एक भाग उसका स्त्री बन गया और दूसरा भाग उसका पुरूष।** अब वैज्ञानिकों ने खोज की। खोज करके देखा कि जितने ये जीव पैदा हेते हैं मूल में एक cell होता है छोटा सा; वह cell split कर जाता है दो भागों में और उसमें से half male बन जाता है और half female बन जाता हैं अब वैज्ञनिकों की इस खोज ने वेद की उस घोषण को सत्य घोषित कर दिया कि वह प्रक्रिया केवल तब नहीं, परन्तु आज भी है।

ऋषियों ने यदि ऐसी ही बात है कि स्त्री और पुरुष के संयोग से सृजन का कार्य हो सकता है, तो बहुत से ऐसे ऋषि हुए है, जिनकी माँ नहीं थी कोई, पर बाप थे उनके। जैसे महर्षि द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भरद्वाज, वसिष्ठ, मित्रावरूण, अगस्त्य ऋषि, जिनकी कोई माँ नहीं थी। एक नहीं, ऐसे अनेकों ऋषि हुए है, जिनकी माँ नहीं थी, केवल पिता थे, फिर ये सम्भव कैसे हुआ? इसका समाधान करते हुए व्यासदेवजी कहते है कि भई, ये बात ठीक है कि इनकी माँ नहीं थी, माँ के रूप में इनके

जन्म में, इनके सृजन में नारी तत्व ही कारण था और जिन रासायनिक तत्वों के द्वारा इनके शरीरों का सृजन किया गया, वे रसायनिक तत्व प्राकृत थे और नारी जो है, वह प्रकृति का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय जीवन विकास की प्रक्रिया में नारी का वही स्थान है, जो पुरूष का है। वेद ने तो बड़े ही जोरदार शब्दों में घोषणा की है। केवल उपनषिद नहीं, संहिता भाग में भी, अथर्ववेद का संहिता का यह मन्त्र है जिसमें बताया गया है कि **त्वं स्त्री पुमान त्वं कुमार उत वा कुमारी** हे परमात्मन तू ही स्त्री है, तू ही पुरूष है, तू ही कुमार रूप में है और तू ही कुमारी रूप में है। जहाँ पर राजस्थान के राजपूतों ने अपने धर्म के लिए अपना बलिदान दिया, वहाँ पर धर्म की रक्षा में हजारों स्त्रियों का जीवित अग्नि में प्रवेश कर जाना कम महत्त्व नहीं रखता। दुनिया के इतिहास में ऐसा कहीं नहीं मिलेगा कि स्त्रियाँ अपने सतीत्वकी रक्षा के लिए किसी पर पुरूष के द्वारा मैं स्पर्श न हो जाऊँ केवल इसकी रक्षा के लिए अपने आपको जलती चिता में झोंक दिया हो। एक नहीं हजारों की तादाद में इतिहास इस बात का साक्षी है। जब गुरुदेव ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज ने कुछ शिष्याओं को संन्यास की दीक्षा दी, तो सनातनधर्मी कई महात्मा बड़ा विरोध किए । विरोध किए कि ये तो आप धर्म के विरुद्ध काम कर रहे है। आप धर्म के रक्षक होकर के ये क्या कर रहे हैं? फिर उन्होंने कहा कि-आप इतिहास पढ़िए। आप को इतिहास का पता नहीं है। आपने तथा कथित वेदान्त की दो चार पुस्तके पढ़ी है। इतिहास पढ़ो, पूरा धर्मशास्त्र पढ़ो, वेद पढ़ो, फिर तुम्हें मालूम होगा कि वैदिक सनातन धर्म में नारी का संन्यास लेना विधिवत् है या अविधिपूर्वक है और अनेकों प्रमाण दिया। वो कहने लगे कि ये तो द्वापर युग की देवियाँ थी फिर उन्होनें कहा कि कलियुग में तो पुरुष के लिए भी संन्यास नहीं है। शास्त्र में लिखा हुआ है। **कर्मप-च विवर्जयेत।**

"यदि **कर्मप-च विवर्जयेत** संन्यास लेना पुरुषों के लिए वर्जित है, फिर भी तुम संन्यासी बने हुए हो, तो तुम सोचते हो कि ये स्त्रियाँ यदि संन्यासी बन जाएगी, तो स्त्रियाँ स्त्रियों के पास अपना दुःख-सुख जाकर के रोयेंगी, फिर उन को बहकाने और लूटने का अवसर समाप्त हो जाएगा। यह

गलत धारणा है। गुरुदेव जी महाराज सभी लोगों से कहते थे कि देवियाँ के बल पर शाश्वत सनातन धर्म खड़ा हुआ है और हम लोग तो शक्ति के आराधक है।"

इस प्रकार और अनेक मिशनों में स्त्रियों की विधिवत् संन्यास दीक्षा हुयी, जो अद्यतन चल रही है। नारी को संन्यास लेने का पूर्व विधान है- ऐसा शास्त्रज्ञ मनीषी विविध उद्धरणों से पुष्ट प्रमाण देते हैं। तथा सन्यासकाल में नारियों ने जिस सर्जनात्मक क्षमता का परिचय दिया है, वह समादरणीय है। इसके विशिष्ट उदाहरण वात्सल्य ग्राम, सदृश विविध लोकोपकारी संस्थान है। जिन्हें साध्वियों ने कुशलता पूर्वक संचालित किया है। अनेक ग्रन्थों की रचना, लोकोपकार की विविध योजनायें शिविर संचालन तथा अन्य महनीय दिशा निर्देशन तथा प्रकाशक कार्यक्रमों से वर्तमान युग की कतिपय महान् साध्वियों ने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उदाहरण स्वरूप ब्रह्मर्षि मिशन की अध्यक्षा ब्रह्मवादिनी स्वामी कृष्णकान्ता जी महाराज, स्वामी विश्व भारती जी महाराज, स्वामी चैतन्य ज्योति जी महाराज, स्वामी दिव्यभारती जी महाराज, स्वामी डॉ. मनीषा जी महाराज, स्वामी ब्रह्मऋता जी महाराज, स्वामी ब्रह्मज्योति जी महाराज, स्वामी चिन्मय ज्योति जी महाराज, स्वामी आदित्य भारती जी महाराज, स्वामी स्वयंप्रभा जी महाराज, स्वामी भक्तिमणि जी महाराज, स्वामी गुरुप्रिया जी महाराज, स्वामी विष्णुप्रिया जी, स्वामी ज्ञानेश्वरी जी, स्वामी डॉ. अमृता जी महाराज, स्वामी हरिप्रिया जी महाराज, स्वामी सूर्यप्रभा जी महाराज एवं स्वामी श्रेया भारती जी महाराज हैं। अन्य दूसरे मठों से स्वामी ऋतम्भरा दीदी जी महाराज, स्वामी उमाभारती जी महाराज एवं भारत के अनेक मठों एवं आश्रमों में विराजमान संत नारी लोकप्रिय हैं।

सन्दर्भ-

1. डॉ. ऋचा शर्मा- वैदिक आश्रम- व्यवस्था विशेषांक, रेवली, सोनीपत (हरियाणा), पृ. 110।
2. डॉ. पाण्डेय रामायण प्रसाद शर्मा- भारतीय वर्णाश्रम, पृष्ठ 199।
3. ऋग्वेद- 10। 109। 5।
4. वही, 9। 67। 31-32।
5. वही, 7। 103। 5।

6. वही, 3 । 8 । 4 ।

7. वही, 10 । 85 । 6 ।

8. वही, 10 । 85 । 33 ।

9. हि. घ. शा. - खण्ड-2, पृ. 419-20 ।

10. सामवेद- 1 । 1 । 12 । 4 ।

11. अथर्ववेद- 11 । 5 । 6 ।

12. वही, 6 । 7 । 8 ।

13. वही, 14 । 2 । 71 ।

14. वही, 6 । 11 । 1 ।

15. छा. उप. - 2 । 23 । 1 ।

16. प्र. उप. - 1 । 1-2 ।

17. वही, 6 । 6 ।

18. मु. उप. - 1 । 2 । 12 ।

19. वही, 3 । 1 । 5 ।

20. ऐ. उप. - 2 । 1 । 3 ।

21. तै. उप. - 1 । 9 ।

22. वही, 3 । 10 ।

23. वही, 1 । 11 ।

24. छा. उप. - 4 । 10 । 1-3 ।

25. वही, 4 । 10 । 1-3 ।

26. वृ. उप. 1 । 4 । 17 ।

27. अंगुत्तर निकाय- 2, पृ. 70, 79 ।

28. मज्झिम निकाय- 1, पृ. 240 ।

29. संयुक्त निकाय- 5, पृ. 250-51 ।

30. थेरीगाथा- 101।

31. आ. घ. सू. - 2। 1। 21। 1।

32. गौ. घ. सू. - 1। 3। 2।

33. ब. ध. सू. - 7। 1-2।

34. बौ. ध. सू. - 2। 11। 14।

35. अष्टाध्यायी- 5। 1। 54।

36. व. घ. सू. - 11। 68-70।

37. वही, 11। 52-54।

38. बुद्धकालीन समाज और धर्म- पृ. 147।

39. जातक- 2, पृ. 57, 139, 269।

40. वही, 11। 58-60।

41. गौ. ध. सू. - 102। 5-7।

42. व. ध. सू. - 2। 13-20।

43. वा. रामायण अयो. - 82। 11।

44. सु. अयो. - 1। 20।

45. वही, 1। 5। 2।

46. भारतीय सन्त परम्परा, पृष्ठ–25।

****

अध्याय- 6

वर्तमान युग में साध्वियों का

सामाजिक अवदान - एक सर्वेक्षण

संन्यास परम्परा में नारी की स्थिति का दार्शनिक अध्ययन
(एक सर्वेक्षण)

शोधार्थी- ब्रह्मचारी दिनेश

परिव्राजिका का नाम- ब्रह्मवादिनी स्वामी कृष्णकान्ता जी महाराज
गुरुदेव का नाम- ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज
जन्म तिथि- 16 अक्टूबर, 1938
संन्यास दीक्षा तिथि एवं स्थान- 3 मई 1966, (हरिद्वार)
वर्तमान मठ/आश्रम पता- ब्रह्मर्षि आश्रम बिशट नगर पिंजौर (हरियाणा)
वर्तमान मठ/आश्रम में पदस्थान- अध्यक्ष - अन्तर्राष्ट्रीय ब्रह्मर्षि मिशन सैक्टर-19, चण्डीगढ़।

संन्यास जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न (आपकी दृष्टि में)

प्रश्न-1 संन्यास क्या है ?

उत्तर- श्रीमद्भगवद्गीता के काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यास कवयो विदुः - अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए कामना युक्त कर्मों का त्याग ही संन्यास है।

प्रश्न-2 किससे प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया ?

उत्तर- समाज की आवश्यकता पूर्व संस्कार एवं परम पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा।

प्रश्न-3 आपके जीवन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ?

उत्तर- समाज में जन मानस की सत्यता में श्रद्धा बढ़े। और अध्यात्म की ओर अग्रसर हो।

प्रश्न-4 क्या आप अपने संन्यासमय जीवन से संतुष्ट है ?

उत्तर- पूर्णतया

प्रश्न-5 नारी के लिए क्या उपदेश देना चाहेंगी ?

उत्तर- नारी दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति है। उसे सात्विक जीवन के द्वारा दिव्यता को बचाना है।

प्रश्न-6 क्या आप परिवार से सम्बन्ध रखती हैं ? इस विषय पर क्या विचार है ?

उत्तर- हमारे लिए तो वसुधैव कुटुम्बकम्

प्रश्न-7 क्या गृहस्थ जीवन के विषय में सोचती हैं ?

उत्तर- समस्त विश्व ही हमारा गृह है व्यक्तिगत का प्रश्न ही नही आता।

प्रश्न-8 आप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संन्यास परम्परा की ओर क्यों आ गए ?

उत्तर- सन्यास परम्परा के संस्कार यो तो सहजता से यही है।

प्रश्न-9 किसी वैदिक ऋषिका के जीवन का उदाहरण आपके जीवन में है ? कैसे ?

उत्तर- वेदो के अध्ययन के पश्चात रय ऋषिकाओं का उत्तेश्य जीवन मे आया और प्रेरणादायक बना

प्रश्न-10- आपके जीवन का आधार कोई व्यक्ति, संन्यासी, शास्त्र कौन है ?

उत्तर- माता पिता की कृपा से परम आराध्य गुरुदेव मिले और उनकी प्रेरणा से सन्यास परम्परा आगे चली।

प्रश्न-11 वर्तमान समय में आप समाज को कौन सी दिशा प्रदान कर रहीं है ?

उत्तर- समाज अध्यात्मवाद की ओर अग्रसर हो और मानवता धर्म की रक्षा हो।

प्रश्न-12 समाज में स्त्रियों के उत्थान के लिए क्या विचार हैं ?

उत्तर- स्त्री अपनी पवित्रता को सुरक्षित रखते हुए आदिश माता, पत्नि बहन और पुत्री के रूप मे विश्व

प्रश्न-13 क्या भविष्य में आपकी तरह स्त्रियाँ संन्यास दीक्षा ले सकेंगी ? कैसे ?

उत्तर- अवश्य

प्रश्न- 14 क्या कभी संन्यास में आने पर गृहस्थ जीवन के विषय में सोचा है ? क्यों ?

उत्तर- संन्यास जीवन ही जीवन है मन में कभी कोई अन्य विचार ही नही आया

प्रश्न-15 आपका सम्बन्ध अथवा आसक्ति ईश्वर, पुरुष, पशु एवं जीव में है ? क्यों ?

उत्तर- प्रत्येक प्राणिमात्र परमात्मा की अभिव्यक्ति है। इसलिए सभी जीव समान है।

प्रश्न-16 संन्यास जीवन की पवित्रता के विषय में क्या विचार है ?

उत्तर- परमपिता एवं गुरू महाराज के आशीर्वाद से जनमानस का उत्थान एवं कल्याण हो यही जीवन की पवित्रता है।

प्रश्न-17 स्त्रियों का संन्यासी होना कब से प्रारम्भ हुआ ? क्या आपने संन्यास परम्परा में आने से पूर्व किसी संन्यासी स्त्री के जीवन को देखा था ?

उत्तर- वैदिक साहित्य में आदिकाल से ही सन्यास परम्परा रही है।

प्रश्न- 18 संन्यासी स्त्री और संन्यासी पुरुष में क्या अन्तर है ?

उत्तर- शारिरिक दृष्टि से स्त्री का एवं पुरूष का अन्तर स्वाभाविक ही है। आत्म दृष्टि से भेद का अन्तर नही है।

प्रश्न- 19 क्या संन्यासी पुरुष या स्त्री के जीवन का प्रभाव समाज पर पड़ता है ? कैसे ?

उत्तर- दोनो का प्रभाव पड़ता है

प्रश्न-20 क्या आप चाहते हैं कि समाज में अनेक स्त्रियाँ संन्यासी बनें ? क्यों ?

उत्तर- संन्यासी बनना एक जन्म की साधना का परिणाम नही है। कई जन्मो की साधना के पश्चात ही संन्यासी बनता है।

प्रश्न-21 क्या आपके आश्रम में संन्यासी पुरुष और स्त्री को समान अधिकार और सम्मान है

उत्तर- निः संदेह - हाँ।

धन्यवाद !

दिनांक ..... हस्ताक्षर .....

****

संन्यास परम्परा में नारी की स्थिति का दार्शनिक अध्ययन
(एक सर्वेक्षण)

शोधार्थी- ब्रह्मचारी दिनेश

परिव्राजिका का नाम- स्वामी विश्व भारती जी महाराज
गुरुदेव का नाम- ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज
जन्म तिथि- अप्रैल 20, 1938
संन्यास दीक्षा तिथि एवं स्थान- 3 जनवरी मौनी अमावस्या (1976)
वर्तमान मठ/आश्रम पता- ब्रह्मर्षि मिशन यू० के०
वर्तमान मठ/आश्रम में पदस्थान- व्यवस्थापिका अन्तर्राष्ट्रीय ब्रह्मर्षि मिशन यू० के०

संन्यास जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न (आपकी दृष्टि में)

प्रश्न-1 संन्यास क्या है ?
उत्तर- सन्यास एक आश्रम है। जो ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ के बाद आता है। सम्पूर्ण त्याग और वैराग्य के साथ समाज मे काम करना तथा ऋषियों द्वारा दिए गए ब्रह्मविद्या का प्रकाश करना ही सन्यास परम्परा का परम धर्म माना है।

प्रश्न-2 किससे प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया ?
उत्तर- परम पूज्य गुरुदेव जी को देख कर और उनके उद्देश्यो से प्रेरित हो कर सन्यास ग्रहण किया

प्रश्न-3 आपके जीवन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ?
उत्तर- अवश्य समाज पर इसका प्रभाव पड रहा है। लोग अपनी मूल संस्कृति से जुड रहे है। जिसका आध्यात्मिक रूप से प्रभाव पड रहा है।

प्रश्न-4 क्या आप अपने संन्यासमय जीवन से संतुष्ट है ?
उत्तर- हाँ पूर्णतया: सतुष्ट हूं। क्योंकि गुरुदेव जी के लक्ष्य को पूरा करना है। और समाज का उत्थान करना है।

प्रश्न-5 नारी के लिए क्या उपदेश देना चाहेंगी ?
उत्तर- नारी एक ऐसी शक्ति का स्वरूप है। अध्यात्म के आधार पर गृहस्थ की नींव सुखद जीवन एव परिवार का निर्माण करना

प्रश्न-6 क्या आप परिवार से सम्बन्ध रखती हैं ? इस विषय पर क्या विचार है ?

उत्तर- एक सुन्दर समाज मे परिवार बसता है। तो हमे परिवार को समाज के साथ जोड़कर समाज का कल्याण करना चाहिए।

प्रश्न-7 क्या गृहस्थ जीवन के विषय में सोचती हैं ?

उत्तर- कभी समय ही नही मिला। गुरुदेव के दिए गए कार्यो में ही जिवन लगा दिया है। अध्यात्म जीवन में ही परम आनन्द है।

प्रश्न-8 आप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संन्यास परम्परा की ओर क्यों आ गए ?

उत्तर- परमाराध्य गुरुदेव जी से प्रेरणा मिली और समाज के लिए कुछ करने की इच्छा थी। तो सन्यास प्रेरणा मे आ कर लेकर आ गयी।

प्रश्न-9 किसी वैदिक ऋषिका के जीवन का उदाहरण आपके जीवन में है ? कैसे ?

उत्तर- हमारे मिशन कि दीदीओ ही हमारे जीवन की सबसे बड़ी ऋषिका थी। और उनके प्रेरणा से सन्यास पथ ग्रहण किया।

प्रश्न-10- आपके जीवन का आधार कोई व्यक्ति, संन्यासी, शास्त्र कौन है ?

उत्तर- परम पूज्य गुरुदेव का जीवन हमारे जीवन का आधार है।

प्रश्न-11 वर्तमान समय में आप समाज को कौन सी दिशा प्रदान कर रहीं है ?

उत्तर- वर्तमान समय को अपनी संस्कृति तथा अपने संस्कार को साथ ले कर चलो। यही हमारे जीवन का आधार है।

प्रश्न-12 समाज में स्त्रियों के उत्थान के लिए क्या विचार हैं ?

उत्तर- समाज मे स्त्रियों का उत्थान बहुत आवश्यक है। और नारी ही सुन्दर समाज मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अपने चरित्र कि रक्षा करके ही यह सम्भव है।

प्रश्न-13 क्या भविष्य में आपकी तरह स्त्रियाँ संन्यास दीक्षा ले सकेंगी ? कैसे ?

उत्तर- अवश्य ही लेंगी। जब हम लोग आध्यात्म के पुजारी बने है। हमे आशा है। कि आगे भी ऐसा होगा नारी हमसे प्रभावित होकर सन्यास ग्रहण करेंगी।

प्रश्न- 14 क्या कभी संन्यास में आने पर गृहस्थ जीवन के विषय में सोचा है ? क्यों ?

उत्तर- सन्यास परम्परा में आ कर गृहस्थ जीवन के बारे मे क्या सोचना। क्यों कि इतना बड़ा भाग्य प्राप्त कर छोटे भाग्य के बारे में कौन सोचेगा।

प्रश्न-15 आपका सम्बन्ध अथवा आसक्ति ईश्वर, पुरुष, पशु एवं जीव में है ? क्यों ?

उत्तर- भगवान के बनाए गए सभी वस्तुए पसन्द है। मैं सभी मे भगवान का स्वरूप देखती हूँ। और सभी से प्यार करती हूँ।

प्रश्न-16 संन्यास जीवन की पवित्रता के विषय में क्या विचार है ?

उत्तर- एक सन्यासी का जीवन पूर्णतया पवित्र होना चाहिए। और यह तभी सम्भव है। जब हम अपने पच इन्द्रियो को वश मे कर लेते है। तब।

प्रश्न-17 स्त्रियों का संन्यासी होना कब से प्रारम्भ हुआ ? क्या आपने संन्यास परम्परा में आने से पूर्व किसी संन्यासी स्त्री के जीवन को देखा था ?

उत्तर- स्त्रियो का सन्यास परम्परा बैदिक काल से प्रारम्भ हुई थी। और मैं अपने बाल्य काल मे गुरुदेव जी के साथ सन्यासी दीदीयों को देखती थी।

प्रश्न- 18 संन्यासी स्त्री और संन्यासी पुरुष में क्या अन्तर है ?

उत्तर- मेरे विचार से समाज मे नारी को अपनी सीमाओ मे बध कर रहना पड़ता है। जो सबसे बडा अन्तर है। आत्मा तो सब मे एक ही होती है।

प्रश्न- 19 क्या संन्यासी पुरुष या स्त्री के जीवन का प्रभाव समाज पर पड़ता है ? कैसे ?

उत्तर- व्यक्ति के व्यवहार और आचार का प्रभाव समाज पर पडता है। हा समय समय पर ऐसा दृष्य देखने को मिलता है।

प्रश्न-20 क्या आप चाहते हैं कि समाज में अनेक स्त्रियाँ संन्यासी बनें ? क्यों ?

उत्तर- अवश्य बनना चाहिए। इससे समाज का आध्यात्मिक उत्थान होगा और शुन्द समाज का निर्माण होगा।

प्रश्न-21 क्या आपके आश्रम में संन्यासी पुरुष और स्त्री को समान अधिकार और सम्मान है

उत्तर- हा जी हमारे मिशन मे गुरु जी ने सब को समान अधिकार दिया है। यह व्यक्ति के ज्ञान पर भी निर्भर करता है।

धन्यवाद !

दिनांक
29/10/2012

हस्ताक्षर
स्वामी विश्व भारती

****

संन्यास परम्परा में नारी की स्थिति का दार्शनिक अध्ययन
(एक सर्वेक्षण)

शोधार्थी- ब्रह्मचारी दिनेश

परिव्राजिका का नाम- साध्वी ऋतम्भरा दीदी
गुरुदेव का नाम- स्वामी परमानन्द जी महाराज
जन्म तिथि- 2 जनवरी 1964 लुधियाना
संन्यास दीक्षा तिथि एवं स्थान- हरिद्वार जनवरी 1980
वर्तमान मठ/आश्रम पता- वात्सल्य ग्राम वृन्दावन
वर्तमान मठ/आश्रम में पदस्थान- निदेशक – वात्सल्य ग्राम वृन्दावन

संन्यास जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न (आपकी दृष्टि में)

प्रश्न-1 संन्यास क्या है ?

उत्तर- संन्यास ऋषियों की परम्परा में है। इसके द्वारा व्यक्ति संसार के तत्व से ऊपर उठते हुए परमात्मा को प्रत्येक जीव में देखता और उसकी सेवा करने का व्रत ग्रहण करता है।

प्रश्न-2 किससे प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया ?

उत्तर- अपने माता-पिता के जीवन से प्रेरणा ली। उचित समय पर गुरुदेव ने जीवन की सही दिशा का अवलम्बन कराया।

प्रश्न-3 आपके जीवन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ?

उत्तर- मैं अपने जीवन में समाज की सेवा कर रही हूँ और समाज हमारे इस व्रत में पूर्ण रूप से सहयोग कर रहा है।

प्रश्न-4 क्या आप अपने संन्यासमय जीवन से संतुष्ट है ?

उत्तर- पूर्ण रूपेण। भगवान की बहुत बड़ी कृपा है कि ऐसा मार्ग प्रशस्त किया।

प्रश्न-5 नारी के लिए क्या उपदेश देना चाहेंगी ?

उत्तर- नारी राष्ट्र की शक्ति है इसे अपने धर्म की रक्षा के लिए आगे आना चाहिए।

प्रश्न-6 क्या आप परिवार से सम्बन्ध रखती हैं ? इस विषय पर क्या विचार है ?

उत्तर- सम्पूर्ण विश्व हमारा परिवार है। हम तो अपने विश्व के सभी वर्ग, जाति, जीव और पशु को अपना परिवार मानती मानती हैं।

प्रश्न-7 क्या गृहस्थ जीवन के विषय में सोचती हैं ?

उत्तर- संन्यास एक ऐसी विद्या है कि इसमें जीवन का आनन्द है। कौन जाए नीचले मार्ग पर जो ऊंचे मार्ग पर चलता है।

प्रश्न-8 आप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संन्यास परम्परा की ओर क्यों आ गए ?

उत्तर- अपने गुरुदेव की प्रेरणा और समाज में लोगों की सेवा करने के लिए सन्यास ग्रहण किया।

प्रश्न-9 किसी वैदिक ऋषिका के जीवन का उदाहरण आपके जीवन में है ? कैसे ?

उत्तर- मेरे जीवन में मेरी माँ एक ऋषिका थी उसी उसी का प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ा।

प्रश्न-10- आपके जीवन का आधार कोई व्यक्ति, संन्यासी, शास्त्र कौन है ?

उत्तर- हमारे जीवन का आधार हमारे ऋषियों की परम्परामें और आचार संहिता है।

प्रश्न-11 वर्तमान समय में आप समाज को कौन सी दिशा प्रदान कर रहीं है ?

उत्तर- वर्तमान समय में उन नन्हें प्यारे भगवान रूपी बालकों की सेवा और हरि चर्चा को जीवन का आधार माना है।

प्रश्न-12 समाज में स्त्रियों के उत्थान के लिए क्या विचार हैं ?

उत्तर- समाज में जब स्त्रियों का उत्थान होगा तो राष्ट्र का उत्थान होगा इसलिए स्त्रियों धर्म के मार्ग का अवलम्बन करें।

प्रश्न-13 क्या भविष्य में आपकी तरह स्त्रियाँ संन्यास दीक्षा ले सकेंगी ? कैसे ?

उत्तर- आज ले रही हैं तो भविष्य में भी लेंगी। यह तो ऋषिकाओं की परम्परा है। यह वैदिक विधान से होता रहेगा।

प्रश्न- 14 क्या कभी सन्यास में आने पर गृहस्थ जीवन के विषय में सोचा है ? क्यों ?

उत्तर- हम समाज की सेवा करते-करते इतना व्यस्त हैं कि राष्ट्र सेवा से बढ़कर और कुछ नहीं है और वहीं मैं वह कर रही हूँ।

प्रश्न-15 आपका सम्बन्ध अथवा आसक्ति ईश्वर, पुरुष, पशु एवं जीव में है ? क्यों ?

उत्तर- मेरी आसक्ति परमात्मा में है। जब उसका स्वरूप जिस किसी में देखती हूँ तो उसमें हो जाती हूँ।

प्रश्न-16 सन्यास जीवन की पवित्रता के विषय में क्या विचार है ?

उत्तर- संन्यास जीवन का एक महाव्रत है। इसका नियम से पालन करने से व्यक्ति स्वयं सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न-17 स्त्रियों का संन्यासी होना कब से प्रारम्भ हुआ ? क्या आपने संन्यास परम्परा में आने से पूर्व किसी संन्यासी स्त्री के जीवन को देखा था ?

उत्तर- मैं अपने गुरुदेव के जीवन को गहराई से देखा और अपने शिक्षा काल में साहित्यों को बड़े चाव से पढ़ती थी।

प्रश्न- 18 संन्यासी स्त्री और संन्यासी पुरुष में क्या अन्तर है ?

उत्तर- प्रकृति पुरुष जैसा एक माँ है ममता की मूर्ति और दूसरा पिता जीवन का पालन करने वाला होता है।

प्रश्न- 19 क्या संन्यासी पुरुष या स्त्री के जीवन का प्रभाव समाज पर पड़ता है ? कैसे ?

उत्तर- व्यक्ति का आत्मबल और जीवन की पवित्रता ही दूसरों पर प्रभाव डालती है। व्यक्ति का आचरण शुद्ध होना चाहिए।

प्रश्न-20 क्या आप चाहते हैं कि समाज में अनेक स्त्रियाँ संन्यासी बनें ? क्यों ?

उत्तर- मैं चाहती हूँ कि समाज की सभी स्त्रियाँ धर्मज्ञ बनें और राष्ट्र पुरुष पैदा करें।

प्रश्न-21 क्या आपके आश्रम में संन्यासी पुरुष और स्त्री को समान अधिकार और सम्मान है

उत्तर- अधिकार व्यक्ति की योग्यता और श्रम पर निर्भर करता है। अधिकार योग्यता के प्रकाश में मिलता है।

धन्यवाद !

दिनांक	हस्ताक्षर
20/10/2012	ऋतम्भरा

****

संन्यास परम्परा में नारी की स्थिति का दार्शनिक अध्ययन
(एक सर्वेक्षण)

शोधार्थी- ब्रह्मचारी दिनेश

परिव्राजिका का नाम- साध्वी उमा भारती जी महाराज
गुरुदेव का नाम- राष्ट्रमाता विजयराजे
जन्म तिथि- 3 मई 1959 टिकमगढ़ मध्यप्रदेश
संन्यास दीक्षा तिथि एवं स्थान- अमरकंटक (नर्मदा का पावन तट)
वर्तमान मठ/आश्रम पता- उमा भारती आश्रम दिल्ली
वर्तमान मठ/आश्रम में पदस्थान- संयोजक - उमा भारती ट्रस्ट दिल्ली।

संन्यास जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न (आपकी दृष्टि में)

प्रश्न-1 संन्यास क्या है ?

उत्तर- संन्यास एक त्यागपूर्ण जीवन है। परमात्मा के प्रेम में सामान्य जीवन व्यवस्था से ऊपर उठकर जीवन यापन करना संन्यासी का जीवन होता है। संन्यासी समाज का रक्षक है।

प्रश्न-2 किससे प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया ?

उत्तर- जीवन में परिस्थियो और व्यवस्थाओं से बहुत प्रेरणा मिलती है। ऋषियों की परम्परा और ज्ञान से सहज सेवा की प्रेरणा मिली।

प्रश्न-3 आपके जीवन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ?

उत्तर- मैं तो राष्ट्र की एवं समाज की सेवा कर रही हूँ। समाज पर प्रभाव पड़ता ही होगा।

प्रश्न-4 क्या आप अपने संन्यासमय जीवन से संतुष्ट है ?

उत्तर- मैं जीवन की इच्छाओं से ऊपर उठकर अपना वैराग्य पूर्ण जीवन व्यतीत कर रही हूँ।

प्रश्न-5 नारी के लिए क्या उपदेश देना चाहेंगी ?

उत्तर- नारी अपने परिवार में संस्कार की रक्षा करें जिससे परिवार समाज तथा राष्ट्र का उत्थान होगा।

प्रश्न-6 क्या आप परिवार से सम्बन्ध रखती हैं ? इस विषय पर क्या विचार है ?

उत्तर- परिवार समाज का एक हिस्सा है। जब समाज से रखती हूँ तो परिवार से भी रखना पड़ेगा।

प्रश्न-7 क्या गृहस्थ जीवन के विषय में सोचती हैं ?

उत्तर- कभी नहीं सोचा। समाज सेवा में इतना समय कम पड़ता है। वैसे मैं आश्रम व्यवस्था के अन्तिम लक्ष्य पर चल रही हूँ।

प्रश्न-8 आप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संन्यास परम्परा की ओर क्यों आ गए ?

उत्तर- मैं समाज की सेवा करना चाहती थी तो सोचा संन्यास परम्परा ग्रहण करने के बाद अच्छी राष्ट्र सेवा होगा।

प्रश्न-9 किसी वैदिक ऋषिका के जीवन का उदाहरण आपके जीवन में है ? कैसे ?

उत्तर- मेरे जीवन में मेरे कुछ जीवन के नीकट ऐसी महान् विभूतियाँ थीं जिनका प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ा।

प्रश्न-10- आपके जीवन का आधार कोई व्यक्ति, संन्यासी, शास्त्र कौन है ?

उत्तर- मेरे जीवन का आधार हमारी भारतीय संस्कृति और धर्म है। इसकी रक्षा हमारा धर्म है।

प्रश्न-11 वर्तमान समय में आप समाज को कौन सी दिशा प्रदान कर रहीं है ?

उत्तर- समाज की सेविका हूँ मैं तो सेवा करने का अवसर देखती रहती हूँ जहाँ मौका मिलता है समय का सद उपयोग करती हूँ।

प्रश्न-12 समाज में स्त्रियों के उत्थान के लिए क्या विचार हैं ?

उत्तर- समाज की स्त्रियाँ अपने परिवारिक बंधन में ही न रहकर राष्ट्र की सेवा का भी व्रत धारण करें।

प्रश्न-13 क्या भविष्य में आपकी तरह स्त्रियाँ संन्यास दीक्षा ले सकेंगी ? कैसे ?

उत्तर- मुझे आशा है कि हमेशा जीवन-पर्यन्त होता रहेगा क्योंकि संन्यास भगवान् की एक दिव्य प्रेरणा से व्यक्ति ग्रहण करता है।

प्रश्न- 14 क्या कभी संन्यास में आने पर गृहस्थ जीवन के विषय में सोचा है ? क्यों ?

उत्तर- जीवन में हमेशा सोचती रहती थी कि सबसे अलग जीवन व्यतीत करना है तो यह मार्ग बहुत अच्छा है।

प्रश्न-15 आपका सम्बन्ध अथवा आसक्ति ईश्वर, पुरुष, पशु एवं जीव में है ? क्यों ?

उत्तर- मेरी आसक्ति सभी में है जिसको भगवान ने पैदा किया है वह सभी किसी न किसी रूप से हमारे अपने है।

प्रश्न-16 संन्यास जीवन की पवित्रता के विषय में क्या विचार है ?

उत्तर- संन्यास एक महाव्रत है। इसमें इन्द्रियों का संयम और पवित्र खान-पान एवं आरज के साथ जीवन जीना पड़ता है।

प्रश्न-17 स्त्रियों का संन्यासी होना कब से प्रारम्भ हुआ ? क्या आपने संन्यास परम्परा में आने से पूर्व किसी संन्यासी स्त्री के जीवन को देखा था ?

उत्तर- मेरे जीवन में बहुत से ऐसे संत महर्षि आए जिसका प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ा और हम जीवन की सही दिशा चुने।

प्रश्न- 18 संन्यासी स्त्री और संन्यासी पुरुष में क्या अन्तर है ?

उत्तर- संन्यासी पुरुष कठोर तथा संन्यासी स्त्री कोमल होती है इस प्रकार समाज पर कठोरता एवं कोमलता जैसा प्रभाव पड़ता है।

प्रश्न- 19 क्या संन्यासी पुरुष या स्त्री के जीवन का प्रभाव समाज पर पड़ता है ? कैसे ?

उत्तर- संन्यासी तो संन्यासी होता है उसमें स्त्री और पुरुष का भेद नहीं होता। उसके जीवन की साधना प्रभाव डालती है।

प्रश्न-20 क्या आप चाहते हैं कि समाज में अनेक स्त्रियाँ संन्यासी बनें ? क्यों ?

उत्तर- मैं चाहती हूँ कि समाज की अच्छी स्तियाँ आगे आकर समाज की बुराइयों को मिटाकर शहद का उत्थान करें।

प्रश्न-21 क्या आपके आश्रम में संन्यासी पुरुष और स्त्री को समान अधिकार और सम्मान है

उत्तर- हमारे यहाँ सभी को समान अधिकार मिलता है। संन्यास परम्परा में स्त्री और पुरुष का भेद नहीं है।

धन्यवाद !

दिनांक
15/9/2012

हस्ताक्षर
साध्वी उमाभारती

****

संन्यास परम्परा में नारी की स्थिति का दार्शनिक अध्ययन
(एक सर्वेक्षण)

शोधार्थी- ब्रह्मचारी दिनेश

परिव्राजिका का नाम- स्वामी डा० ज्ञानीजा
गुरुदेव का नाम- परम पूज्य ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बाबा जी महाराज
जन्म तिथि- 10 जनवरी 1945
संन्यास दीक्षा तिथि एवं स्थान- जून 1984 बद्रीनाथ धाम
वर्तमान मठ/आश्रम पता- ब्रह्मर्षि योग विज्ञान कालेज सैक्टर 19 ए चण्डीगढ़
वर्तमान मठ/आश्रम में पदस्थान- महामन्त्री- इण्टरनेशनल ब्रह्मर्षि मिशन सैक्टर 19 ए चण्डीगढ़

संन्यास जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न (आपकी दृष्टि में)

प्रश्न-1 संन्यास क्या है ?

उत्तर- संन्यास क्या है ? इसके लिये मैं श्रीमद्भगवद्गीता के संदेश को स्वीकार करती हूँ— काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः— अपनी व्यक्तिगत जीवन के लिये कामनायुक्त कर्मों का त्याग ही संन्यास है। लोककल्याण के लिये कर्मों के त्याग की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न-2 किससे प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया ?

उत्तर- परम पूज्य गुरुदेव ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बाबा जी महाराज के दिव्य जीवन से प्रेरित होकर

प्रश्न-3 आपके जीवन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ?

उत्तर- इस प्रश्न का उत्तर तो समाज ही दे सकता है परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि समाज अध्यात्म की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा लेता होगा जिससे वह सत्य में आस्थावान बन सके।

प्रश्न-4 क्या आप अपने संन्यासमय जीवन से संतुष्ट है ?

उत्तर- निःसन्देह मैं अपने संन्यास जीवन से सन्तुष्ट हूँ।

प्रश्न-5 नारी के लिए क्या उपदेश देना चाहेंगी ?

उत्तर- नारी परमात्मा की दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति है उसे सात्विक जीवन के द्वारा अपने दिव्य जीवन को बनाये रखना चाहिये।

प्रश्न-6 क्या आप परिवार से सम्बन्ध रखती हैं ? इस विषय पर क्या विचार है ?

उत्तर- "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्तानुसार वह विशाल कुटुम्ब का एक अंश है इसी रूप में उसके अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

प्रश्न-7 क्या गृहस्थ जीवन के विषय में सोचती हैं ?

उत्तर- यह समस्त विश्व ही हमारा गृह है इसी के विषय में सोचते हैं किसी व्यक्तिगत गृहस्थ के विषय में नहीं।

प्रश्न-8 आप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संन्यास परम्परा की ओर क्यों आ गए ?

उत्तर- हमने व्यक्तिगत (कौशा) गृहस्थ जीवन न कभी अपनाया न छोड़ा। संन्यास परम्परा के संस्कार रहे होंगे इसलिये सहजता से ही इस ओर आ गये

प्रश्न-9 किसी वैदिक ऋषिका के जीवन का उदाहरण आपके जीवन में है ? कैसे ?

उत्तर- मेरे जीवन में सर्वश्रेष्ठ आदर्शमय जीवन अम्भृणऋषि की कन्या वाक् ऋषिका का रहा है जिसने ब्रह्मसाक्षात्कार करते हुये स्वयं को विश्व रूप में देखते हुये सर्वभूतहितरता की

प्रश्न-10- आपके जीवन का आधार कोई व्यक्ति, संन्यासी, शास्त्र कौन है ? भावना चारण की।

उत्तर- हमारे जीवन का आधार परमात्मा है, वर्तमान संन्यस्त जीवन का आधार मेरे गुरुदेव बृहर्षि विश्वात्मा बाबा श्री ब्रह्मानन्द है तथा शास्त्रों

प्रश्न-11 वर्तमान समय में आप समाज को कौन सी दिशा प्रदान कर रहीं है ? मैं गीता को सर्वोपरि मान

उत्तर- मेरे जीवन का उद्देश्य समाज को अध्यात्मवाद की ओर अग्रसर कर मानवधर्म की शिक्षा करना है।

प्रश्न-12 समाज में स्त्रियों के उत्थान के लिए क्या विचार हैं ?

उत्तर- नारी अपने सत्व की पवित्रता को सुरक्षित रखते हुये आदर्श माता, पत्नि, बहन और पुत्री के रूप में विश्व में वन्दनीया बने।

प्रश्न-13 क्या भविष्य में आपकी तरह स्त्रियाँ संन्यास दीक्षा ले सकेंगी ? कैसे ?

उत्तर- अवश्य

प्रश्न- 14 क्या कभी संन्यास में आने पर गृहस्थ जीवन के विषय में सोचा है ? क्यों ?

उत्तर- कभी नहीं। क्योंकि संन्यस्त जीवन को मैं श्रेष्ठ मानती हूँ।

प्रश्न-15 आपकी सम्बन्ध अथवा आसक्ति किसी ईश्वर, पुरुष, पशु एवं जीव में है ? क्यों ?

उत्तर- मैं प्राणिमात्र वंदे उस परमात्मा की अभिव्यक्ति मानती हूँ इसलिये सबके प्रति प्रेमभावना रखने का प्रेय है।

प्रश्न-16 संन्यास जीवन की पवित्रता के विषय में क्या विचार है ?

उत्तर- उस सर्वेश्वर परमात्मा के ध्यान चिन्तन में आनन्द की अनुभूति करते हुये प्राणिमात्र की सेवा ही यही जीवन की पवित्रता है।

प्रश्न-17 स्त्रियों का संन्यासी होना कब से प्रारम्भ हुआ ? क्या आप संन्यास परम्परा में आने से पूर्व किसी संन्यासी स्त्री के जीवन को देखा था ?

उत्तर- संन्यास परम्परा का प्रारम्भ हमें आदिकाल से वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। मेरे जीवन में इंटरनेशनल ब्रह्मर्षि मिशन की अध्यक्षा ब्रह्मवादिनी स्वामी कृष्णकान्ता जी का प्रभाव उन्हें ही सर्वप्रथम देखा

प्रश्न- 18 संन्यासी स्त्री और पुरुष में क्या अन्तर है ?

उत्तर- आत्म दृष्टि से संन्यासी स्त्री और पुरुष में कोई अन्तर नहीं, केवल शारीरिक दृष्टि से अन्तर है।

प्रश्न- 19 क्या संन्यासी पुरुष या स्त्री के जीवन का प्रभाव समाज पर पड़ता है ? कैसे ?

उत्तर- दोनों का प्रभाव पड़ता है

प्रश्न-20 क्या आप चाहते हैं कि समाज में अनेक स्त्रियाँ संन्यासी बनें ? क्यों ?

उत्तर- संन्यासी बनना एक जन्म की साधना का परिणाम नहीं कई जन्मों की साधना के पश्चात कोई संन्यासी बनता है। जिसके जीवन में तप और संयम हो वे स्त्रियाँ संन्यासी बनें मेरी समाज की ओर से शुभकामनायें हैं।

प्रश्न-21 क्या आपके आश्रम में संन्यासी पुरुष और स्त्री को समान अधिकार और सम्मान है

उत्तर- निश्चय है

धन्यवाद !

दिनांक 8 नवम्बर 2011

हस्ताक्षर Swami Dr. Manisha

****

संन्यास परम्परा में नारी की स्थिति का दार्शनिक अध्ययन
(एक सर्वेक्षण)

शोधार्थी- ब्रह्मचारी दिनेश

परिव्राजिका का नाम- साध्वी पूर्णाम्बा परिव्राजिका
गुरुदेव का नाम- जगद्गुरु स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज
जन्म तिथि- .....
संन्यास दीक्षा तिथि एवं स्थान- ज्येष्ठ पूर्णिमा सं. 2068 वि., सन् 2006.
वर्तमान मठ/आश्रम पता- श्री विद्यामठ, केदारघाट (वाराणसी)
वर्तमान मठ/आश्रम में पदस्थान- सहयोगी (सहव्यवस्थापिका)

संन्यास जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न (आपकी दृष्टि में)

प्रश्न-1 संन्यास क्या है ?

उत्तर- संन्यास एक आश्रम है जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के बाद आता है। परन्तु हमारे जीवन में यह अवस्था हमारे पूर्व जन्म के पुण्यों के कारण आश्रमों से बिना गुजरे ही प्राप्त हो गई है। मैं इसके लिए अपने ईश्वर को धन्यवाद देती हूँ।

प्रश्न-2 किससे प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया ?

उत्तर- स्वामी अविमुक्तेश्वरानन्द सरस्वती जी से प्रेरित होकर दीक्षा ली जो वर्तमान में हमारे गुरुभाई हैं। हमारे गुरुदेव पूज्य स्वामी श्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज हैं जो ज्योतिष्पीठ और द्वारिकापीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य हैं।

प्रश्न-3 आपके जीवन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ?

उत्तर- यह तो हम नहीं जानते कि समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ रहा है। पर हमें देखकर शायद लोगों को लगता होगा कि स्त्रियाँ भी वैराग्य पूर्ण जीवन जी सकती हैं।

प्रश्न-4 क्या आप अपने संन्यासमय जीवन से संतुष्ट है ?

उत्तर- हाँ, मैं सन्तुष्ट हूँ और बड़े आनन्द में हूँ।

प्रश्न-5 नारी के लिए क्या उपदेश देना चाहेंगी ?

उत्तर- नारी शक्ति का स्वरूप है। और नारी को अपने जीवन में ऐसे कर्म करने चाहिए जिससे दूसरों को शिक्षा मिले। और वह एक आदर्श नारी के रूप में पहचानी जाय।

प्रश्न-6 क्या आप परिवार से सम्बन्ध रखती हैं ? इस विषय पर क्या विचार है ?

उत्तर- भरत = पिता, भाई कभी = कभी मिलने आते हैं।

प्रश्न-7 क्या गृहस्थ जीवन के विषय में सोचती हैं ?

उत्तर- नहीं, इस बारे में कभी सोचने का समय ही नहीं मिला। क्योंकि अपने संन्यासमय जीवन में बहुत व्यस्त रहती हूँ।

प्रश्न-8 आप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संन्यास परम्परा की ओर क्यों आ गए ?

उत्तर- क्योंकि आरम्भ से ही ईश्वर के प्रति स्नेह था और सन्यासमय जीवन जीने की चाह थी। और ईश्वर ने सारी परिस्थितियाँ अनुकूल बना दी।

प्रश्न-9 किसी वैदिक ऋषिका के जीवन का उदाहरण आपके जीवन में है ? कैसे ?

उत्तर- लोपामुद्रा। जो ब्रह्मविद्या की परम उपासिका थी।

प्रश्न-10- आपके जीवन का आधार कोई व्यक्ति, संन्यासी, शास्त्र कौन है ?

उत्तर- मेरे जीवन के आधार तो सीता-राम के चरणारविन्द हैं।

प्रश्न-11 वर्तमान समय में आप समाज को कौन सी दिशा प्रदान कर रहीं है ?

उत्तर- मैं सन्यासी के आचरण का पालन कर रही हूँ, इससे समाज में मूल परम्पराओं का प्रमाण प्रस्तुत हो रहा है।

प्रश्न-12 समाज में स्त्रियों के उत्थान के लिए क्या विचार हैं ?

उत्तर- हाँ जिन्हें वैराग्य की इच्छा होगी। और ईश्वर के प्रति स्नेह होगा वे अवश्य सन्यास दीक्षा लेंगी, स्त्रियों का उत्थान उनके आध्यात्मिक उत्थान में ही है।

प्रश्न-13 क्या भविष्य में आपकी तरह स्त्रियाँ संन्यास दीक्षा ले सकेंगी ? कैसे ?

उत्तर- हाँ जिन्हें वैराग्य की इच्छा होगी, और ईश्वर के प्रति स्नेह होगा वे अवश्य सन्यास दीक्षा लेंगी।

प्रश्न- 14 क्या कभी संन्यास में आने पर गृहस्थ जीवन के विषय में सोचा है ? क्यों ?

उत्तर- नहीं। इस बारे में कभी नहीं सोचा।

प्रश्न-15 आपका सम्बन्ध अथवा आसक्ति ईश्वर, पुरुष, पशु एवं जीव में है ? क्यों ?

उत्तर- नहीं, आसक्ति तो किसी में नहीं है पर ईश्वर एवं गुरू की प्रसन्नता और आशीर्वाद हम पर बना रहे ऐसी कामना है।

प्रश्न-16 संन्यास जीवन की पवित्रता के विषय में क्या विचार है ?

उत्तर- संन्यासी द्वारा जीवन पूर्णतः स्वच्छ एवं पवित्र होना चाहिए।

प्रश्न-17 स्त्रियों का संन्यासी होना कब से प्रारम्भ हुआ ? क्या आपने संन्यास परम्परा में आने से पूर्व किसी संन्यासी स्त्री के जीवन को देखा था ?

उत्तर- स्त्रियों की संन्यास परम्परा वैदिक काल से ही प्रारम्भ हुई थी। मुझे अनेक संन्यासिनों के जीवन के विषय में पहले से ही ज्ञान था।

प्रश्न- 18 संन्यासी स्त्री और संन्यासी पुरुष में क्या अन्तर है ?

उत्तर- दोनों के शरीर का ही अन्तर है, आत्मा तो सबकी एक ही है।

प्रश्न- 19 क्या संन्यासी पुरुष या स्त्री के जीवन का प्रभाव समाज पर पड़ता है ? कैसे ?

उत्तर- हाँ संन्यास लेने के बाद सब लोगों की श्रद्धा उस व्यक्ति से जुड़ जाती है। इसलिए संन्यासी को अपना आचरण सदा उत्तम रखना चाहिए। संन्यासी समाज को दिशा दिखाता है।

प्रश्न-20 क्या आप चाहते हैं कि समाज में अनेक स्त्रियाँ संन्यासी बनें ? क्यों ?

उत्तर- संन्यास उन्हें लेना चाहिए जिन्हें संन्यासमय जीवन की चाहत हो।

प्रश्न-21 क्या आपके आश्रम में संन्यासी पुरुष और स्त्री को समान अधिकार और सम्मान है

उत्तर- हमारे गुरुदेव स्त्री और पुरुष का भेद नहीं करते। सभी को बराबर अपना वात्सल्य प्रदान करते हैं।

धन्यवाद !

दिनांक
20.02.2012

हस्ताक्षर
पूर्णाम्बा

****

संन्यास परम्परा में नारी की स्थिति का दार्शनिक अध्ययन
(एक सर्वेक्षण)

शोधार्थी- ब्रह्मचारी दिनेश

परिव्राजिका का नाम- स्वामी ब्रह्म ऋता जी महाराज
गुरुदेव का नाम- ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज
जन्म तिथि- 7 सितम्बर 1946
संन्यास दीक्षा तिथि एवं स्थान- 5 नवम्बर 1987 (चित्रकूट)
वर्तमान मठ/आश्रम पता- ब्रह्मर्षि आश्रम विराट नगर पिंजौर (हरियाणा
वर्तमान मठ/आश्रम में पदस्थान- अध्यक्ष - ब्रह्मर्षि बावरा गौतम पटेल आयुर्वेदि
हस्पताल विराट नगर, पिंजौर, हरियाणा

संन्यास जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न (आपकी दृष्टि में)

प्रश्न-1 संन्यास क्या है ?
उत्तर- सम्यक प्रकारेण न्यास: सम्पूर्ण त्याग और वैराग्य के साथ समाज में काम करना तथा ऋषियो द्वारा प्रदत्त ब्रह्मविद्या का प्रकाश करना संन्यास परम्परा का परम धर्म माना है।

प्रश्न-2 किससे प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया ?
उत्तर- समाज मे काम करने के लिए आध्यात्मिक नारी जाति के लोगो का का वस्त्र धारण करना जीवन का उद्देश्य बनाकर संन्यास ग्रहण किया है।

प्रश्न-3 आपके जीवन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ?
उत्तर- अवश्य मिला और दिखाई दिया क्योकि स्त्रीयो के लिए यह सहज है कि अपने जैसे लोगो को देखकर आचरण मे लाना।

प्रश्न-4 क्या आप अपने संन्यासमय जीवन से संतुष्ट है ?
उत्तर- पूर्णतया। क्योकि जो मैं करना चाहती थी आज समाज का उत्थान कर रही हूँ।

प्रश्न-5 नारी के लिए क्या उपदेश देना चाहेंगी ?
उत्तर- अध्यात्म के आधार पर गृहस्थ की नींव सुखद जीवन एवं परिवार तथा राष्ट्र का निर्माण करना।

प्रश्न-6 क्या आप परिवार से सम्बन्ध रखती हैं ? इस विषय पर क्या विचार है ?

उत्तर- सर्वभूत हिते रता: । समाज के सभी भूत प्राणियों के हित में रत रहना सन्यासी के जीवन का लक्ष्य होता है उसमे परिवार भी आता है ।

प्रश्न-7 क्या गृहस्थ जीवन के विषय में सोचती हैं ?

उत्तर- नही । संन्यास जीवन कि उपयोगिता का पालन करते हुए समय ही नही है कि कुछ और सोचने का प्रयत्न हो ।

प्रश्न-8 आप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संन्यास परम्परा की ओर क्यों आ गए ?

उत्तर- गुरु से प्रेरणा लिया और मिशन के बड़े स्त्री संन्यासियो से प्रेरणा लेकर सन्यास परम्परा मे आई ।

प्रश्न-9 किसी वैदिक ऋषिका के जीवन का उदाहरण आपके जीवन में है ? कैसे ?

उत्तर- अपने मिशन कि सबसे बड़ी दीदी सन्यासी ही हमारे जीवन कि नेत्रिका थी । उन्ही के जीवन से प्रेरणा प्राप्त हुई ।

प्रश्न-10- आपके जीवन का आधार कोई व्यक्ति, संन्यासी, शास्त्र कौन है ?

उत्तर- परमाराध्य गुरुदेव का जीवन ही हमारे जीवन का आधार है ।

प्रश्न-11 वर्तमान समय में आप समाज को कौन सी दिशा प्रदान कर रहीं है ?

उत्तर- जब तक समाज अध्यात्म कि ओर नही जाता तब तक समाज का उत्थान नही होगा । इसलिए समाज मे अध्यात्म कि दिशा बढ़े ।

प्रश्न-12 समाज में स्त्रियों के उत्थान के लिए क्या विचार हैं ?

उत्तर- चरित्रवान नारी राष्ट्र के उत्थान मे अहम भुमिका निभाती है । अपने चरित्र कि रक्षा करके ही राष्ट्र का कल्याण किया जा सकता है ।

प्रश्न-13 क्या भविष्य में आपकी तरह स्त्रियाँ संन्यास दीक्षा ले सकेंगी ? कैसे ?

उत्तर- अवश्य लेंगी । जैसे हम लोग अध्यात्म के पुजारी बने हमे आशा ही नही सम्पुर्ण विश्वास है कि आगे भी ऐसा होगा ।

प्रश्न- 14 क्या कभी संन्यास में आने पर गृहस्थ जीवन के विषय में सोचा है ? क्यों ?

उत्तर- सन्यास परम्परा सभी चार आश्रमो की अन्तिम स्थिति है । इतने बड़े लक्ष्य को प्राप्त करके छोटे लक्ष्य के बारे मे कौन सोचता है ।

प्रश्न-15 आपका सम्बन्ध अथवा आसक्ति ईश्वर, पुरुष, पशु एवं जीव में है ? क्यों ?

उत्तर- मैं तो सभी मे भगवान कि उपस्थिति है ऐसा देखती हूँ तो सभी को भगवान का रूप मानकर प्यार करती हूँ।

प्रश्न-16 संन्यास जीवन की पवित्रता के विषय में क्या विचार है ?

उत्तर- सहज योग मार्ग पर चलने कि प्रेरणा गुरुदेव ने दिया और हमने अनुशासित जीवन जीने के आधार पर बल दिया और गुरुदेव कि प्रेरणा।

प्रश्न-17 स्त्रियों का संन्यासी होना कब से प्रारम्भ हुआ ? क्या आपने संन्यास परम्परा में आने से पूर्व किसी संन्यासी स्त्री के जीवन को देखा था ?

उत्तर- अपने परिवार मे ऋषियों के आवागमन से प्रभाव पड़ा और गुरुदेव के जीवन को निकट से देखने का अवसर मिला।

प्रश्न- 18 संन्यासी स्त्री और संन्यासी पुरुष में क्या अन्तर है ?

उत्तर- भारतीय समाज मे हमने देखा है और समझा है कि स्त्रीयो कि कमजोरी पुरुष है। और पुरुषों कि कमजोरी स्त्री है। यही सबसे बड़ा अन्तर है।

प्रश्न- 19 क्या संन्यासी पुरुष या स्त्री के जीवन का प्रभाव समाज पर पड़ता है ? कैसे ?

उत्तर- हाँ समय-समय पर ऐसे दृष्टान्त देखने को मिलता है लेकिन यह सब व्यक्ति कि साधना तप और सेवा प्रेम पर निर्भर है।

प्रश्न-20 क्या आप चाहते हैं कि समाज में अनेक स्त्रियाँ संन्यासी बनें ? क्यों ?

उत्तर- जीवन के आधार पर हम चाहते है कि समाज कि बहुत स्त्रीया सन्यासमय जीवन व्यतीत करे और कर्मयोग की उपासना करे।

प्रश्न-21 क्या आपके आश्रम में संन्यासी पुरुष और स्त्री को समान अधिकार और सम्मान है

उत्तर- हाँ हमारे मिशन मे समान है। व्यक्ति के कर्म और योग्यता के आधार पर सम्मान और अधिकार मिलता है।

धन्यवाद !

दिनांक
20/8/2011

हस्ताक्षर
स्वामी ब्रह्ममूर्ता

****

संन्यास परम्परा में नारी की स्थिति का दार्शनिक अध्ययन
(एक सर्वेक्षण)

शोधार्थी- ब्रह्मचारी दिनेश

परिव्राजिका का नाम- साध्वी शारदम्बा परिव्राजिका
गुरुदेव का नाम- जगद्गुरु स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज
जन्म तिथि- .....
संन्यास दीक्षा तिथि एवं स्थान- ज्येष्ठ पूर्णिमा सं- 2068 वि.
वर्तमान मठ/आश्रम पता- श्री विद्यामठ, केदारघाट, (वाराणसी)
वर्तमान मठ/आश्रम में पदस्थान- सहयोगी (व्यवस्थापिका)

संन्यास जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न (आपकी दृष्टि में)

प्रश्न-1 संन्यास क्या है ?

उत्तर- संन्यास एक आश्रम है जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के बाद आता है। परन्तु हमारे भाग्य से यह अवस्था इस जन्म में पूर्व के आश्रमों से बिना गुजरे ही प्राप्त हो गई है। मैं इसके लिए उस ईश्वर को धन्यवाद देती हूँ।

प्रश्न-2 किससे प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया ?

उत्तर- स्वामी अविमुक्तेश्वरानन्द सरस्वती जी से प्रेरित होकर दीक्षा ली जो वर्तमान में हमारे गुरुभाई हैं। हमारे गुरुदेव पूज्य स्वामी श्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज हैं जो ज्योतिष्पीठ और द्वारकापीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य हैं।

प्रश्न-3 आपके जीवन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ?

उत्तर- इसका उत्तर तो हम नहीं दे सकते कि समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। पर हो सकता है कि लोगों को हमें देखकर यह लगता होगा कि स्त्रियाँ भी वैराग्यपूर्ण जीवन जी सकती हैं।

प्रश्न-4 क्या आप अपने संन्यासमय जीवन से संतुष्ट है ?

उत्तर- हाँ, मैं सन्तुष्ट हूँ। आनन्द में हूँ

प्रश्न-5 नारी के लिए क्या उपदेश देना चाहेंगी ?

उत्तर- नारी शक्ति का स्वरूप है। इसे सभी को सदा सम्मान देना चाहिए।

प्रश्न-6 क्या आप परिवार से सम्बन्ध रखती हैं ? इस विषय पर क्या विचार है ?

उत्तर- माता-पिता, भाई कभी-कभी मिलने आते हैं।

प्रश्न-7 क्या गृहस्थ जीवन के विषय में सोचती हैं ?

उत्तर- नहीं सोचा।

प्रश्न-8 आप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संन्यास परम्परा की ओर क्यों आ गए ?

उत्तर- आरम्भ से इच्छा थी कि वैरागी रहूँ। ईश्वर ने सब अनुकूल परिस्थितियाँ बना दीं।

प्रश्न-9 किसी वैदिक ऋषिका के जीवन का उदाहरण आपके जीवन में है ? कैसे ?

उत्तर- लोपामुद्रा। जो श्री विद्या की परम उपासिका थीं।

प्रश्न-10- आपके जीवन का आधार कोई व्यक्ति, संन्यासी, शास्त्र कौन है ?

उत्तर- मेरा तो आधार सीता राम के चरणारविन्द हैं।

प्रश्न-11 वर्तमान समय में आप समाज को कौन सी दिशा प्रदान कर रहीं है ?

उत्तर- मैं संन्यासी के आचरण का पालन कर रही हूँ इससे समाज में मूल परम्पराओं का प्रमाण प्रस्तुत हो रहा है।

प्रश्न-12 समाज में स्त्रियों के उत्थान के लिए क्या विचार हैं ?

उत्तर- स्त्रियों का असली उत्थान उनके आध्यात्मिक उत्थान में है।

प्रश्न-13 क्या भविष्य में आपकी तरह स्त्रियाँ संन्यास दीक्षा ले सकेंगी ? कैसे ?

उत्तर- जिनको वैराग्य की इच्छा होगी वे अवश्य ले सकेंगी।

प्रश्न- 14 क्या कभी संन्यास में आने पर गृहस्थ जीवन के विषय में सोचा है ? क्यों ?

उत्तर- नहीं। कभी इच्छा नहीं हुई।

प्रश्न-15 आपका सम्बन्ध अथवा आसक्ति ईश्वर, पुरुष, पशु एवं जीव में है ? क्यों ?

उत्तर- आसक्ति तो किसी में नही परन्तु ईश्वर एवं गुरु की प्रसन्नता हम पर बनी रहे यही कामना है।

प्रश्न-16 संन्यास जीवन की पवित्रता के विषय में क्या विचार है ?

उत्तर- सन्यासी का जीवन पूर्णतः पवित्र होना चाहिए।

प्रश्न-17 स्त्रियों का संन्यासी होना कब से प्रारम्भ हुआ ? क्या आपने संन्यास परम्परा में आने से पूर्व किसी संन्यासी स्त्री के जीवन को देखा था ?

उत्तर- स्त्रियों की सन्यास परम्परा वैदिक काल से प्रारम्भ हुई थी। मुझे अनेक ऋषिकाओं के जीवन के विषय में ज्ञान था।

प्रश्न- 18 संन्यासी स्त्री और संन्यासी पुरुष में क्या अन्तर है ?

उत्तर- मात्र शरीर का अन्तर है, आत्मा तो सबकी एक है।

प्रश्न- 19 क्या संन्यासी पुरुष या स्त्री के जीवन का प्रभाव समाज पर पड़ता है ? कैसे ?

उत्तर- सन्यास लेने के बाद आम लोगों की श्रद्धा उस व्यक्ति से जुड़ जाती है तो इस कारण सन्यासी को अपना आचरण सदा उत्तम रखना चाहिए। सन्यासी समाज को दिशा दिखाता है।

प्रश्न-20 क्या आप चाहते हैं कि समाज में अनेक स्त्रियाँ संन्यासी बनें ? क्यों ?

उत्तर- सन्यास अन्दर के वैराग्य से होना चाहिए। केवल संख्या बढाने के लिए नही। जिनको वैराग्य हो वे सन्यासी बनें।

प्रश्न-21 क्या आपके आश्रम में संन्यासी पुरुष और स्त्री को समान अधिकार और सम्मान है

उत्तर- हमारे गुरुदेव स्त्री और पुरुष का भेद नही करते। सभी को अपनी आत्मा समझकर अपना वात्सल्य प्रदान करते है।

धन्यवाद !

दिनांक

20-02-2012

हस्ताक्षर

शारदाम्बा

****

संन्यास परम्परा में नारी की स्थिति का दार्शनिक अध्ययन
(एक सर्वेक्षण)

शोधार्थी- ब्रह्मचारी दिनेश

परिव्राजिका का नाम- स्वामी डॉ अमृता जी महाराज
गुरुदेव का नाम- ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज
जन्म तिथि- 14 अक्टूबर 1974
संन्यास दीक्षा तिथि एवं स्थान- 3 मार्च 2003, हरिद्वार
वर्तमान मठ/आश्रम पता- ब्रह्मर्षि आश्रम विराट नगर, पिंजौर (हरियाणा)
वर्तमान मठ/आश्रम में पदस्थान- प्रिंसीपल - एजूकेशन कॉलेज, विराट नगर पिंजौर (हरियाणा)

संन्यास जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न (आपकी दृष्टि में)

प्रश्न-1 संन्यास क्या है ?
उत्तर- मन की बन्धन मुक्त स्थिति का नाम है। संन्यास की अवस्था में जीव सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर आनन्द की ओर अग्रसर होता है। यह जीवन की एक विशेष साधना है।

प्रश्न-2 किससे प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया ?
उत्तर- गुरुदेव जी महाराज से प्रेरणा मिली और कृपा से आज मैं एक ब्रह्म ज्ञान की उपासिका की स्थिति में हूँ।

प्रश्न-3 आपके जीवन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ?
उत्तर- बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा है। समाज की चेतना हमारे से जुड़ जाती है और हम उनकी चेतना को प्रकृति भाव तत्व से ऊपर उठाते हैं।

प्रश्न-4 क्या आप अपने संन्यासमय जीवन से संतुष्ट है ?
उत्तर- बहुत ज्यादा संतुष्ट हूँ। आज जीवन की आत्मिक आनन्द की दिशा में अग्रसर हूँ।

प्रश्न-5 नारी के लिए क्या उपदेश देना चाहेंगी ?
उत्तर- नारी स्वयं के अन्दर बौद्धिक आध्यात्मिक क्षमताओं को धारण करे तो समाज की बौद्धिक, आध्यात्मिक स्थिति सदृढ़ हो सकेगी।

प्रश्न-6 क्या आप परिवार से सम्बन्ध रखती हैं ? इस विषय पर क्या विचार है ?

उत्तर- बन्धन सारे मन से है। हम परिवार से सहजता के साथ रहे तो इसमें विक्षेप नहीं है लेकिन जब हम परिवार से आन्तरिक रूप से जुड़ जाते है वो गलत है।

प्रश्न-7 क्या गृहस्थ जीवन के विषय में सोचती हैं ?

उत्तर- विशेष विचार नहीं है कि मै गृहस्थ होती लेकिन समय की स्थिति के साथ बदलना और सन्यास ग्रहण करना दैविक इच्छा पर निर्भर करता है।

प्रश्न-8 आप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संन्यास परम्परा की ओर क्यों आ गए ?

उत्तर- बचपन से सन्तों के सान्निध्य मे रहे लेकिन कभी सोचा नहीं लेकिन गुरुदेव ने समाधि की अवस्था पर प्रवचन किया वह सुनकर प्रेरणा ली और यहाँ पहुँच गयी।

प्रश्न-9 किसी वैदिक ऋषिका के जीवन का उदाहरण आपके जीवन में है ? कैसे ?

उत्तर- सन्यास के बाद ऋषिकाओं के विषय मे जाना पहले हमे किसी भी ऋषिका के बारे मे कुछ नही पता था।

प्रश्न-10- आपके जीवन का आधार कोई व्यक्ति, संन्यासी, शास्त्र कौन है ?

उत्तर- मेरे जीवन का आधार सनातन धर्म से सम्बन्धित सभी धर्म है। वेद उपनिषद, गीता रामायण मेरे जीवन का आधार है।

प्रश्न-11 वर्तमान समय में आप समाज को कौन सी दिशा प्रदान कर रहीं है ?

उत्तर- समय और परिस्थिति के अनुसार धार्मिक सूत्रो को प्रयोग करे लेकिन अपने अन्दर आध्यात्मिक शक्ति का उत्सर्जन करे।

प्रश्न-12 समाज में स्त्रियों के उत्थान के लिए क्या विचार हैं ?

उत्तर- स्त्री को अपना उत्थान स्वयं करना चाहिए। नारी अपने स्तर पर स्वयं सोचती है उसे अपनी वैदिक परम्पराओ का अनुकरण करना चाहिए।

प्रश्न-13 क्या भविष्य में आपकी तरह स्त्रियाँ संन्यास दीक्षा ले सकेंगी ? कैसे ?

उत्तर- और-सोर से ले रही है और आगे लेंगी। इसमें मेरा पूर्ण विश्वास है कि यह सब दैविक प्रेरणा से होता है।

प्रश्न- 14 क्या कभी संन्यास में आने पर गृहस्थ जीवन के विषय में सोचा है ? क्यों ?

उत्तर- कभी भी नही सोचा और आज मै समाज के लोगो को एक आध्यात्मिक आनन्दमय जीवन जीने की प्रेरणा दे रही हूँ।

प्रश्न-15 आपका सम्बन्ध अथवा आसक्ति ईश्वर, पुरुष, पशु एवं जीव में है ? क्यों ?

उत्तर- मैं सच बताऊं मेरी आत्मा ब्रह्म ज्ञान में विचरण करती है। मैं सदा ब्रह्मज्ञान में विचरण करना चाहती हूँ।

प्रश्न-16 संन्यास जीवन की पवित्रता के विषय में क्या विचार है ?

उत्तर- उस परमात्मा का सब आप अनुभव करते हो तो उसमें भेद-भाव, पवित्रता और अपवित्रता का भेद छोड़कर, आत्मा का उत्थान करना चाहिए।

प्रश्न-17 स्त्रियों का संन्यासी होना कब से प्रारम्भ हुआ ? क्या आपने संन्यास परम्परा में आने से पूर्व किसी संन्यासी स्त्री के जीवन को देखा था ?

उत्तर- कभी भी नहीं देखा, सिर्फ गुरुजी की प्रेरणा ली और आज उनकी ही कृपा से इस जीवन में आकर ब्रह्मज्ञान में रत हूँ।

प्रश्न- 18 संन्यासी स्त्री और संन्यासी पुरुष में क्या अन्तर है ?

उत्तर- सन्यासी स्त्री या पुरुष नहीं होता वह तो एक ब्रह्म रूप बन जाता है। यह तो साधारण समाज की सोच है जो लिंग भेद करती है।

प्रश्न- 19 क्या संन्यासी पुरुष या स्त्री के जीवन का प्रभाव समाज पर पड़ता है ? कैसे ?

उत्तर- सभी को पड़ता है। यदि वह जीव सच्चा सन्यासी है तो समान प्रभाव पड़ता है। ज्ञान प्रेम सेवा में कोई लिंग भेद नहीं होता।

प्रश्न-20 क्या आप चाहते हैं कि समाज में अनेक स्त्रियाँ संन्यासी बनें ? क्यों ?

उत्तर- मेरी कोई चाह नहीं है। मैं तो चाहती हूँ कि सभी स्त्री और पुरुष समान भाव और प्रेम के साथ ब्रह्म ज्ञान की ओर उन्मुख हों।

प्रश्न-21 क्या आपके आश्रम में संन्यासी पुरुष और स्त्री को समान अधिकार और सम्मान है

उत्तर- बिलकुल समान है। अधिकार योग्यता के प्रकाश में होता है। यदि योग्यता है तो अधिकार में कोई भेद नहीं होता है।

धन्यवाद !

दिनांक
20/10/2011

हस्ताक्षर
स्वामी डा० अमृता

****

संन्यास परम्परा में नारी की स्थिति का दार्शनिक अध्ययन
(एक सर्वेक्षण)

शोधार्थी- ब्रह्मचारी दिनेश

परिव्राजिका का नाम- स्वामी श्रेमा भारती जी महाराज
गुरुदेव का नाम- ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बाबरा जी महाराज
जन्म तिथि- 15 अक्टूबर, 1972
संन्यास दीक्षा तिथि एवं स्थान- 14, अप्रैल, 2010 (महाकुम्भ हरिद्वार)
वर्तमान मठ/आश्रम पता- ब्रह्मर्षि मिशन, जैन कालोनी, यमुनानगर।
वर्तमान मठ/आश्रम में पदस्थान- संस्थापक - ब्रह्मर्षि प्राकृतिक हस्पताल, यमुना नगर, हरियाणा।

संन्यास जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न (आपकी दृष्टि में)

प्रश्न-1 संन्यास क्या है ?

उत्तर- संसार से संन्यास नहीं अपनी इन्द्रियों से ऊपर रहना अर्थात अपने सयम के बल पर जीवन जीना ही संन्यास है। संन्यासी समाज के प्रत्येक वर्ग का मार्ग दर्शक होता है।

प्रश्न-2 किससे प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया ?

उत्तर- परमाध्य गुरुदेव को देखकर और उनकी शिष्याओं से प्रेरित होकर संन्यास ग्रहण किया।

प्रश्न-3 आपके जीवन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है ?

उत्तर- आध्यात्मिक रूप से प्रभाव पड़ रहा है, लोगों को अच्छे संस्कार दिये जा रहे है। बच्चे और युवा अपनी मूल संस्कृति से जुड़ रहे है।

प्रश्न-4 क्या आप अपने संन्यासमय जीवन से संतुष्ट है ?

उत्तर- आध्यात्मिक जीवन से पूर्ण संतुष्ट हूँ। बस गुरुदेव का लक्ष्य पूरा करना है।

प्रश्न-5 नारी के लिए क्या उपदेश देना चाहेंगी ?

उत्तर- नारी राष्ट्र की रीड़ की हड्डी है। उसको अपने नियंत्रण में रहकर दृढ़ता के साथ राष्ट्र के उत्थान मे सहयोग करना चाहिए।

प्रश्न-6 क्या आप परिवार से सम्बन्ध रखती हैं ? इस विषय पर क्या विचार है ?

उत्तर- संन्यास से परिवार की 21 पीढ़ी का उद्धार होता है तो हमे परिवार को आगे बढाना है, तो उसे छोड़ना नहीं चाहिए।

प्रश्न-7 क्या गृहस्थ जीवन के विषय में सोचती हैं ?

उत्तर- कभी नहीं; मुझे यह जीवन बहुत अच्छा लगता है।

प्रश्न-8 आप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संन्यास परम्परा की ओर क्यों आ गए ?

उत्तर- गुरु जी ने प्रेरणा दी की समाज के लिए जिओ, देश के और संस्कृति के लिए जिओ।

प्रश्न-9 किसी वैदिक ऋषिका के जीवन का उदाहरण आपके जीवन में है ? कैसे ?

उत्तर- मुझे अपनी मिशन की दीदीओं और संत नारी से प्रेरणा मिली। और उनके प्रभाव से संन्यास के पथ ग्रहण किया।

प्रश्न-10- आपके जीवन का आधार कोई व्यक्ति, संन्यासी, शास्त्र कौन है ?

उत्तर- माँ दुर्गा को अपने जीवन का आधार बनाकर; शक्ति उपासना के साथ जीवन यापन करना।

प्रश्न-11 वर्तमान समय में आप समाज को कौन सी दिशा प्रदान कर रहीं है ?

उत्तर- विज्ञान को साथ लेकर और अपनी संस्कार, अपनी संस्कृति को साथ लेकर आगे चलो यही हमारे जीवन का आधार है।

प्रश्न-12 समाज में स्त्रियों के उत्थान के लिए क्या विचार हैं ?

उत्तर- परिवार और समाज के लिए स्त्री का उत्थान बहुत आवश्यक है, इससे समाज का उत्थान सम्भव होता है।

प्रश्न-13 क्या भविष्य में आपकी तरह स्त्रियाँ संन्यास दीक्षा ले सकेंगी ? कैसे ?

उत्तर- बिल्कुल लेंगी; हम प्रभावित हुए तो हमसे भी आगे नारी प्रभावित होकर संन्यास ग्रहण करेंगी

प्रश्न- 14 क्या कभी संन्यास में आने पर गृहस्थ जीवन के विषय में सोचा है ? क्यों ?

उत्तर- जब संन्यास ले लिया तो क्यों सोचना। संन्यास तो बड़ी ऊँची स्थिति है जीवन की।

प्रश्न-15 आपका सम्बन्ध अथवा आसक्ति ईश्वर, पुरुष, पशु एवं जीव में है ? क्यों ?

उत्तर- जानवर, गाय और कुत्ता, नेवला मुझे बहुत पसन्द है। ये सभी ईश्वर के ही स्वरूप है।

प्रश्न-16 संन्यास जीवन की पवित्रता के विषय में क्या विचार है ?

उत्तर- पवित्रता इन्द्रियों का संयम है। पंच इन्द्रियों को वश में करके सरलता पूर्वक जीवन यापन करें।

प्रश्न-17 स्त्रियों का संन्यासी होना कब से प्रारम्भ हुआ ? क्या आपने संन्यास परम्परा में आने से पूर्व किसी संन्यासी स्त्री के जीवन को देखा था ?

उत्तर- जब मैं स्कूल से पढ़ती थी तो गुरुजी के साथ हमारी बड़ी दीदीयाँ सन्यासी वेश में दिखाई देती थी।

प्रश्न- 18 संन्यासी स्त्री और संन्यासी पुरुष में क्या अन्तर है ?

उत्तर- स्त्री और पुरुष में शरीर का अन्तर है। नारी को अपनी सीमाओं में बधकर रहना पड़ता है। यह सबसे बड़ा अन्तर है।

प्रश्न- 19 क्या संन्यासी पुरुष या स्त्री के जीवन का प्रभाव समाज पर पड़ता है ? कैसे ?

उत्तर- पुरुष और स्त्री के व्यवहार पर आश्रित है। व्यक्ति के व्यवहार और आचार का प्रभाव समाज पर पड़ता है।

प्रश्न-20 क्या आप चाहते हैं कि समाज में अनेक स्त्रियाँ संन्यासी बनें ? क्यों ?

उत्तर- बनना चाहिए, अवश्य बनना चाहिए। इससे समाज का आध्यात्मिक उत्थान होगा और संस्कृति का विकास होगा।

प्रश्न-21 क्या आपके आश्रम में संन्यासी पुरुष और स्त्री को समान अधिकार और सम्मान है

उत्तर- हाँ, गुरुजी समान अधिकार देते थे और आज भी सभी को समान अधिकार प्राप्त है। यह व्यक्ति की आत्म निर्भरता पर आश्रित है।

धन्यवाद !

दिनांक
15 सितम्बर, 2011

हस्ताक्षर
स्वामी ऋषा भारती

****

सर्वेक्षण टिप्पणी-

इस अध्याय में वर्तमान युग में साध्वियों का सामाजिक अवदान के क्षेत्र में एक सर्वेक्षण किया गया जिसमें भारत के अनेक मठों एवं आश्रमों में रहने वाले नारी संतों से उनके जीवन पर चर्चा हुई। इस प्रकार से शोध की एक नई विधा प्रकट हुई जिसके आधार पर भारतीय धर्म के इतिहास में स्त्रियों का जो योगदान पुरातन काल की ऋषि माताएँ गार्गी, घोसा, अपाला, जुहू, उषा, अदिति, विश्वावार, गोधा, इला सरस्वती, सरमा, इन्द्राणी, रोमश, उर्वशी, यमी, लोपामुद्रा, श्रद्धा, सूर्या, सावित्री, शची, सिक्ता, शक्ति, उमा, हेमवती, सुलभ ममता, वाक्य, रोमशा आदि वेदकालीन एवं उत्तर वेदकालीन नारियों ने ज्ञान के प्रकाश में अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया तथा ऋषियों के दार्शनिक चिन्तन के विकास में सहयोग दिया था, वह आज भी संत नारियों ने पुनः वर्तमान समय में संत गुरुओं के संग-साथ में स्वतंत्र रहकर भी अपनी साधना से सृजन एवं रचना-कर्म से तथा सक्रिय रूप से सामाजिक, साँस्कृतिक, आध्यात्मिक क्षेत्रों में दिशा-दर्शी उदाहरण आदर्श स्थापित कर रही हैं।

विश्व की प्राचीनतम भारतीय संस्कृति में नारी जाति का श्रेष्ठतम आदरणीय स्थान रहा है। किसी भी अवतार व महापुरुष के लिये नारी सदैव आदरणीय संरक्षणीया ही नहीं बल्कि वन्दनीय, पूजनीया भी रहा है, चाहे वे राम व कृष्ण ऐसे संग्रामरत शूरवीर हों या बुद्ध, महाबीर व शंकर जैसे-आत्मरत भिक्षु। नारी जाति अनन्त महिमामयी माँ की साकार मूर्ति है। वह ज्ञान, ऐश्वर्य तथा प्रेम की अधिष्ठात्री है, सभी की आराध्या रही है। हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों में मर्यादा पुरुषोत्तम राम की शक्ति पूजा, भगवान् श्रीकृष्ण की दुर्गापूजा, तथा सम्पूर्ण देवताओं द्वारा उस महामाया की आराधना सर्वप्रसिद्ध है।

विश्व में केवल हिन्दू जाति ही है, जो उस सृष्टि के आदि आधार परब्रह्म परमात्मा को मातृभाव से आराधती है। हमारे दैनिक जीवन के विधान में वेद भगवान् की शिक्षा है- **"मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव"**। इन सब में सर्वप्रथम स्थान मातृ शक्ति को ही दिया गया है। इतना ही

नहीं "**यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता:**" अर्थात् जिस परिवार में, समाज में, सष्ट्र में नारी के प्रति सम्मान है वहीं दिव्य शक्तियों का निवास होता है, ऐसी मनु की घोषणा है।

वैदिक काल से ही नारी जाति के परम पुनीत पवित्र आदर्श तथा सामाजिक सुव्यवस्था युक्त सुविकास के प्रत्येक क्षेत्र में इसके महानतम कृत्यों का दर्शन होता है, किन्तु दुर्भाग्यवश मध्यकालीन साहित्य में नारी जाति के साहस तथा विवेकपूर्ण आदर्शमय जीवन की उपेक्षा की गई तथा विवेक हीनता के प्रभाव में पुरुष वर्ग में निहित पैशाचिक वृत्ति को प्रबल बना दिया गया।

परिणाम स्वरूप नारी जाति के जीवन को सुदृढ़, सुशिक्षित तथा सामर्थ्ययुक्त बनाने वाले सम्पूर्ण साधनों से उसे वंचित कर दिया गया। अनभिज्ञ, असमर्थ तथा अपमानित माता की सन्तान कभी भी अभिज्ञ, सामर्थ्ययुक्त हो, स्वाभिमान-सुरक्षा में सक्षम नहीं हो सकती। उसी का परिणाम हुआ महान् भारतीय संस्कृति का ह्रास एवं श्रेष्ठतम हिन्दू जाति का पतन।

विविध प्रकार से प्रताड़ित होने पर भी भारतीय नारी ने अपने मातृत्व के महान् कर्त्तव्य की कभी भी उपेक्षा नहीं की। मध्यकालीन इतिहास में भी हमें अनेक वन्दनीय माताओं के आदर्शमय जीवन का वर्णन मिलता है, यद्यपि तत्कालीन साहित्य ने नारी के मातृ व शक्ति रूप को विकृत कर उसके स्थान पर उसे कामिनी एवं अबला रूप में ही उपस्थित किया है तथापि मातृशक्ति सृष्टि का श्रेष्ठतम तत्त्व है, जो शक्ति के साथ विद्या की तथा भोग के साथ मोक्ष की भी अधिष्ठातृ देवी है। पुरुषों द्वारा अत्याचार एवं उपेक्षामय दृष्टि का शिकार होते हुये भी जो अपने मातृत्व एवं शक्ति स्वरूप से सर्वथा रहित नहीं हुई और भारतीय गौरव तथा धर्म की सुरक्षा में अपने सर्वस्व को होम करके भी वह निज कर्त्तव्य को निभाती रही।

शताब्दियों तक परतंत्रता की जंजीरों में जकड़े हुये राष्ट्र को स्वतंत्र कराने के लिये भी नारी जाति का बलिदान कम नहीं रहा। नवयुग के निर्माता स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, रवीन्द्र, अरविन्द तथा महात्मा गांधी आदि महापुरुषों ने राष्ट्र के मूल में निहित निर्बलता के इस कारण को समझा और मानव एवं मानवता की जननी नारी को पुन: उसके खोये हुये गौरवमय स्थान पर प्रतिष्ठित कराने के लिये विविध प्रकार के प्रयत्न प्रारम्भ किये, किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि किसी भी वर्ग को प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिये स्वयं में ही बोध युक्त प्रेम एवं

सर्वजनहिताय सेवाभाव की धारणा और उसकी पूर्ति के लिये आसक्ति एवं राग रहित स्वाभिमान युक्त स्वयं के जीवन में दृढ़ विश्वास की आवश्यकता होती है।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के पश्चात् जो कुछ भी नारीजागरण के लिये शिक्षा-दीक्षा के साथ ही अनेक विधि-विधानों द्वारा प्रयत्न किया गया उससे वर्तमान तथा कथित सुशिक्षित नारी समाज को जिस दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा मिली वह भारतीय सांस्कृतिक मान्यताओं के सर्वथानुरूप नहीं थी। एतदर्थ यह कहा जा सकता है कि उसके माध्यम से भारतीय नारी अपने खोये हुये गौरवमय स्थान को प्राप्त नहीं कर सकेगी। भारतीय नारी को यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि वह महाविद्या, महामाया, महाशक्ति की अधिष्ठातृ देवी उस महिमामयी माँ दुर्गा की ही अभिव्यक्ति है। उसकी जिम्मेदारियाँ मकान की चारदीवारी के अन्दर तक ही सीमित नहीं, उसके दायित्व केवल नन्हें परिवार के पालन पोषण तक ही सीमित नहीं, वह सम्पूर्ण विश्व के केवल मानव एवं मानवता की ही नहीं बल्कि प्राणी मात्र की जननी है। अत: उसे अपने स्वरूप को समझना होगा, इस महान् उत्तरदायित्व को निभाने के लिये कटिबद्ध होना होगा, किन्तु जब तक उसमें कामिनी की अपेक्षा भामिनी की भावना का उत्कर्ष नहीं होगा, तब तक वह निज कर्त्तव्य को कुश्लता से निभाने में सक्षम नहीं हो सकती। वह सृष्टि के लिये भोगप्रदा ही नहीं, मोक्षप्रदा भी है जो उसका वास्तविक स्वरूप है। इस तरह की पवित्र एवं दृढ़ भावनाओं को सम्पूर्ण नारी वर्ग में जागृत करने का दायित्व भी नारी जाति पर ही है। उसके लिये प्राचीनतम आदर्शों के अनुसार उनमें से अनेक गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी, अपाला तथा लोपामुद्रा जैसी अनेकों देवियों की समाज में अवतरित होने की आवश्यकता है जो स्वयं के सुख-सुविधामय जीवन को सम्पूर्ण प्राणियों के हित में समर्पित करती हुई उसकी जन्मदात्री नारी जाति में पुन: सुबोध एवं सामर्थ्ययुक्त स्वाभिमानमय जीवन को जागृत कर काल के गाल में जाती हुई वर्तमान की मानवताहीन मानव जाति की सुरक्षा कर सके।

अपने खोए हुये गौरव को प्राप्त करने के लिये हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध अतीत के आदर्श को स्वीकार करना होगा और तदनुसार जीवन बना वैयक्तिक तथा सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय होना होगा। मध्य कालीन साहित्य में जो नारी की धूमिल छवि उभर कर समाज के सामने आई, उसमें पुरुष ही नहीं नारी भी

जिम्मेदार थी। अपने आदर्शमय जीवन को च्युत कर शरीरसक्त होकर जब तक वह भोग को ही जीवन का सर्वस्व समझती रहेगी तब तक कल्याणमयी मानव तथा मानवता की जननी के गौरवमय स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती।

इस सर्वेक्षण से पुनः भारतीय नारी संत परम्परा के पथ पर चलने वाली स्त्री को बहुत बल मिला है। समाज में संत नारी के लिए जो गौरवपूर्ण स्थान वैदिक काल में रहे हैं आज नारी पुनः उसी भारतीय नारी संत परम्परा के गौरव को गौरवान्वित कर रही है।

****

अध्याय- 7

वर्तमान युग की चुनौतियाँ एवं समाधान-

वर्तमान समय में नारी की चुनौतियाँ -

आधुनिकता के नाम पर क्या नारी और उसका सौन्दर्य ही विज्ञापनों की वस्तु रहा गया है, जो सिनेमा के विज्ञापनों से लेकर कलैण्डर, साबुन, दन्तमंजन और बीड़ी माचिसों तक में नारी को ही चित्रित किया गया जाता है। लाटरी के विज्ञापनों से लेकर शराब की बोतलों तक में उसी की छबि प्रदर्शित की जाती है। बाजार की हर वस्तु की बिक्री का ठेका, मानो नारी के सौन्दर्य ने ही ले लिया है अथवा नारी का सौन्दर्य इतना हेय है कि उसे सार्वजनिक शौचालयों तक में चिपकाने मे किसी को कोई आपत्ति नहीं। सार्वभौम छवि न लगाकर किसी विज्ञापन में व्यक्ति विशेष की सहधर्मिणी का चित्र लगा दिया जाता और तब उससे पूछा जाता कि तुम्हें कैसा लगता है तो सम्भवत: वह व्यक्ति लज्जा से सिर ऊपर न उठा पाता; किन्तु यह मनुष्य कितना अविवेकी है कि इतना भी नहीं सोचता कि प्रश्न यह नहीं कि छवि किस स्त्री की है। मुख्य बात दर्शन और दृष्टि कोण में दूषण की है, यदि सार्वजनिक जीवन में यह दृष्टि दोष आता है ता उससे अपनी धर्मपत्नी, बहिन, बेटी कोई भी अपवित्र हुए बिना न रहेगी। अपनी सामाजिक समस्याओं में अनैतिक आचरण का विस्तार एक ऐसी बुराई है जिससे हमारी सृजनात्मक शक्तियाँ ही नष्ट होती जा रही है। अकेली स्त्री इस दिशा में कुछ नहीं कर सकती। इस सामाजिक बुराई ने व्यापक रूप धारण कर लिया है और अब फिल्म, चित्रकला आदि में भी बुरी तरह फैलता जा रहा है। आवश्यकता समय रहते आग के बगूलों को जहाँ के तहाँ रोक देने की है अन्यथा उस लपट से सारा समाज ही जलकर खाक हो सकता है।

भारतीय नारी की वर्तमान स्थिति -

स्त्री-पुरूष एक ही सत्ता के दो रूप है। उनमें से किसी एक का अपना अलग एवं पूरा व्यक्तित्व नहीं है। स्त्री, पुरूष का और पुरूष स्त्री का पूरक अंश है। जब यह अंश अलग-अलग होकर अपनी भिन्न सत्ता बनाने की भूल करता हैं तभी समाज में विघटन तथा विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती है।

जिस राष्ट्र अथवा समाज की आधी शक्ति जनसंख्या नारी वर्ग दीनता, हीनता, मूढ़ता तथा जड़ता से ग्रसित बनी रहे उसके सुधार तथा विकास का प्रयत्न न किया जाता हो उसके निर्माण सम्बन्धी सारे कार्यक्रम निष्फल ही सिद्ध होगे। जिस देश के परिवार सुशिक्षित, सुयोग्य, स्वस्थ तथा समर्थ होंगे, उस देश का समाज निश्चित रूप से शक्तिशाली तथा उन्नतशील होगा। परिवारों का सुन्दर तथा सुयोग्य होना बहुत कुछ नारी पर निर्भर होता है। इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि जब-जब जिस देश की नारियाँ उन्नतशील, कर्तव्य-परायण, विदुषी तथा चेतना सम्पन्न रहीं तब-तब उस देश ने उल्लेखनीय कार्य कर दिखाये हैं। यह नारी की योग्यता एवं कुशलता पर ही निर्भर है कि वह समाज को शिष्ट, शालीन, वीर, धैर्यवान एवं कर्त्तव्य निष्ठ नागरिक देती है अथवा भीरू और चोर उच्चकों को अपनी गोद में खेलने वाले मानव शिशु को यदि माता चाहे तेा महापुरूष बना सकती है और न चाहे तो वह माँस पिंड बड़ा होकर भी लुंज-पुंज बना रह सकता है। शारीरिक विकास हो जाने पर भी वह किसी योग्य न हो सकेगा।

आज हमने नारी वर्ग का मूल्य एवं महत्त्व बहुत गिरा दिया है। उसे केवल भोग्या, प्रजननी तथा गृह-परिचारिका भर ही समझ लिया है और बहुत कुछ उसे उसी स्थिति में एक लम्बे समय से रखते चले आ रहे है। आज हमारी इस उपेक्षा से उसका शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक पतन खेदजनक स्थिति तक़ पहुँच गया है। नारी के अवमूल्यन का अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि जब किसी घर में लड़की पैदा हो जाती है तो वहाँ का वातावरण एकदम नीरस एवं विषण्ण हो जाता है। ऐसा मालूम होता है कि कन्या रूप में मानो उनके ऊपर कोई भारी तथा बेक़ार का बोझ आ पड़ा है। आज अपने समाज में सौ व्यक्तियों में से एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं मिल सकता जो लड़की के जन्म पर उतनी ही प्रसन्नता व्यक्त करता हो जितनी कि पुत्र जन्म के अवसर पर। अधिकांश व्यक्ति तो कन्या-जन्म को अभाग्य ही मान बैठते हैं यद्यपि अपने को शिक्षित तथा सभ्य मानने वाले लोग अपना यह असन्तोष स्पष्ट प्रकट नहीं करते, तब भी उनका यह कथन कि क्या किया जाये। भगवान ने जो कुछ दिया सब ठीक है, उसकी मर्जी से किसी का क्या वश, उनके मनोभाव को व्यक्त ही कर देता

है, इस प्रकार देख सकते है कि क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित सभी लोग नारी का मूल्य कम करके आँकते हैं। नारी जाति का यह अवमूल्यन क्या परिवार और क्या समाज अथवा राष्ट्र सभी के लिए अहितकार है। यह विषमता केवल जन्मोत्सव के समय ही नहीं दिखाई देती बल्कि पालन-पोषन, खाने-पीने और पहनने-औढ़ने तथा शिक्षा-दीक्षा जैसी बातों में दिखाई देती है। इन सब बातों में जो विशेषता लड़कों को दी जाती है। उसका चतुर्थांश भी लड़कियों को नहीं दिया जाता है।

कहने को भारतीय नारी जीवित जरुर है, किन्तु यह बुरी तरह से मनोमृत हो चुकी है जिसमे अपने अस्तित्व की चेतना न हो, अपने व्यक्तित्व का बोध और अपने अधिकार एवं कर्त्तव्य का ज्ञान न हो उसे तो मृत ही माना जाएगा। नारीत्व तथा मातृत्व की महिमा को भूलकर वह प्रजनन यन्त्र भर बनकर रह गई है। समाज का सर्वतोमुखी पतन हो चुका है और इस पतन का अपरिमित मूल्य भी चुकाया जा चुका है निश्चय ही अब समय आ चुका है जब मोह निद्रा से जग उठना ही चाहिए। मूढ़ताओं अन्ध-विश्वासों, भ्रान्तियों तथा कुरीतियों के साथ अन्य धारणाओं एवं सड़ी-गली मान्यताओं को उखाड़ फेंकना चाहिए। नारी के प्रति अब तक की चली आ रही अपावन परम्पराओं को समाधि दे दी जानी चाहिए और उसकी शिक्षा, स्वतन्त्रता तथा महत्त्व का ठीक-ठीक मूल्यांकन किया जाना चाहिए। नारी समाज की आधी शक्ति, आधी जनसंख्या और व्यक्ति की जननी तथा धात्री है। नारी के महत्त्व और उसके स्थन क सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को परिमार्जित कर लेने की आवश्यकता को अब अधिक देर तक टाला नहीं जा सकता।

नारी समस्या संसार की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या-

नव-जागरण की इस पुनीत बेला में अपने युग की अति महत्त्वपूर्ण माँग यह है कि नारी उत्कर्ष को समय की सबसे बड़ी आवश्यकता माना जाये ओर उसके लिए प्रबल प्रयत्न किया जाये। लोक-मंगल की अनेकानेक प्रवृत्तियाँ चलती रहती है। परमार्थ-परायण व्यक्ति उन्हें अग्रगामी बनाने के

लिए बहुत कुछ करते भी रहते है पर इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि नारी समस्या को सुलझाने की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना कि आवश्यक है। आदत में सम्मिलित हो जाने पर कितनी ही अवांछनीय दुष्प्रवृत्तियाँ भी सह्य हो जाती है। कुछ ऐसा ही विचित्र घटना क्रम नारी के सम्बन्ध में भी हुआ है। अन्धकार युग में दुर्बलों का समर्थो द्वारा शोषण करने का जंगली कानून चला तो उसकी चपेट में बेचारी नारी भी आ गई। शोषितों और शोषकों को अपना-अपना भाग्य, ईश्वर की इच्छा, विधि का विधान आदि कहकर यथास्थिति अपनाय रहने के लिए रजामन्द किया गया।

'समाज में नारी एक बहुत बड़ी शक्ति है। घर का सारा व्यवहार उसी के हाथ में आज तक रहा, आगे भी रहेगा। बच्चों का प्रजनन ओर पलन ही नहीं, पोषण भी उसी के हाथ है। बच्चों मे जो संस्कार बचपन में माता की तरफ से होते हैं, उसमें अधिक सम्पर्क दूसरा कोई संस्कार जीवन भर में नहीं उभार पाता। स्त्री के गुण, लज्जा, भय या संकोच नहीं, विनय, आत्म-श्रद्धा, निर्भयता, शुचिता, आत्म-सौन्दर्य का भाव हमारी माताओं में जगाया जाय, ताकि वे इन गुणों को पकाकर भावी सन्तानों को स्तन-पान करायें और उनमें भी वैसे ही तेजस्विता; मनस्विता, वीरता, समर्थता, मेधा के भाव भरते हुए चले जाएँ और अतीतकालीन गौरव एक बार फिर से स्पष्ट हो पड़े। मानवीय शक्ति का जागरण ही विश्व परिवर्तन का आधार है। नारी विधेयात्मक शक्ति है। जो काम पुरूष शक्ति-तांडव द्वारा करता है, नारी उसे सहज स्नेह, सरलता और सौम्यतापूर्वक सम्पन्न कर लेती हैं युग परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन पूर्ण करने के लिए सर्वतो भावेन उसकी को जगाना चाहिए।

विवाह- विवाह ओर पति का चुनाव उसकी अपनी इच्छा पर था। समनत्सवों में परिचित हुआ प्रणय ही बाद में जीवन सहचर बन सकने की आशा कर सकता था। पतिगृह में प्रथम बार प्रवेश करती हुई वधु को कुलपुरोहित आशीर्वाद देता था।

मातृत्व- एक पत्नी व्रत ही वैदिक काल का साधारण नियम था। बहू-विवाह भी होते थे, किन्तु वे अपवाद स्वरूप थे।

भारतीय संस्कृति में नारी की गरिमा-

मध्य-युग में अपने देश में पतनशील प्रवृत्तियों के विकास क्रम में सामाजिक संरचना हर प्रकार से दूषित होती गई और सुविधा प्राप्त शक्तिशाली वर्ग ने अपनी अन्ध-मान्यताएँ शेष वर्ग पर थोपने के लिए हर सम्भव हथकण्डे अपनाये। एक ओर जहाँ धन-सम्पदा थोड़े से लोगों के हाथों में केन्द्रित कर शेष को उनका मुँह जोहते रहने वाला बना डाला गया, वहीं धर्म शास्त्रों में भी पुरोहितों द्वारा मनचाहे अंश जुड़वाये गये। लेकिन प्राचीन ग्रन्थों में नारी के लिए प्रयुक्त सभी शब्दों का व्युत्पत्ति पर ही यदि विचार करें तो भी स्पष्ट हो जाएगा कि मध्यकालीन अन्धकार युग से पहले अपने यहाँ महिलाओं के प्रति समाज-शास्त्रियों का मनोभाव क्या था?

सबसे पहले 'महिला' शब्द को ही लें-मह+इलच+आ=महिला। मह का अर्थ श्रेष्ठ या पूजा है। पूज्य, श्रेष्ठ जो है, वही महिला। लौकिक संस्कृत में आदर देने के लिए स्त्रियों के लिए 'मान्या' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार स्त्री-अर्थ का बोधक 'ग्ना' शब्द भी ऋग्वेद में आया है, जो देव पत्नियों के लिए प्रयुक्त है। स्त्री शब्द तो सर्वाधिक प्रचलित है। महर्षि पतंजलि के अनुसार-

'स्त्यास्यति अस्यां गर्भ इति स्त्री'

उसके भीतर गर्भ की स्थिति होने से उसे स्त्री कहा गया है। जहाँ तक 'नारी' शब्द का प्रश्न है वह नर की ही तरह 'नृ' से बना है और इसका सामान्य अर्थ है - क्रियाशील रहने वाला 'नर' हुआ और जो क्रियाशील रहने के कारण ही 'नारी' हुई। 'सुन्दरी' शब्द ऋग्वेद में 'सूनरी' का विकसित रूप है। सूनरी ऊषा को कहा गया है अर्थात शोभावाली। 'ललना' और 'मानिनी' शब्द तो स्पष्ट ही है। जिसकी इच्छाशक्ति। प्रबल हो वह ललना और जिसमें स्वाभिमान हो, वह मानिनी।

जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते है। ऐसा कहने वाली मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि स्त्री की प्रसन्नता से ही घर-भर में उल्लास मुखरित होता है। यदि वह विषण्ण, उदास रही तो चतुर्दिक अवसाद घिर आता है।

व्यास संहिता में कहा है कि पत्नी के प्राप्त होने के पूर्व तक पुरूष अधूरा है - 'यावन्न विदन्ते जाया, तावदर्धो भवेत् पुमान। श्रीमद्भागवत के अनुसार वैवस्वत मनु की धर्मपत्नी ने पुत्रेष्टि यज्ञ के समय कन्या उत्पन्न होने की याचना की।

प्राचीन भारत नारी की प्रगति का मर्म-

आजकल भले ही नारी का कार्य-क्षेत्र घर-गृहस्थी तक ही सीमित कर दिया गया हो और उसे वहीं अपनी योग्यता दर्शाने में सार्थकत अनुभव की जाती हो, पर प्राचीनकाल में वैसा नहीं थी। क्या यह प्रगति अकेले पुरूष ने की? नारी ने इसमें कोई योगदान नहीं दिया? यदि ऐसा होता तो फिर प्रगति की चाल कछुए के समान रही होती और आज की तरह ही हम सब कदम मे कदम मिलाकर चलने में असमर्थ होते। प्राचीनकाल में नारियों ने पुरूष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर सहयोग किया और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विकास के साथ-साथ समाज, राजनीति, धर्म, कानून, संगठन आदि सर्वांगीण उन्नति में पुरूष की सच्ची सहचरी बनकर रही। उसे प्रेरणा देती रही, बल प्रदान करती रही। यों कहने को नारी का अबला कहा जाता है, पर आसुरी उत्पातों के कारण देवतागण जब घबड़ा उठे तो असुरों का संहार करने मे मातृ-शक्ति दुर्गा ही समर्थ हुई थी। यह तो हुई शक्ति- संगठन सम्बन्धी बात, पर समाज के अन्य क्षेत्रों में भी नारी ने महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निबाही है। जब पृथ्वी पर भागवत शक्ति के अवतरण की आवश्यकता हुई तो मनु तप कने लगे। उनका अकेले का तप सफल नहीं हुआ तो मनु-पत्नी शतरूपा भी तपश्चर्या में लगी। फलतः तप सफल हुआ और शतरूपा ने कौशल्या के रूप में राम को अपनी गोदी खिलाया। भगीरथ द्वारा गंगावतरण के लिए तपश्चर्या की कथा सर्वविदित है। पर

बहुत थोड़े लोग जानते है कि सूखे विन्ध्याचल को हरा-भरा बनाने के लिए अत्रि ऋषि की पत्नी अनुसूया ने तपश्चर्या की और चित्रकूट से मन्दाकिनी नदी को बहने के लिये विवश किया। इस उपाख्यान का उल्लेख रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में भगवन् राम के चित्रकूट निवास प्रसंग में मिलता है। सन्तति निर्माण में माता की भूमिका पिता से हजार गुना अधिक है। देवी अशिज ने अपने पुत्र कांक्षिवान को अपने ही संरक्षण में रखकर शिक्षा दी थी और उसे विद्वान बननो के साथ-साथ योग विद्या में निष्णात भी बनाया। योग- शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान और मर्मज्ञ ऋषि पंच-शिख जिन्होंने इस विषय पर कई ग्रन्थ लिये है - ने स्वयं स्वीकार किया है कि यह ज्ञान उन्होंने अपनी माता से ग्रहण किया। विद्वता और शिक्षा के क्षेत्र मे भी भारतीया नारी प्राचीन काल में पिछड़ी नहीं रही है। गार्गी और याज्ञवल्क्य का जनक और सुलभा का तथा शंकराचार्य और देवी भारती का शास्त्रार्थ सर्वविदित है। इन विदुषियों के समतुल्य ही विदग्धा, उद्यालिका, बीचावली, अनुसूया और गौतमी की भी गणना की जाती है। ज्ञान और विद्वता के क्षेत्र में ही क्यों शौर्य, साहस और पराक्रम में भी भारतीय नारी इतनी बढ़ी-बढ़ी थी कि उसे अबला कहना हास्यास्पद लगता है। शौर्य और पराक्रम ही क्यों? धर्म और समाज-संस्कृति की सेवा के लिए भी नारियों ने बढ़-चढ़ कर बलिदान प्रस्तुत किये है। आचार्य वृहस्पति की पुत्री देवहुत और भावभव्य की कन्या रोमशा अपने पिता तथा पति से आज्ञा लेकर विभिन्न क्षेत्रों में धर्म प्रचार के लिए गयी थी। अभ्रण ऋषि की कन्या ने तो एक गुरूकुल भी खोल रखा था जिसमें छात्र-छात्राओं को समान रूप से प्रवेशाधिकार थे। नेतृत्व का जहाँ तक प्रश्न है महिलाएँ उसमें भी पीछे नहीं रही है। इन्द्र को दिशा-निदेर्श तो इन्द्राणी ही देती थी। धृतराष्ट्र तो राज्य-संचालन में असमर्थ थे। यह कार्य उनकी पत्नी गान्धरी ही करती थी। इतिहास की बात को ही लो राज्यश्री, रजिया बेगम, नूरजहाँ, चाँदबीबी, रानी पद्मावती, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, अहिल्याबाई होल्कर जैसे अगणित उदाहरण है। उदाहरणों का अन्त नहीं है। इन सबका सारांश यह है कि उसे किसी भी श्रेष्ठ दिशा में आगे बढ़ने से रोकना अपनी व्यक्तिगत हानि तो है ही, पर समय और आज की माँग को दृष्टिगत रख कर सोचा जाय तो सामाजिक अपराध भी कहना पड़ेगा।

आज हमारी दुर्दशा के लिए कुछ शताब्दियों की दासता जिम्मेदार नहीं है, जिम्मेदार है नारी पर अब भी परम्परागत ढंग से लगे हुए प्रतिबन्ध। हमें स्वतन्त्र हुए 64 वर्ष हो गये। किसी राष्ट्र को अपनी स्थिति सुधारने के लिए इतना समय कम नहीं है। आशय यह नहीं है कि स्थिति ज्यों की त्यों है, पर विकास जिस गति से होना चाहिए था, नहीं हो पाया। कारण कि आधी जन-शक्ति तो आज भी अपंग ओर बोझ बनी हुई है। शेष आधी जनशक्ति उसका दुर्वह भार ढोने में ही अपना समय और अपनी क्षमताओं का अधिकांश भाग लगा रही है। मूढ़ताओं, अन्ध-विश्वासों, भ्रांतियों और कुरीतियों को पोषण देते बहुत समय हो गया। उसका महँगा मूल्य भी चींटी की चाल से चलत हुए चुकाया जाता रहा है, पर अब वह क्रम भी अधिक नहीं चलने दिया जाना चाहिए।

भारतीय धर्मशास्त्रों में नारी की गरिमा -

नारी में देवत्व की मात्र स्वभावत: अधिक होने के कारण उसे पूज्य एवं पवित्र माना जाता है। माता, पुत्री और भगिनी के रूप में वह प्रत्यक्ष देवसत्ता है। इन स्वरूपों में उसे सदा नमन, अभिनन्दन किया जाता है। धर्म पत्नी के रूप में भी वह धर्मस्वरूप है। सहचरी होने पर भी उसकी वरिष्ठता अपने स्थान पर यथावत् रहती है। सेवा समर्पण में उसका योगदान अधिक रहने से वह छोटी नहीं गिनी जाती, वरन् उसकी गरिमा बढ़ती ही है।

मध्यकालीन प्रतिगामिता के प्रतीक ऐसे अभिवचन जहाँ-तहाँ धर्मशास्त्रों में ठूँसे हुए मिलते है। जिनमें स्त्रियाँ और शूद्रों को वेदाध्ययन का निषेध किया गया है। इसमें पुरूषों और कुलीनों की श्रेष्ठता ओर स्त्रियों तथा शूद्रो की निकृष्टता सिद्ध करने का भाव रहा होगा। गायत्री मन्त्र भी वेद मन्त्र है। इसलिए जब वेदाधिकार छिपा तो गायत्री मन्त्र की उपासना करने का भी उनके लिए निषेध हो गया। उन दिनों उस प्रकार के निषेध जिन लोगों ने चलायें वे भूल गये कि वेद मन्त्रों की दृष्टा एवं सृष्टा जब स्वयं महिलाएँ रही है तो फिर उन्हीं के लिए उनका निषेध कैसे हो सकेगा? यज्ञोपवीत तो यज्ञ

और गायत्री का सम्मिश्रित प्रतीक है। उसका धारण करना पुरूषों और स्त्रियों के लिए समान कर्त्तव्य है। इसे प्रमाणित करने वाले अनेकों शास्त्र वचन उपलब्ध होते है। ये शुद्ध ओर पवित्र स्त्रियाँ यज्ञ की अधिकारिणी है। स्त्री पुरूष को इकट्ठे प्रसन्नतापूर्वक नित्य यज्ञ करना चाहिए। स्त्रियों के ये सम्पूर्ण संस्कार जो ऊपर पुरूषों के वर्णन किये है बना विचारे ही कर देने चाहिए। यथा काल यथा क्रम शरीर के संस्कार के लिए अवश्य कर देने चाहिए।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में राजा कुशध्वज की पत्नी मालावती के उदर से उत्पन्न हुई, वेदवती नामक कन्या का वर्णन है जो बचपन से ही वेदोच्चारण करने में प्रवीण थी। स्त्रियों में स्नेह की मात्रा विशेष रूप से अधिक रहती है, धर्म की मात्रा उनमें अधिक रहती है। इसलिए उन्हें धर्मपत्नी का पद दिया जाता है। उनमें अर्थ तत्त्व भी है इसलिए उन्हें गृहलक्ष्मी कहते हैं। काम रूप होने से संतान को जन्म देती है। शक्ति रूप से लोक में प्रतिष्ठित होकर मोक्ष देती है। जहाँ पति-पत्नी प्रेमपूर्वक रहते हों, वहाँ स्वर्ग ही है। जहाँ प्रतिकूलता रहती हो वहाँ प्रत्यक्ष नरक ही है। सच्चा प्यार तो स्वर्ग में भी दुर्लभ है। जब प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने की कामना की तो उसने सबसे पहले युग्म बनाया। एक का नाम रयि था और दूसरे का प्राण। बस इसी रयि और प्राण से ही सारा संसार निर्मित हुआ। इसलिए ऋषि-महर्षियों ने परिवार के सभी व्यक्तियों को निर्देश दिया है कि वे नारी का सम्मान तथा आदर करें गृहिणी का निरादर तथा अवमानना करने की भर्त्सना भी की गयी है और उसके दुष्परिणाम इस प्रकार बताये गये हैं। स्त्री को चाहिए कि सदा प्रसन्न मुख रहे। गृह कार्यो को दक्षतापूर्वक निबटाये तथा परिवार के प्रत्येक सदस्य को सुसंस्कारी बनाने के लिए यत्न करे। गृह सम्पदा का, परिवार की आर्थिक स्थिति का जहाँ अनावश्यक अपव्यय होता हो उसे दृढ़तापूर्वक रोके।

इन सब उदाहरणों के आधार पर भारतीय संस्कृति में नारी के स्थान को आसानी से समझा जा सकता है। लेकिन इन आधारों पर आधारित मान्यताएँ वर्तमान समाज में कहाँ भी दृष्टिगोचर नहीं होती। इस स्थिति को अविलम्ब बदला जाना चाहिए।

नारी ब्रह्मवर्चस की समान अधिकारिणी -

मात्र लौकिक और भौतिक जगत ही नहीं, धर्मोपदेश के, योगाभ्यास के क्षेत्र में भी स्त्रियाँ पुरूष ऋषियों के समतुल्य ही अपना कार्य करती रही हैं तथा अनेकों ऋषिकाएँ- धर्मप्रदशिक्षाएँ प्राचीनकाल में होती रही है। उन्होंने इस उत्तरदायित्व का भली प्रकार निर्वाह किया है। इसके कितने ही उदाहरण पुराण-शास्त्रों में मिलते हैं। महाभारत शान्ति पर्व में विदुषी योग पारंगत सुलभा का एक संस्मरण इस प्रकार है। वह योगिनी संन्यासिनी सुलभा जन-समूह से पूर्ण मिथिली में भिक्षा के उद्देश्य से राजा जनक के पास गई। तब राजा ने उसका स्वागत करके श्रेष्ठ आसन दिया। पाँवों को धोकर उसकी पूजा की तथा श्रेष्ठ अन्न से उसको तृप्त किया। व्यक्तिगत जीवन में शिक्षा, स्वास्थ्य और स्वावलम्बन इन तीनों की आवश्यकता है। उठती किशोरावस्था से लेकर यौवन की परिधि में प्रवेश करने तक की अवधि इन्हीं तीनों के सम्पादन के निमित्त योग्य अवसर है। संसार का अधिकांश काम इन दिनों नर शक्ति के सहारे चल रहा है। नारी शक्ति का कम महत्त्व के कार्यों में उपयोग होता है। नारी अभ्युदय का आन्दोलन दोनों को समान स्तर का बना देगा। ऐसी दशा में अर्थ-व्यवस्था से लेकर परिवार निर्माण समापन व्यवसायिक के अनेकानेक कार्य नारी के द्वारा सम्पन्न होने लगेगें और सर्वतोमुखी प्रगति का स्तर दूना ऊँचा उठ जाएगा। समझदारी यही है कि बहुप्रजनन के संकट से नारी को बचाया जाये। सुयोग्य नारी जो भावी पीढ़ी जन्मेगी, वह निश्चित ही प्रतिभावान, सुसंस्कारी होगी। उज्ज्वल भविष्य की संरचना नारी अभ्युदय पर ही निर्भर है।

मनुष्य समाज के दो विभाग है- एक नर, दूसरा नारी। दोनों के सहयोग से ही वे सब क्रिया-कलाप चलते हैं, मनुष्य के उत्तरदायित्वों की परिधि में आते हैं। दोनों के बीच असहयोग या व्यवधान खड़ा हो जाय तो समझना चाहिए कि प्रगति तो दूर, निर्वाह का साधारण क्रम भी ठीक तरह न चल सकेगा। इक्कीसवीं सदी को **महिला शताब्दी** का नाम दिया गया है।

प्रकृति नर को निरीह मानती है उनके अधिक संख्या मे तथा जल्दी मरने के तथ्य को समझती है। इसलिए भ्रूण रूप में लड़के ही अधिक आते है। प्रकृति अनुशासन को पग-पग पर तोड़ने, आपस में लड़ने-झगड़ने और आखेट में आहत होने का दण्ड दुष्परिणाम भी उसी को अधिक भुगतना पड़ा। नारी इस प्रकार के जंजाल से बची रही। इसलिए शारीरिक रोग और अकाल मृत्यु ने उसे उतना नहीं सताया, जितना पुरूषों को। यह ऐतिहासिक अन्वेषण है। विदित इतिहास में जितने भी छोटे-बड़े युद्ध हुए है उनमें पुरूषों को ही अधिक मरना और घायल होना पड़ा है। महिलाओं को अनिश्चित एवं विपत्तिग्रस्त भले ही रहना पड़ा हो, पर उन्हें मोर्चे की लड़ाई में न तो जूझना पड़ा और न रक्तपात की नृशंसता में उतना कोई विशेष भाग रहा।

समय अब तेजी से बदल रहा है। विषमता एवं विपन्नता के विरूद्ध आवाज उठाने की हिम्मत सब ओर उभर रही है। मात्र अधिकार जताना ही कर्त्तव्य पालन करना भी मानवी चेतना को झकझोर रहा है। परिस्थितियों ने समाज को विवश कर दिया है कि वह नारी के प्रति अपना दृष्टिकोण बदले और मनुष्य वर्ग का ही उपयोगी अंग माने। फलत : उनकी शिक्षा पर ध्यान दिया जा रहा है। साथ ही स्वावलम्बी और सुसंस्कृति, सुयोग्य, समुन्नत बनाने पर भी। जहाँ कहीं भी अवसर मिला है, वे वर्षा की बूँद की तरह विकासोन्मुख हुई है ओर बसन्त की तरह फूलों से लदी है। विज्ञान, कला, साहित्य, प्रशासन, शिक्षा, चिकित्सा आदि के जो भी काम उन्हें सौपें गये उनमें वे पुरूषों की तुलना में अधिक ही सफल-सक्षम रही। नारी का शोषण, उत्पीड़न, पिछड़ापन सब क्षेत्रों में से तो हटा नहीं है, पर उसे अनेक क्षेत्रों में विकसित स्थिति में देखा जा रहा है ओर समझा जा रहा है कि उसे दबोचकर पुरूष ने पाया कम और गँवाया बहुत। समय की विकृतियाँ पुरूष द्वारा बरती जाने वाली दुष्टता की देन है। उसके हाथ में धन है, साधन है, आयुध है ओर ऐसे धूर्त हथकण्डे जिनके सहारे वह दूसरों को फँसाने के फेर में अपनी भी दुर्गति कराने वाले दल-दल में फँस सके। इतने पर भी यह स्पष्टतया समझा जाना चाहिए कि वह माता के रूप में, बहिन के रूप में, पुत्री के रूप में, पत्नी के रूप में पुरूष को नियन्त्रण में रख सकने में समर्थ है। इतना ही नहीं वह चण्डी के रूप में अपनी विकरालता भी प्रकट

कर सकती है। इक्कीसवीं सदी सृजन की शताब्दी है। विनाश का उपक्रम इस बीसवीं सदी का अन्त होते-होते दम तोड़ चुका है। पुरूष ने कठोरता बरती और नृशंसता सीखी है। उसकी उपयोगिता मात्र युद्ध अपहरण, शोषण उत्साह भर में काम आ सकती थी। सो अगले दिनों ऐसा प्रवाह बहेगा, महौल बनेगा जिसमें इस प्रकार की उद्दण्डता सहज ही निरर्थक हो जाएगी। अतीत के महान गौरव को वापस लौटाने के लिए विभीषिकाओं की चुनौती का सामना किया ही नहीं जा सकता।

नारियों को वेदाध्ययन का अधिकार -

भारतीय समाज में आदिकाल से नारियों को बड़ा गौरव प्राप्त रहा है। उन्हें दैवी तत्त्व सम्पन्न शब्दावली से सम्बोधित किया जाता रहा है, जो उनके प्रति आदर की अन्तर्भावना का सूचक है। लेकिन समय ने करवट बदली और जन-साधारण की मान्यताएँ नारी समाज के लिए भी बदल गयी और पुरुष ने सभ्यता और संस्कृति का समपुट लगा कर नारी को घर की चारदीवार में कैद कर दिया, उसे केवल भोग-विलास की ही सामग्री माने जाने लगा। नारी ने भी अपने इस स्वरूप के विरूद्ध कोई विशेष आपति नहीं उठाई। फलस्वरूप पुरुष अपनी इस प्रवृत्ति को जबरदस्ती थोंपता गया। यहाँ तक कि उसने नारियों को सद्बुद्धिदात्री गायत्री का जप करने, वेद पढ़ने तथा पढ़ाने तक पर प्रतिबंध लगा दिया। उसने इस प्रकार नारी के विकास को रोकने का प्रयत्न किया। परिणाम स्वरूप नारी युगों तक घरों के पिंजरे में बन्द रही, परन्तु अब जन-जागृति का युग है, इसलिए यह आवश्यक है कि नारी को स्वस्थ विकास के साधनों की ओर उन्मुख किया जाए। उस सद्बुद्धि की प्राप्ति के लिए गायत्री मंत्र जपने दीजिए, ज्ञान-विज्ञान से परिचय पाने के लिए वेदों का अध्ययन करने दिया जाए, यह आवश्यक है, परन्तु अनेक धर्म के ठेकेदार और दकियानूसी विचारधारा वाले लोग इसे अधर्म बतलाते हैं। अतः आइए शास्त्रीय दृष्टिकोण से नारी के वेदाध्ययन के अधिकार पर हम विचार करें।

भारतीय नारियाँ और पश्चिमी सभ्यता –

भारतीय नारी की मध्य-कालीन और वर्तमान दुर्दशा के सम्बन्ध में हम बहुत कुछ सुनते आये हैं। हम जानते हैं कि गत एक हजार वर्षों से, जब से मुसलमान इस देश में आयें, भारतीय स्त्रियों की अवस्था दिन-पर-दिन गिरती चली गई है। प्राचीन भारतीय समाज में यद्यपि स्त्री को आधुनिक काल के समान प्रतिस्पर्धा अथवा स्वछन्दता की स्वाधीनता न थी, पर समाज में उसका स्थान आदरणीय माना जाता था और घर में उसे पर्याप्त अधिकार प्राप्त था, पर मुसलमानी काल में पर्दा, बाल-विवाह आदि प्रथाओं के कारण उसका विकास रूकने लगा, वे शारीरिक, मानिसक और बौद्धिक पतन के मार्ग पर चलने लगी, पर अब कालचक्र दूसरी तरफ घूमने लग गया है। योरोपीय सभ्यता और पश्चिमीय शिक्षा का जो प्रभाव ब्रिटिश शासन काल में पड़ा है उससे नारियों के आदर्श में भी बहुत उलट-फेर हो गया है। अन्ध-श्रद्धा और पति की दासता का स्थान अब समान अधिकारों का सिद्धान्त ले रहा हैं। अब स्त्रियाँ यह दावा करने लगी हैं कि वे पुरूषों की तरह प्रत्येक कार्य और व्यवसाय क्यों नहीं कर सकती? स्त्रियाँ क्लर्क, वकील, डॉक्टर, मज्स्ट्रिेट आदि पदों के लिए प्रयत्न करने लगी हैं और उन्होंने अनेक उदाहरण उपस्थित करके दिखा दिया है कि यदि अवसर मिले ता वे सभी क्षेत्रों में पुरूषों के समान ही काम करके दिखा सकती हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि हम स्त्रियों के इस प्रकारे के परिवर्तन का समर्थन करते हैं। या उसे शुभ समझते हैं। भारतीय स्त्री पर भूतकाल में जो अत्याचार हुए हैं और आज भी उसे जिस प्रकार परमुखापेक्षी ओर उपेक्षित बना रखा गया है, उसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही है। कुछ सौ वर्ष पूर्व योरोप की स्त्रियों की अवस्था भी ऐसी ही थी। वे सत्त्वहीन ओर उपेक्षित थी ओर उसका परिणाम आज यह दिखाई पड़ रहा है कि पश्चिमी नारी सब प्रकार से पुरूष के मुकाबले में खड़ी हो गई है। शिक्षा, स्वाधीनता आर्थिक और राजनीतिक अधिकार सब बातों में वह पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त कर चुकी है और उसके फल से वहाँ के समाज की एक प्रकार से कायापलट हो गई है। पाउडर, लिपस्टिक, नेल-पॉलिश आदि प्रसाधन सामग्रियों का उपयोग देहाती था जो आज निम्न वर्ग की स्त्रियों में भी पहुँच गया है जो अनेक समय तेा उपहासास्पद जान पड़ता है।

स्वतंत्रता का उद्देश्य आत्मसंयम, आत्मोन्नति, सद्गुणों की वृद्धि होना चाहिए। इसी से स्वतंत्रता का अधिकार कल्याणकारी हो सकता है। इससे विपरीत मार्ग पर चलकर विलास और वासना की वृद्धि करना भारतीय संस्कृति के सर्वथा विरूद्ध है। यूरोप की स्त्रियों में जो परिवर्तन हुआ है और उसके फल से वहाँ की गृह-संस्था ओर परिवार में जो खराबियाँ पैदा हो गई हैं, उनको देखकर वहाँ के समाज शास्त्रियों के मन में भी चिन्ता का उदय हो रहा है। वे देखते हैं कि इस नवीन परिवर्तन के कारण समाज संघर्ष और अशांति की वृद्धि हुई है और पुरूष तथा स्त्री दोनों के जीवन की मधुरता नष्ट हो रही है। पश्चिमी प्रथा और प्रणालियाँ हमारे समाज के लिए कभी हितकर नहीं हो सकती और हम जितना अधिक उनकी ओर बढ़ते जाएँगे, उतनी ही विश्रृंखलता हमारे समाज में पैदा होती चली जाएगी ओर इसका उत्तरदायित्व उन्ही कट्टर पंथी और अज्ञानी लोगो पर होगा जो प्रत्येक सामाजिक सुधार में अड़ंगा लगाते हैं और समाज की गति को न देखकर लकीर के फकीर बने रहने में हम अपना गौरव मानते हैं। समय रहते ही वे सम्भल जाएँ इसी में सबका हित है। जयपुर (राजस्थान) के महाराज के यहाँ श्रीमन्नालाल जी एक विद्वान और कर्मकाण्डी पुरोहित थे। उन्हीं के घर में 'योगिनी मोतीबाई' का जन्म हुआ। बाल्यावस्था में ही इनमें आध्यात्मिक प्रवृत्ति के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे थे। ग्यारह वर्ष की अवस्थ में इनका विवाह हो गया, पर थोड़े ही वर्ष बाद विधवा हो गई। उस समय सती प्रथा तो बन्द हो गई थी, पर उन्होंने अन्य प्रकार से दो तीन बार देह त्यागने का प्रयत्न किया, पर मृत्यु समीप नहीं आई।

बौद्ध धर्म में साध्वियों का स्थान-

बुद्ध भगवान ने यद्यपि स्त्रियों को अपने संघ में स्थान दिया था ओर पुरूषों की भाँति स्त्रियाँ भी भिक्षुणी बन सकती थी, परन्तु बौद्ध सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त स्त्रियों को पुरूषों से दूर रखना ही था। क्योंकि बौद्ध धर्म में त्याग और वैराग्य का स्थान मुख्य है, भोग का नहीं। बुद्ध ने स्त्रियों की निन्दा तो नहीं की, परन्तु बराबर यह सलाह दी कि लोग स्त्रियों के खतरे से बचे रहे। बौद्ध धर्म में

जहाँ पति पत्नी के सम्बन्ध और उनके व्यवहार के लिए नियमोपनियमों की चर्चा की गई है, वहाँ पत्नी के लिए पति की आज्ञापालन का कोई जिक्र नहीं है। पतियों के लिए जरूर आदेश है कि वे अपनी पत्नियों के विश्वासपात्र रहें, उनका आदर करें और उन्हें यथोचित वस्त्र-आभूषण प्रदान करें। पत्नियों को पतिव्रत, धर्मपालन और मितव्ययी बनने की शिक्षा दी है। स्त्रियों से यह भी कहा गया है कि वे अपने घरेलू कामों में बुद्धिमत्ता और परिश्रम से काम ले। माता के प्रति बुद्ध भगवान् के भाव बहुत शुद्ध थे। बुद्ध ने अपनी माता और पत्नी के आग्रह से ही स्त्रियों को भी भिक्षुणी बनने का अधिकार दिया था। बौद्ध धर्मा के अनुसार स्त्रियों को निर्वाण प्राप्त करने का उतना ही अधिकार है जितना कि पुरूषों को। कहा जाता है कि बुद्ध के जीवनकाल में स्त्रियों और पुरूषों ने निर्वाण प्राप्त करके मानव-जीवन के विकास की चरमसीमा तक पहुँचने का प्रयत्न किया था। बुद्ध ने विसाखा आदि स्त्रियों की बहुत प्रशंसा की है। एक स्त्री की प्रशंसा करते हुए बुद्ध ने कहा है- "यह महिला सांसारिक वातावरण में रहती है और राजरानियों की कृपापात्री है, तो भी इसका हृदय स्थिर और शांत है। उसकी अवस्था युवा है और वह धन तथा ऐश्वर्य से घिरी है, फिर भी वह कर्त्तव्य पथ में अविचल और विचारशील है। यह इस संसार में दुर्लभ चीज है।" जिस काल में बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया था, उस काल में स्त्री-जाति की स्थिति बहुत शोचनीय हो गई थी। यह बुद्ध का ही साहस थी कि उसने कहा - "निर्वाण की प्रांप्ति न केवल ब्राह्मण को ही होती है वरन् मनुष्य मात्र को हो सकती है और स्त्रियों को भी हो सकती है।" यह वही समय था जब **'स्त्री शुद्रो नाधीयताम्'** की आवाज सर्वत्र गूँज रही थी और स्त्रियों का समाज में कोई स्थान ही न था।

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतन्त्र है। इस्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में नारी सशक्तीकरण की दिशा में बढ़ता हुआ, नारी-मुक्ति आन्दोलन के विश्वव्यापी अभियान को दिशा दे रहा है। ऐसे भारत अपने अतीत वेदकाल में अपनी विदुषी नारियों को, ऋषि माताओं और सन्त नारियों को विश्व-मानव समाज के सामने एक आदर्श के रूप में रख सकता है। अतीत में विश्व का ज्ञान गुरु रहा भारत आज भी अपने गुरु दायित्व को इस दिशा में सिद्ध करे तो यह एक स्पृहणीय कार्य होगा।

सरस्वती, सरमा, इन्द्राणी, रोमश, उर्वशी, यमी, लोपामुद्रा, श्रद्धा, सूर्या, सावित्री, शची, सिक्ता, शक्ति, उमा, हेमवती, सुलभ ममता, वाक्य, रोमशा आदि वेदकालीन एवं उत्तर वेदकालीन नारियों ने ज्ञान के प्रकाश में अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया तथा ऋषियों के दार्शनिक चिन्तन के विकास में सहयोग दिया था, वह आज भी संत नारियों ने पुन: वर्तमान समय में संत गुरुओं के संग-साथ में स्वतंत्र रहकर भी अपनी साधना से सृजन एवं रचना-कर्म से तथा सक्रिय रूप से सामाजिक, सॉस्कृतिक, आध्यात्मिक क्षेत्रों में दिशा-दर्शी उदाहरण आदर्श स्थापित किये हैं।

सन्त संस्कृति और उत्तर-आधुनिकता-

सन्त तो परमात्मा से भी कुछ नहीं माँगते, वे देते हैं। आँखों वाले अन्धे, करोड़ों लोगों को आनन्द की आँखें देते हैं। लेते हैं यदि तो दुनियाभर की, जड़-चेतन सब की बलैयाँ लेते हैं। उनकी सारी पीड़ाएँ अपने ऊपर लेते हैं। 'आरति उतारना' या 'आरति वारना' का यही वास्तविक अर्थ है। आरत से 'आरती', आरती के थाल में, जगमग ज्योतियों भरे पात्र से प्रभु की आरती उतारना! अपनी ही रोम-रोम जगी स्फूर्णों-सजी मानो समूची देह को स्वयं ही अपने दोनों हाथों में लिए परमात्मा की नजर उतारकर उसकी बलैयाँ अपने ऊपर लेते भक्तगण! हाँ, सचमुच! आरती के थाल को परमात्मा की मूर्ति के चरणों में चार बार, नाभि-प्रदेश में दो बार और मुखमण्डल पर एक बार-यानी सात बार दक्षिण से बायीं और वारना-घुमाना और फिर समूची प्रतिभा की पुन: सात बार आरती उतारना, कुल चौदह बार। आशय यह है कि धरती से नीचे के जीव-जन्तु जलचर आदि की विपत्तियों को, धरती से ऊपर भू-चर पशु-पक्षी मानव तथा चेतन जगत् चींटी, मक्खी आदि तथा नभ-चर प्राणियों की- इन सबकी विपत्तियों, दु:खों को अपने ऊपर लेने की भावपूर्ण संकल्पना- यदि सब मानव-प्राणी करें तो धरती ही स्वर्ग से उत्तम हो जाये। कोई किसी को कभी दु:ख देगा नहीं। सब, सब की बलाएँ उतार, अपने ऊपर लेने को तत्पर हों, तो दु:ख रहेंगे ही कहाँ? अत: सभी सन्त सम्प्रदायों में आरती वारने या आरती उतारने की परम्परा के पीछे यह सर्वजीव कल्याणी परम्परा विद्यमान है। गुरु नानक देव जी ने अपने एक शबद में तारों से जगमगाते हुए रात्रि के आसमान को आरती के थाल के रूप में माना है। अत: सन्तों (भक्तों) की

पुरातन परम्परा मनुष्य की आत्मशक्ति को, आत्म ज्योति को जगाने और उस ज्योति को सर्वत्र, सर्व सुलभ करने की रही है। इसी जागृत आत्मा द्वारा परम आत्मा से जुड़कर योग करके वह स्वयं भी महा-आत्मा, परम-आत्मा, बन सकता है।

सन्त प्रत्येक उपेक्षित, दलित तथा लघु को उसकी सामाजिक उपादेयता, अस्तित्व एवं महत्ता सौंपते हैं। उसे बाहर की निर्धनता से परावर्तित कर भीतर की महिमा का दीदार कराते हैं। यहीं पर सन्त मार्क्सवाद से आगे और ऊँचे अध्यात्मवाद की वास्तविक मानवीय सम्पदा की चेतना को जागृत करके आर्थिक एजेंडा नहीं, सार्थक अस्तित्वगत मापदण्ड सामने लाकर अभावग्रस्त, निर्धनों को भ्रष्ट भौतिक धनिकों पर हँसना सिखाते हैं। यह बुद्ध तथा नैतिक दृष्टि का जागरण है, कथित धार्मिक किन्तु व्यवहारत: अनैतिक दृष्टि-आचरण का निषेध है। बुद्ध आत्मा, परमात्मा, जगत् आदि की ओर न देखते हैं, न चर्चा करते हैं, वह तो मूल, मौलिक, मानवीय जीवन-संवेदनों को लक्षित करते, सँजोते, सँभालते हैं, जो अस्तित्व की बुनियादी जरूरतें हैं और जिनसे नैतिक कर्म की चेतना का जन्म और विकास होता है। उस धर्म-आत्मा, परमात्मा, जगत् आदि को वह जानना ही नहीं चाहते, जो नैतिकता-विहीनता में मात्र जातीय, वर्णवादी अनैतिकता की अहंकारिता को जन्म देता है, जो धरती पर महायुद्धों की मानवी बर्बादी का कारण बन रहा है। ऐसा धर्म और धार्मिक विश्वास जो मानव, मानवीयता और मूल महत् आस्तित्विक आधारों के विरुद्ध जाने के कपाट खोले, उसकी पुरातन-कालीन उच्च ध्वज-दण्डिकाओं, फहरते रक्त-रंजित ध्वजों को बुद्ध किसी हाल में देखना-फहराना नहीं चाहते। अत: ऐसी अहंकारिता, महानता, समृद्धि को सन्त हैय बताते हैं। वे उस साधारणता, सामान्यता, सहजता, सरलता को प्रश्रय देते हैं, जो मानवीयता की रक्षा, सुरक्षा एवं संरक्षा को सुनिश्चित करती है। उत्तर आधुनिकता की दृष्टि भी इन्हीं लक्ष्यों की ओर दृष्टि जमाये रहती है।

'सन्त संस्कृति' एक जीवन शैली एक पद्धति है, जो स्वयं में मुक्त व्यक्तियों की विमुक्त सोच, चिन्तन और चिन्तना को अधीष्ठित करती और परवान चढ़ाती है। रूढ़ अर्थों में जड़ विचारों, विचारधाराओं से भी मुक्त (Dynamic), स्वतन्त्र-चेता मानस की माँग है, निर्भय और स्वायत्त। अपनी पंचेन्द्रियों, मन और प्राण का संयुक्त सात पंखुड़ियों का पुष्प (ऋग्वेद में एक छन्द विशेष) जिसे स्वायत्त करने वाला छन्द को अधिगृहीत करने वाला स्वच्छन्द कहलाता होता है और स्वच्छन्द ही स्वाधीन होता है तथा स्वाधनी

(स्व+अधीन) ही स्वतन्त्र (स्व+तन्त्र) होता है। ऐसा स्व तन्त्र व्यक्ति अपनी चेतना धरा पर रहता है। निर्भय निर्लिप्त सन्त संस्कृति इन्हीं अर्थों में स्वच्छन्द मुक्त व्यक्तियों की रचना करती है। वे भावी विश्व रचना के नागरिक हो सकते हैं।

सन्दर्भ –

1. मिताक्षरा- याज्ञवल्क्य- 3। 58।
2. पतंजलि- महाभाष्य-2, पृष्ठ-100।
3. कालिदास- मालविकाग्निमित्र- 1। 14।
4. बृहदारण्यक उपनिषद्- 4। 5-3, 4।
5. अथर्ववेदीय जाबालोपनिषद्- खण्ड-4।
6. डॉ. जयदत्त उप्रेती- वैदिक आश्रम- व्यवस्था विशेषांक, रेवली, सोनीपत (हरियाणा), पृ. 23।
7. मुण्डकोपनिषद्- 3। 2। 6।
8. ऋग्वेद भाष्य- 1। 158। 6।
9. वही, 7। 13। 1।
10. मुण्डकोपनिषद्- 1। 2। 11।
11. ऋग्वेद- 7। 56। 8।
12. सत्यार्थ प्रकाश- पंचम समु.।
13. यजुर्वेद- 17। 67।
14. सामवेद- 51।
15. बौधायन धर्म सूत्र- 2। 1। 28।
16. शब्द कल्पद्रुम कोष- पृ. 195।
17. महाभारत- 12। 18। 1। 1।
18. याज्ञवल्क्य स्मृति- 1। 1। 9।

19. यजुर्वेद- 2। 24।

20. श. प. - 14। 4। 2।

21. यजुर्वेद- 14। 2।

22. श्रीमद्भगवदगीता- 7। 11।

23. बुद्धकालीन समाज और धर्न- पृ. 147।

24. व्यासस्मृति- 1। 15-16।

25. पाराशर स्मृति- 9। 58।

26. अत्रि स्मृति- 312।

27. बौधायन स्मृति- 2। 10। 20

28. याज्ञवल्क्य- 1। 15

29. भागवतमहापुराण- अध्याय-11।

30. मिताक्षरा- याज्ञवल्क्य- 3। 58।

31. भारतीय नारी सन्त परम्परा- पृ.-9।

32. वही पृ. 22।

****

अध्याय- 8

उपसंहार

उपसंहार

प्रत्येक युग के समकालीन समाज ने स्त्री से ही परम्परिकता की माँग की है। स्त्री के सन्दर्भ मे परम्परा और आधुनिकता के प्रश्न बार-बार उठाएँ है। प्रश्न यह भी है कि क्यों सिर्फ स्त्री के सन्दर्भ में ही ये सवाल खड़े किए जाते है? क्यों उसमें ही परम्पराओं की धरोहर को संजोए रखने की अपेक्षा की जाती है। भारतीय स्त्री ने लम्बी जद्दोजहद के बाद पहले खिड़कियाँ खोली, फिर दरवाजे खोल दिए। विगत दो दशकों के बाद से दृश्य-परिवर्तन होने लगे है। वह पुरूष के वर्चस्व वाले क्षेत्रों में भी अपनी पैठ बनाने लगी है। भारतीय नारी की पारम्परिक छवि का एक निर्देशन बहुधा गॅवई देहातों में दृष्टिगत होता था, यह ओर बात थी कि यह अभिजात वर्ग की स्त्रियों का चित्र हैं घर के मटकों, घड़ों और बाल्टियों से पानी की आखिरी बूँद तक समाप्त हो जाने के बावजूद प्यास से करकती हुई हलक मौन है। आज जब हम आधुनिकता के 'फ्रेम' में जड़ी हुई भारतीय स्त्री की तस्वीर को देखते है तो एक नग्न यथार्थ से रूबरू होते है। वह है- चमक-दमक ओर ग्लैमर से चुँधियाती हुई आँखों वाली तथा कथित 'सोशलाइट वूमन'। अखबार के तीसरे पन्ने पर दिखना जिसके जीवन का उद्देश्य हो। इसी के समानान्तर कुछ अन्य आकृतियाँ दृष्टिगत होती है। वे हैं- मेल, स्ट्रिपर्स, जिगैलोज और एक जुमला हवा में तैरता है - "सब चलाता है।"

आधुनिकता के नाम पर जिस पीली आँधी ने भारतीय स्त्री की आँखों में गर्दोगुबार भर दिया है। यह सचमुच शोचनीय है। विवाह और परिवार के नाम पर त्याग, समर्पण और उत्तरदायित्वों का एक लम्बा माँगपत्र परम्परा ने उसको सौपा था। तो आधुनिकता ने उसे टुटने, अलगाव, अवसाद और अपसंस्कृति की सौगात प्रदान की है। कुल जमा पूँजी दर्द। इधर कुँआ उधर खाई। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि उसका कार्यक्षेत्र विस्तीर्ण हुआ, उत्तरदायित्व बढ़ा तो उसकी वर्तमान भूमिका को देखते हुए समाज को उसके प्रति सदाशयता और सहानुभूतिपूर्ण रवैया रखना चाहिए था किन्तु वास्तविकता उससे कोसों दूर है। न सिर्फ पति अपनी कामकाजी पत्नी के प्रति वरन् परिवार की महिला सदस्याएँ भी कामकाजी बहू, भाभी या बेटी के प्रति उदारता नहीं बरतते। बलवती महत्त्वाकांक्षाएँ, भौतिकवादी

मानसिकता, विलासितापूर्ण जीवन शैली की ललक, एवं कतिपय अन्य सामाजिक, आर्थिक कारकों ने आज भारतीय स्त्री के वर्तमान को जटिल, थकाऊ और तनावग्रस्त कर दिया है। कार्यस्थल के तनाव, आपसी प्रतिस्पर्धा, विभागीय -ईर्ष्या- द्वेष, शारीरिक और मानसिक उत्पीड़न, पुरूष सहकर्मियों द्वारा की गई व्यूह रचनाएँ, उसकी कार्यक्षमता और प्रतिभा को नकार दिया जाने के उपक्रम- ये सब वर्तमान भारतीय स्त्री को भीतर से बार-बार तोड़ रहे है। अतएव वह अपने लिए एक ऐसे 'स्पेस' की कामना करती है, जहाँ पर वह इन दमघोंटू परिस्थितियों से निकलकर राहत की साँस ले सके। वैदिकयुगीन नारी की स्थिति के महिमा-मण्डन से लेकर उत्तर आधुनिक युग के संत्रास झेलती नारी के जीवन का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयास है।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य ध्यातव्य है - कि जैसे - जैसे भारतीय स्त्री ने आर्थिक स्वायत्तता प्राप्त करना आरम्भ किया है वैसे-वैसे उसको घर और बाहर मे जुड़े फैसलों में छोटी-मोटी सहभागिता मिलने लगी है। भारतीय स्त्रीवाद शोर-शराबों, हंगामों और हलचलों के बावजूद अभी अपने गन्तव्य के प्रथम सोपन पर है। यह भी सत्य है कि कोई भी विचार धारा या वाद आरम्भिक चरण में प्रतिवाद या निषेध की विसङ्गतियाँ अवश्य झेलता है। प्राचीन और नवीन की टकराहट चलती है। नई व्यवस्था का स्पष्ट स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता। प्राचीन व्यवस्था धीरे-धीरे धूमिल होने लगती है। अप्रासङ्गिक और अनुपयोगी करार दे दी जाती है।

भारतीय स्त्री-विमर्श अभी इसी दौर से गुजर रहा है। स्त्री पहली बार घर की चौहदी को लाँघकर बाहर की दुनिया में नई-नई आई है। वह अपने लिए निर्धारित मानदण्डों को अप्रासङ्गिक और बोझ समझने लगी है। उनको समाप्त करने की वकालत के साथ-साथ, बगावत पर उतरने की तैयारी में है। विद्रोह के ये अस्फुट स्वर कुछ वामाअें द्वारा यत्र-तख सुनाई पड़ने लगे है। कुछ उस स्वर के साथ समावेत होती है, कुछ अभी प्रचीन मूल्यों की दुहाई देती हुई, पुरातन व्यवस्था को ही स्वयं के लिए श्रेयस्कर मान रही है। स्वतन्त्रता और समानता मनुष्य मात्र का मौलिक अधिकार है। स्त्री को भी मनुष्य मानना पड़ेगा। क्योंकि इससे पूर्व में ये दोनों अधिकार उसको परम्परा ने प्रदान नहीं किए थे।

ज्वालामुखी के गर्भ में दहकते, सुलगते लावे की तरह भारतीय स्त्री के सीने में वर्षों से दफन ये मांगे खदबदा रही थी।

यह तो एक साधारण भारतीय स्त्री के अस्तित्त्व से जुड़ा हुआ विमर्श है। इसी संन्दर्भ में एक प्रश्न चिह्न यह भी खड़ उठता है कि पारम्परिक आश्रम व्यवस्था का निर्धारण क्या केवल पुरुष के निमित्त है। क्या स्त्री जीवन के सम्पूर्ण विकास के लिए चार आश्रमों का विधान जरूरी नहीं था। यद्यपि इस विषय पर शास्त्र में विभिन्न मत है। संन्यास परम्परा को धारण किये हुए कुछ संन्तों में भी इस विषय पर वैचारिक मदभेद है। कुछ सम्प्रदायों ने तो नारी के संन्यास ग्रहण करने का पूर्णत: निषेध किया है, क्योंकि माया संसार के मार्ग का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है। इसी प्रसंग पर महात्मा कबीरदास जी ने इन पंक्तियों का उल्लेख समिचीन हो जाता है-

माया महा ठगिनी हम जानी।

निर्गुन फांस लिये कर जोरै, बोले मधुरी वानी॥

कबीरदास जी जैसे क्रान्तिद्रष्टा और प्रगतिशील विचारों का पोषक संत भी नारी को ठगिनी, जादूगरिनी, प्रकृति कहकर सम्बोधित करते हैं तो रूढ़ियों से ग्रस्त सम्प्रदायों का क्या विचार हो सकता है। यह सोचनीय विषय है। इतना ही नहीं बौद्ध और जैन धर्म में भी स्त्रीयों के मठों में प्रवेश और संन्यास ग्रहण पर प्रतिरोध है। कालान्तर में बौद्ध और जैन धर्मों में स्त्रीयों को मठों में प्रवेश की छूट दी।

सनातन भारतीय परम्परा के स्वर्णिम काल जिसे हम वैदिक युग कहते हैं इसमें ऋषिकाओं का उद्धरण इस बात पर इंगित है कि तत्त्वाकालीन समाज स्त्रीयों के संन्यास ग्रहण का पोषक था। तत्र युग में स्त्रीयों की दो श्रेणीयाँ हुआ करती थी- ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवदाह। ब्रह्मवादिनीयों को यह अधिकार था कि वे विवाह बन्धन में न बँधकर आत्म-साधन और ब्रह्मज्ञान की खोज में जीवन पर्यन्त अविवाहित रह सकती हैं। इस प्रकार की ब्रह्मवादिनीयाँ कालजयी मंत्रों की द्रष्टा हुई हैं।

इस बात का प्रस्तुत शोध के तृतीय अध्याय में सविस्तार वर्णन हुआ है। स्त्री की एक और श्रेणी का विदर्शन वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है, जिन्हें हम अमाज के नाम से जानते हैं। ये अमाजू वे कन्यायें होती थी जिन्हें अपने जीवन निर्णय की स्वतंत्रता थी। वो अपने पितृ गृह में रहकर जीवन पर्यन्त शास्त्र का अध्ययन करके शस्त्र विद्या का प्रशिक्षण ले सकती थी। इन स्त्रीयों को दाय प्राप्त था। हमारी आर्ष (ऋषि) परम्परा

प्रगतिशील विचारणा की हुआ करती थी। स्त्री पुरुष का जो वैशम्य कालान्तर में हुआ उससे वह सर्वथा मुक्त थी। स्मृतियुग में इस परम्परा में संकीर्णता का पदार्पण हुआ। नारियों को **'असूर्यम् पश्या'** तक कहा जाने लगा। परदाप्रथा, बाल-विवाह हीन समाजिक स्थिति ने उसको दोयम दर्जे का अस्तित्व प्रदान किया। प्रतिभा को कुन्ठीत करने के यन्त हुए। बाल-विवाह, कुलीन विवाह के आग्रह ने बालिकाओं को सामान्य शिक्षा के स्तर से वंचित कर दिया, फिर शास्त्र और दर्शनशास्त्र का अध्ययन कैसे कर पाते?

इसके मूल में अनेक कारण थे, समाज संक्रमण से गुजर रहा था। विविध अक्रान्ता संस्कृतियाँ समाज पर नकारात्मक प्रभाव छोड़ रही थी, ऐसे में स्त्री को ही सबसे निरीह कमजोर और दुर्बल मानकर उसकी स्वाधीनता का हनन किया गया। मनु स्मृति में यह विधान किया कि बचपन में स्त्री पिता के, युवावस्था में पति के तथा वृद्धावस्था में पुत्र के नियंत्रण में रहना चाहिए। स्त्री के लिए स्वतंत्रता उचित नहीं हैं। ऐसी स्थिति में वैराग्य के पथ पर चलने की अनुमति कदापि नहीं थी।

वैराग्य का पथ तो पूर्णत: स्वतंत्रता और स्वयत्यता का माना गया है। वहाँ पर सांसारिक नेह-नातों के लिए कोई स्थान नहीं है। जहाँ आत्म साक्षात्कार और ईश्वर की साक्षात्कार ही जीवन का मुख्य ध्येय है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रदीर्घ साधनाओं की जरूरत पड़ती है। ये साधनायें जन-कोलाहल में रहकर नहीं की जा सकती, इसके लिए साधक तो गिरी, कन्दराओं, जंगलों, पहाड़ों एवं शमशान जैसे निर्जन स्थानों पर जाना पड़ता है और स्त्री जिसे घर से बाहर निकलने का निषेध था, वह किस प्रकार से यह साधना कर सकती हैं। फिर भी मध्ययुग में अनेक नारी रत्नों ने संत परम्परा को समृद्ध किया और लोक-लाज एवं कुल की सारी मर्यादाओं के बंध को तोड़कर संन्यास का मार्ग अपनाया। महान् नारी संत मीरा ने तो अपने सम्पूर्ण समाज को चुनौती दी है कि-

संतन ढींग बैठि-बैठि लोक लाज खोई,

छाड़ि दई कुछ की कानि का करिहई कोई,

मीरा प्रभु लगन लगी होनि हो सो होई।

संन्यास परम्परा स्त्री के लिए कितनी दुर्गम और दुर्जेय थी। इस बात को मीरा की उपरोक्त पंक्तियाँ याद करवाती हैं। इस प्रकार की अनेक विसंगतियों होने पर भी महान् नारी साधिकाओं की चेतना उर्ध्वमूखी

थी। वे अपने ध्येय से डिगने वाली नहीं थी और उन्होंने अनेक विपदाओं को अंगीकार कर संन्यास जैसे पथ को पकड़ा और उसके श्रेष्ठतम् सोपान पर पहुँची।

भारतीय संस्कृति के ये भास्वर रत्न आप भी अपनी कान्ति से वर्तमान संत परम्परा का पथ प्रदर्शन कर रहे हैं। उनमें से कुछ साधिकाओं का नामोल्लेख यहाँ प्रासंगिक हैं। 1-संत आंडाल, 2-सन्त अक्कमहादेवी, 3-सन्त महदम्बा (महदायिसा), 4-सन्त वेणास्वामी, 5-सन्त बावरी साहिबा, 6-सन्त मुक्ताबाई, 7-सन्त सोयराबाई, 8-सन्त निर्मलाबाई, 9-सन्त लल्लेश्वरी, 10-सन्त कान्होपात्रा, 11-सन्त मीराबाई, 12-सन्त जातुकूरि मोल्ला, 13-सन्त हब्बा खातून, 14-सन्त बहिणाबाई, 15-सन्त जनाबाई 16-सन्त उमा, 17-सन्त ताज बीवी, 18-सन्त कवयित्री इन्द्रामती, 19-सन्त सहजोबाई, 20-सन्त दयाबाई, 21-सन्त बहबलवाई, 22-सन्त कोकिलाबाई, 23-सन्त बारमुखी, 24-सन्त नूपीबाई, 25-सन्त द्वै हसीना, हमीदा, 26-सन्त पार्वती, 27-सन्त फूलीबाई, 28-सन्त खुशालाबाई, 29-सन्त जन बेगम, 30-सन्त करमाबाई, 31-सन्त सखूबाई, 32-सन्त बयाबाई, 33-सन्त सागरबाई, 34-सन्त सोंसुबाई, 35-सन्त कवयित्री माँ पीरो, 36-सन्त श्रीमाँ।

वर्तमान समय में भी अनेक साध्वियों ने अपने पावन जीवन चरित से समाज को सुन्दर सन्देश दिया है। वे अनेक लोक कल्याणकारी कार्यो से सामाजिक उत्थान में लगी हुई हैं। कुछ तपस्विनीयों ने विश्व पर आसन्न संकट को देखते हुए पर्यावरण के संतुलन से चिन्तित होकर पृथ्वी पर घटते हुए जल-स्तर को बढ़ाने के लिए तथा देश की जीवन रेखा मानी जाने वाली नदियों को बचाने के लिए प्राणों की बाजी लगा दी है।

विश्व जगत् में इसकी घोर तपस्या को देखकर हाहाकार मच उठा। ये वही दो साध्वियाँ हैं जिन्हें गंगा महासेवा अभियानम् की धूरी कहा जाता है। ये साध्वी शारदाम्बा और साध्वी पूर्णाम्बा नाम से लोक विस्मृत प्रसिद्ध है।

इसी परम्परा की अन्य ब्रह्मवादिनीयों का उल्लेख भी समकालीन दर्शन की ज्वलन्त माँग है। विश्व के लगभग एक दर्जन देशों में विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय ब्रह्मर्षि मिशन की समुची बागडोर साध्वियों के हाथ में हैं। राष्ट्र सेवा के अनेक कार्य साध्वियाँ अपने पूर्ण मनोयोग से कर रही हैं। एक समुन्नत और समृद्ध राष्ट्र के लिए यह आवश्यक है कि उसका गोधन सम्पूष्ट हो। ब्रह्मर्षि मिशन के माध्यम से अनेक स्थानों पर गौशालायें स्थापित की गई हैं, जिनकी सुचारू देख-रेख ये साध्वियाँ करती हैं।

शिक्षा सामाजिक विकास का आधारमूल तत्व है। इस बात की सम्यक अवगति इस मिशन के जुड़ी हुई प्रत्येक साध्वियों को है। एतदर्श इन लोगों ने समूचे राष्ट्र में शिक्षा की अलख जगाने के लिए प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षण संस्थायें स्थापित की है। इतना ही नहीं इस मिशन की साध्वियों ने वनवासी समाज के लिए नि:शुल्क शिक्षा के केन्द्र सुचारू रूप से चला रही हैं। इन शिक्षण संस्थानों में पारम्परिक शिक्षा से लेकर आधुनिक शिक्षा की व्यवस्था है।

नि:शुल्क चिकित्सा केन्द्रों में निर्धन जन का उपचार किया जाता है। इन महाशक्ति साध्वियों का विवरण यहां समिचीन हो जाता है। ये साध्वियाँ इस प्रकार हैं- ब्रह्मवादिनी स्वामी कृष्णकान्ता जी महाराज (विराट् नगर, पिंजौर, हरियाणा), स्वामी विश्व भारती जी महाराज (यू. के.), स्वामी चैतन्य ज्योति जी महाराज (कनेडा), स्वामी डॉ. मनीषा जी महाराज (चण्डीगढ़), स्वामी ब्रह्मऋता जी महाराज (अबोहर, पंजाब), स्वामी ब्रह्मज्योति जी महाराज (लुधियाना), स्वामी चिन्मय ज्योति जी महाराज (ऊधमपुर, जम्मू काश्मीर), स्वामी आदित्य भारती जी महाराज (फगवाड़ा), स्वामी स्वयं प्रभा जी महाराज (कुल्लू), स्वामी भक्तिमणि जी महाराज (विराट् नगर, हरियाणा), स्वामी गुरुप्रिया जी महाराज (लुधियाना), स्वामी विष्णुप्रिया जी महाराज (महानपुर, जम्मू काश्मीर), स्वामी ज्ञानेश्वरी जी महाराज (जबलपुर, मध्य प्रदेश), स्वामी डॉ. अमृता जी महाराज (विराट् नगर, हरियाणा), स्वामी सूर्यप्रभा जी महाराज (यू. के.) स्वामी श्रेया भारती जी महाराज (यमुना नगर, हरियाणा)।

देश-भर में फैले वात्सल्य ग्राम साध्वी ऋतम्भरा दीदी माँ के तप:पूत व्यक्तित्व का परिचय वर्तमान समय में संत समुदाय में विशेष स्थान रखता है। साध्वी उमा भारती जी के चेतना का तादात्म समग्र गंगा सेवा अभियाम से जुड़ा हुआ है। राजनैतिक क्षेत्र में सक्रियता के द्वारा जो इन्होंने पर्यावरण के प्रति अपने लगाव को बनाये रखा है। समग्र राष्ट्र में यात्राओं के माध्यम से जन-जागरण करने वाली सुश्री उमा भारती जी ने अपने तपस्वी जीवन को सार्थकता प्रदान की है।

भारतीय नारी संत परम्परा तथा नारी साधिकाओं के साहित्य में विस्तृत आत्म-परमात्म की सूक्ष्म अनुभूतियों ने उसमें रहस्यमय व्यक्तित्व को प्रकाशित किया है। संत साहित्य में समाज के प्रति करुण वेदना मुखरित हुई है। वह जो सृष्टि का सर्जक, पालन और विनासक है, उसके प्रति अगाध आस्था विविध सम्बन्धों

में रूपाचित हुई है। किसी ने उनका पति रूप वरण किया है और सखा कहकर टेरता है, कोई पुत्र कहकर उमग उठता है। प्रत्येक संत का सद्गुरु होता है। गुरु का माहात्म्य गोविन्द से ऊँचा माना गया है, क्योंकि गुरु ही जीव को शिव से सायुज्य कराता है। वह एक साधारण देहधारी नहीं सद्गुरु होता है, जो परम आत्मा, परम चेतना के ओज एवं तेज सामर्थ्य के अनुसार साधक को ज्ञान देता है। सच्चे संत का अपना कोई पक्ष या विपक्ष नहीं होता। उनकी प्रतिबद्धता प्राणीमात्र के प्रति होती है। किसी भी प्रचलित धर्म सम्प्रदाय के प्रति नहीं, किसी भी वर्ग, वर्ण, कुल, गोत्र, देश-प्रदेश से वह स्वयं को जोड़ते बाँधते नहीं। इन अर्थों में सार्वभौम, सर्वकालिक, सर्वकल्याणक, सर्वजनित उसका समूचा जीवन ही एक लम्बी प्रार्थना होती है। प्रख्यात चिन्तक डॉ. बलदेव वंशी ने एक पद्यांश के माध्यम से इस बात को पुष्ट किया है-

समूची सत्ता
आकाश की
सिमट आती है एक बिन्दु पर।
स्वयं ही अपनी छाया में
समा जाती है वृक्ष की छाया।
ऐसे ही साकार होती है
प्रार्थना!

नारी सन्त भी उक्त विलक्षणताओं, सिद्धियों से भरपूर स्वामिनी होती हैं। अपने गुरुओं के दर्शन सिद्धान्त, चिन्तन-पद्धतियाँ, विचार उनके लिए प्रेरणा और उद्धार का कार्य करते हैं। कुछ नारी संतों ने स्वयं ही स्वतंत्र रूप से अपना मार्ग खोजा है। कभी-कभी विषम परिस्थितीयाँ भी नारी को वैराग्य की ओर उन्मुक करती है। पति का, परिवार का और समाज का आश्रय, संरक्षण, सुरक्षा छीन जाने पर या बालपन में परित्याग होने पर, अपमानित करके घर से निकाल दिये जाने पर, निराश्रित किये जाने पर स्त्रियाँ ईश्वर की शरण में जाने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प कम चुनती हैं, किन्तु उनकी आत्मपीड़ा, समाज की पीड़ा से साझा होकर एकाकार हो गई है। जब अन्तर्मूखी चेतना बहिर्मुखी हो जाता है और ब्रह्माण्ड के उस रहस्यमय तत्त्व से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। संत की वाणी का उजाला भरता है, जहाँ तक नारी संतों का प्रश्न है तो उनकी

सुकुमारता, उनका भाविक हृदय, उनकी विरक्त वृत्ति को करुणार्द्र कर देता है। इसलिए मेरी निजी मान्यता है कि संत नारी जीवन का यह उज्ज्वल पक्ष उसको पुरुष संतों एवं सन्यासियों की तुलना में श्रेष्ठतम् सोपान पर खड़ा कर देता है। वह अपनी भावधारा के उत्स को सुखाकर कोरा शुष्क नहीं बनाती बल्कि उस धारा से समाज के दीन-हीन शोषित, प्रवंचित जन की पीड़ा को होती है। उन्हें तापों से मुक्त करने का महत्तर कार्य करती है और वैराग्यवी होते हुए भी अपनी भावधारा से जगत् का अभिसिंचन करती है। मेरा विश्वास है कि यह संन्यास परम्परा अक्षुण्ण रहेगी। इत्यलम्

****

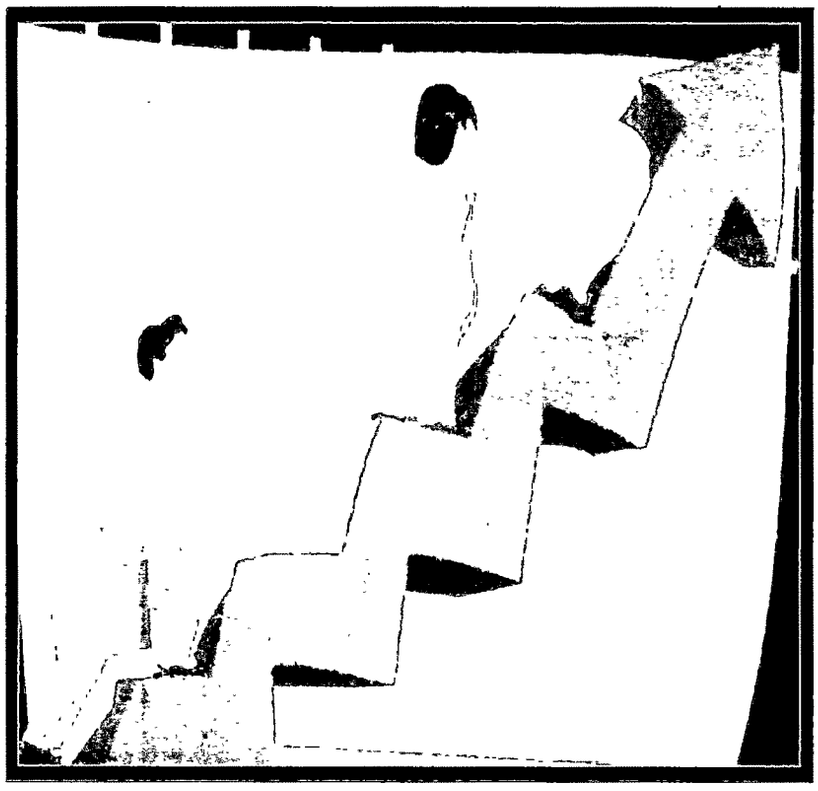

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मुखर्जी राधाकमल : भारत की संस्कृति एवं कला राजपाल दण्ड सन्स, दिल्ली-6।
2. पी. वी. काणे : धर्मशास्त्रों का इतिहास- (प्रथम और पंचम भाग), उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1980।
3. जीयूतवाहन कृत : दायभांग बिबलियोथि का इंडिका तथा जीवामन्द के संस्करण।
4. याज्ञवल्क्य स्मृति : मेघातिथि पर बालक्रीड़ा (टीका का लेखक, 1962)।
5. देवण्ण भट् कृत : स्मृति चन्द्रिका, धारपुरे का संस्करण।
6. प्रतिभा जैन, संगीता जैन : भारतीय स्त्री (सांस्कृतिक संदर्भ), रावत पब्लिकेशन, जयपुर एवं नई दिल्ली।
8. दुबे सत्यमित्र : मनु की समाज व्यवस्था, प्रथम संस्करण-1964 , किताब महल, कलकत्ता।
9. धुरिया प्रताप चन्द : शुद्र और नारी, प्रथम संस्मरण 1963, 390- गोल बाजार, कलकत्ता।
10. डॉ. भवालकर वनमाला : महाभारत में नारी, प्रथम संस्मरण वि. स. 2021, अभिनव साहित्य प्रकाशन, सागर, म. प्र.।
11. ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी : मानस महाकाव्य में नारी, दिव्यालोक प्रकाशन, प्रथम संस्मरण 1988, ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर, पिंजौर, हरियाणा, ।
12. त्रिपाठी चन्द्रबली : भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास, प्रथम संस्मरण 1936।
13. प्रसाद भुवनेश्वर : भारतीय शिक्षा का इतिहास।
14. कालिदास कृत : मेघदूतम्, साहित्य प्रकाशन, मेरठ, उ. प्र.।
15. मधुसूदन सरस्वती : अद्वैत विद्धान्त, निर्णया सागर प्रेस, बम्बई, 1917।
16. लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक : गीता रहस्य, 1968, गायकवाड़ बाड़ा, पूना।
17. मधुसूदन सरस्वती : अद्वैत सिद्धि,1937, निर्णय सागर, मुद्रणालय।
18. हनुमानदास व्याख्याकार : ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य, तृतीय संस्करण चौ. वि. भ. वाराणसी।
19. वेदव्यास : ब्रह्मसूत्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
20. हनुमानदास : ब्रह्मसूत्र, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।
21. डॉ. सविता भारद्वाज : भारतीय स्त्री- परम्परा और आधुनिकता, श्रीकाशी विदुषी परिषद्, वाराणसी।
22. वाचस्पति मिश्र : भामती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1934।

23. बुद्ध प्रकाश : भारतीय धर्म एवं संस्कृति, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, उ. प्र.।
24. प्रो. महेन्द्र सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, उ. प्र.।
25. भारतीय दर्शन की उपयोगिता : मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1995।
26. सदानन्द : वेदान्तसार, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1954।
27. वेदान्ततत्त्व विवेक : नृसिंहाश्रम, ओरियन्टल सीरिज इन्स्टीट्यूट, 1955।
28. मधुसूदन सरस्वती : वेदान्त कल्पलता, गवर्नमैट संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, 1920।
29. सर्वदर्शन संग्रह : माधवाचार्य- टीकाकार, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1978।
30. बौद्ध दर्शन और वेदान्त : सी. डी. शर्मा स्टूडेन्टस फ्रेन्डस, वाराणसी, 1995।
31. डॉ. महेन्द्र शेखावत : आधुनिक चिन्तन में वेदान्त, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ एकादमी, भोपाल।
32. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन दिग्दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद।
33. भारतीय दर्शन : डॉ. राधाकृष्णन राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीर गेट, दिल्ली।
34. भारतीय दर्शन की वैदिकता : सिंह एवं सिंह ज्ञानदा प्रकाशन, पटना, प्रथम संस्करण 1977।
35. संगमलाल पाण्डेय : भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
36. डॉ. कृष्ण प्रसाद सक्सेना : भारतीय दर्शन में चेतना, चौखम्बा विद्या भवन, चौक, वाराणसी।
37. कविराज गोपीनाथ : वेदान्त दर्शन की भूमिका, अच्युत ग्रन्थ माला कार्यालय ललिताघाट, वाराणसी।
38. वेदान्त दर्शन : पालडायसन अनुवाद संगमलाल पाण्डेय उ.प्र. ग्रन्थ अकादमी लखनऊ, 1971।
39. शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त : भार्गवानन्द- राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
40. बलदेव उपाध्याय : श्री शंकराचार्य, इलाहाबाद, 1950।
41. ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा : ब्रह्मविद्या विज्ञान भाग-1, दिव्यालोक प्रकाशन, सैक्टर-19-ए, चंडीगढ़।
42. राधेराय : शतोपनिषद, प्रथम भाग, गोरखपुर।
43. कठोपनिषद शा. भा. : चौखम्बा सुर भारती प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1968।
44. कठोपनिषद शा. भा. : गीता प्रेस, गोरखपुर, (उ. प्र.)।
45. ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा : ब्रह्मविद्या विज्ञान भाग-2, दिव्यालोक प्रकाशन, सैक्टर-19-ए, चंडीगढ़।
46. प्रभाचन्द्राचार्य : प्रश्नोपनिषद, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1944।
47. सुरेश्वराचार्य : बृहदारण्यकोपनिषद, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1942।
48. श्रीमद्भगवत् मूलमन्त्रम् : गीताप्रेस, गोरखपुर, (उ. प्र.)।
49. श्रीमद्भगवत् गीता : श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ. प्र.)।

50. मुण्डकोपनिषद् शा. भा. : गीता प्रेस, गोरखपुर (उ. प्र.)।
51. श्रीमद्भगवत् गीता भाष्यम् : गीता प्रेस, गोरखपुर (उ. प्र.)।
52. सर्वदर्शन संग्रह : माधवाचार्य, भण्डारकर रिसर्च इन्सटीच्यूट पूना, 1951।
53. डॉ. हृदय नारायण मिश्र : विश्वधर्म, सयलानी ब्रदर्स ज्ञानपुर, वाराणसी।
54. महाभारत : भारतीय योग एवं धर्म अनुसंधान, लोनावाला, पूना।
55. अध्यात्म रामायण : वेद भारती प्रकाशन, बम्बई।
56. शंकराचार्य : भगवद्गीता शंकर भाष्य, हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।
57. मण्डन मिश्र : ब्रह्म सिद्धि, शंख पाणिनिकृत टीका सहित, सम्पादक मै. हिरियन्ना, बम्बई, 1925।
58. तत्त्वप्रदीपिका: : चित्सुखाचार्य, हिन्दी अनुवाद सहित, स्वामी योगेन्द्रानन्द वाराणसी, 1956।
59. सक्षेपशारीरिक : सर्वज्ञात्ममुनि हिन्दी अनुवाद स्वामी रामानन्द वाराणसी, 1957।
60. वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली : प्रकाशानन्द, अच्युत कार्यालय, वाराणसी।
61. वेदान्तन्नतार : सदानन्द अंग्रेजी, अनुवाद सहित, सम्पादक मै. हिरियन्ना। ओरियन्टल बुक ऐजेन्सी, पूना।
62. श्री हरिशर्मा : वेदान्त सुधा:, राजकीय प्रेस बुन्दी, राजस्थान, 1915।
63. महर्षि वेदव्यास : श्रीमद्भागवतपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर।
64. श्रीमद्भागवत पुराण : महर्षि वेदव्यास, हिन्दी अनुवाद स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, गीता प्रेस, गोरखपुर।
65. ब्रह्मसूत्र भाष्य : भास्कर प्रकाशन, पुरानी मंडी, मेरठ (उ. प्र.)।
66. रामानुजाचार्य : श्री भाष्य सम्पादक, नरसिंहाचार्य बेंकटेश्वर कम्पनी, मद्रास, 1936।
67. डॉ. राजपति दीक्षित : तुलसी और उनका युग, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, तृतीय संस्करण सं. 2032 वि.।
68. तुलसी सतसई : सतसई, सरस्वती भण्डार, पटना।
69. सुश्री शारदा परिव्राजिका : मानस के मोती, दिव्यालोक प्रकाशन, चंडीगढ़।
70. ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा : मानस में धर्मरथ, दिव्यालोक प्रकाशन, चंडीगढ़।
71. ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा : नारी तुलसी की दृष्टि में, दिव्यालोक प्रकाशन, सैक्टर-19-ए, चंडीगढ़, 1996।

72. गोस्वामी तुलसीदास : बरवै रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ. प्र.)।
73. श्रेयश कुमार : रामचरितमानस का तत्त्व दर्शन, लोक-चेतना प्रकाशन, जबलपुर, (म. प्र.), प्रथम संस्करण सन् 1966।
74. गोस्वामी तुलसीदास : विनय पत्रिका, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ. प्र.)।
75. श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार : श्रीरामचरितमानस (टीका सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, (उ. प्र.)।
76. अथर्ववेद संहिता : सायणभाष्य, एस. पी. पण्डित द्वारा सम्पादित, बम्बई।
77. अग्निपुराण : अनंदाश्रम ग्रन्थावली, पूना, महाराष्ट्र, 1957।
78. वृहदारण्यकोपनिषद : गीता प्रेस, गोरखपुर (उ. प्र.)।
79. मनुस्मृति : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2009 वि.।
80. मनुस्मृति : श्री कुल्लूट भट्ट प्रणीत मन्वर्थ मुक्तावली टीका सहित "मणिप्रभा" हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1982।
81. मनुस्मृति : सुबोधिनी, हिन्दी व्याख्या, ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्स, वाराणसी।
82. मार्कण्डेय महापुराण : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2005।
83. याज्ञवल्कयस्मृति : मिताक्षता टीका, निर्णय सागर प्रेम, बम्बई, 1926।
84. वशिष्ठ धर्मसूत्र : विद्यामुद्रा क्षरशाला, कुंभकोणम्, 1995 वि.।
85. बृहस्पतिस्मृति : के. वी. रंगस्वामी आर्यगर, बड़ौदा, ओरियन्टल इंन्टीट्यूट, 1941।
86. शतपथ ब्राह्मण : अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, 2012 वि. स.।
87. उपाध्याय, बलदेव : धर्म और दर्शन, शारदा मन्दिर, काशी, 1961।
88. शुक्रनीति : खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 2012 वि. सं.।
89. उपाध्याय, भगवत् शरण : भारतीय संस्कृति की कहानी, पी. पी. हाउस, नई दिल्ली।
90. उपाध्याय, भगवत् शरण : भारतीय संस्कृति के स्रोत, पी. पी. हाउस, नई दिल्ली, 1973।
91. उपाध्याय, अम्बिकादत्त : हिन्दू धर्म और आचार, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
92. गाँधी, महात्मा : वर्णव्यवस्था, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद 1959।
93. गोयल, द्वारिकादास : भारतीय समाज और संस्कृति, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल, 1969।
94. चतुर्वेदी : वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना 1960।
95. जैन, के. सी. : प्राचीन भारतीय समाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, 1976।
96. जौहरी, मनोरमा : प्राचीन भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी 1969।
97. मिश्र, हृदय नारायण : धर्मदर्शन परिचय, नया हिन्द प्रेस, इलाहाबाद, 1983-84।

98. मसीह, याकूब : धर्मदर्शन- प्राच्य एवं पाश्चात्य, पटना, 1963।
99. देवराज : भारतीय संस्कृति, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उ. प्र.।
100. वेदालंकार प्रशान्त कुमार : वैदिक साहित्य में नारी, दिल्ली, 1964।
101. डॉ. विमल कीर्ति : थेरीगाथा, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. प्रथम 2003।
102. पंडिता रमाबाई : हिन्दू स्त्री का जीवन (अनु. शंभु जोशी), संवाद प्रकाशन।
103. विवेकानन्द भारतीय नारी : रामकृष्ण मठ, नागपुर, उन्नीसवाँ सं. 2003।
104. राधाकुमार : स्त्री संघर्ष का इतिहास- वाणी प्रकाशन, द्वितीय सं. 2004।
105. विमला मेहता : आज की महिलाएँ- पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1975।
106. कुसुम त्रिपाठी : समाजवादी देशों की महिलाएँ- एक सिंहावलोकन, संगिनी प्रकाशन, मुम्बई, 2007।
107. विनोबा : स्त्री शक्ति जागरण- संपा-शीला- परंधाम प्रकाशन- पवनार- 1999।
108. डॉ. मनमोहन शर्मा : भारतीय संस्कृति और साहित्य- चित्रगुप्त प्रकाशन, पुरानी मन्डी, अजमेर, 1967।
109. सरला माहेश्वरी : नारी प्रश्न- राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1978।
110. डॉ. के. एम. मालती : स्त्री विमर्श- भारतीय परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, 2010।
111. बलदेव वंशी : भारतीय नारी सन्त परम्परा- वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, 2011।
112. संस्कार अंक : कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, उ. प्र.।
113. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी : वेदों में नारी- विश्व भारती अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर (भदोही), उ. प्र, चतुर्थ संस्करण, 2005।
114. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य : नारी की महानता- युग निर्माण योजना प्रेस, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, उ. प्र., 2006।
115. आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय : काशी के विद्यारत्न संन्यासी- विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, उ. प्र., प्रथम संस्करण 2008।
116. या. मसीह : तुलनात्मक धर्म-दर्शन- मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी, उ. प्र., प्रथम संस्करण 1985।
117. गोविन्द चन्द्र पाण्डे : ऋग्वेद (तीसरा, चौथा एवं पांचवां मण्डल)- लोकभारती पुस्तक विक्रेता, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2008।
118. नारी अंक : कल्याण- गीता प्रेस, गोरखपुर, उ. प्र., 2053 वि. सं.।
119. बलदेव वंशी : भारतीय नारी सन्त परम्परा- वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011।

120. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य : इक्कीसवीं सदी- नारी सदी- अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, उ. प्र., द्वितीय संस्करण 1998।
121. डॉ. रामजी मिश्र : रामानुजाचार्य और उनकी परम्परा- मधूलिका प्रकाशन, राजरूपपुर, इलाहाबाद, उ. प्र., प्रथम संस्करण 2004।
122. डॉ. राजबली पाण्डेय : हिन्दू संस्कार- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, उ. प्र., 2006।
123. डॉ. भारती आर्य : स्मृतियों में नारी- विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर (भदोही), उ. प्र., द्वितीय संस्करण 2007।
124. डॉ. शिवस्वरूप सहाय : प्राचीन भारतीय धर्म- मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1996।
125. डॉ. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत- विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उ. प्र., 2006।
126. के. सी. श्रीवास्तव : प्राचीन भारत की संस्कृति- यूनाइटेड बुक डिपो, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद, उ. प्र., 1985।
127. डॉ. शिवदत्त ज्ञानी : वेदकालीन समाज- चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी, उ. प्र., द्वितीय संस्करण 1996।
128. बुद्ध प्रकाश : भारतीय धर्म एवं संस्कृति- मीनाक्षी प्रकाशन, बेगम ब्रिज, मेरठ, उ. प्र., 1988।
129. डॉ. कर्ण सिंह : हिन्दू दर्शन- भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1996।
130. डॉ. महेन्द्र शेखावत : आधुनिक चिन्तन में वेदान्त- मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ एकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण 1973।
131. डॉ. एस. एन. दास गुप्ता : भारतीय दर्शन का इतिहास- राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, राजस्थान, प्रथम संस्करण 1973।
132. रामायण प्रसाद शर्मा : भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था का सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विश्लेषण, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, 1987।
133. कुसुम त्रिपाठी : समाजवादी देशों की महिलाएँ- एक सिंहावलोकन, संगिनी प्रकाशन, मुम्बई, 2007।
134. जगदीश चतुर्वेदी : स्त्री अस्मिता- साहित्य और विचारधारा, आनन्द प्रकाशन, कोलकाता, 2002।
135. विमला मेहता आज की महिलाएँ- पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1975।
136. डॉ. बलराम पाण्डेय : संन्यास ग्रहण पद्धति- चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, उ. प्र., वि. सं. 2065।

अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित ग्रंथ

1. डॉ. अल्तेकर एस. ए. : पोजीशन ऑफ वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, 1989।
2. शर्मा बी. एन. : सोशल लाइफ लाईन, नार्दन इण्डिया, 1993।
3. The Vedanta-Sutra : शंकराचार्य, with the comment of Shankara Charya Introduction and Eng. In. by Thibaut Vol.2 S. B. E.
4. The Brahma Sutras : शंकराचार्य, with the comment of Shankara Charya, Ch-2, Parts-1&2 with Eng. Jr. S. K. Belvalkar, 2nd Ed. Poona, 1931।
5. Achoyottan, M. : Educational Practices in Manu, Panini and Kautilya, Trivandram, 1974.
6. Agrawals, V. S. : India as Described by Manu, Prithwi Prakashan, Varanasi, 1970.
7. Aiyangar, K. V. R. : Aspect of Hindu view of life according to Dharmasastra, Baroda, 1952.
8. Altaker, A. S. : Sources of Hindu Dharm in its socio-Religious Aspects, Sholapur, 1952.
9. Banerjee, N. N. : Manu and Modern Times, Hindutva Publication, 1977.
10. Banerjee, S. C. : Dharmasastras Studies in their Origin and Development, Calcutta, 1962.
11. Basu, Jogiraja : India in the Age of the Brahmans, Calcutta, 1963.
12. Das, R. N. : Women in Manu and his Seven Commentator, Varanasi, 1942.
13. Das, S. K. Rigvadic India, Calcutta, 1921.
14. Mishra, Laxmi Educational of Women in India, 1921-1966, Calcutta, Macmillan and Co., 1966.
15. Vyas, K. C. Social Renaissance in India, Bombay, 1957.

पत्र-पत्रिकायें

कल्याण	–	नारी अंक। बाईसवें वर्ष का विशेषाँक, सं. 2053।
भारती	–	श्री मथुरा नाथ शास्त्री (सं.) जयपुर।
सागरिका (त्रैमासिक)	–	प्रो. रामजी उपाध्याय (सं.) सागर, म. प्र.।
समाज विकास (मासिक)	–	अखिल भारत वर्षीय सम्मेलन, कोलकाता।
हरि भक्त (त्रैमासिक)	–	आचार्य कृष्णदत्त शर्मा, पटेल नगर, दिल्ली।
सिद्धाश्रम पत्रिका (मासिक)	–	भगवती मानव कल्याण संगठन, शहडोल, म. प्र.।
वेदान्त केसरी (मासिक)	–	श्रीरामकृष्ण मठ, चेन्नै।
सम्यक् विचार- मंच	–	बुद्ध विशेषाँक, मदनगीर, नई दिल्ली।
सद्मार्ग (मासिक)	–	सद्मार्ग राष्ट्रीय प्रकाशन, लक्ष्मी नगर, दिल्ली।
योग संदेश (मासिक)	–	नारी व आंदोलन (विशेषांक), दिव्य योग मंदिर, (ट्रस्ट), हरिद्वार।
कल्याणिका (मासिक)	–	श्री कल्याण सेवा आश्रम, अमरकंटक, म. प्र.।

जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री, 1948।

जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता।